जैनागम सारांश

भाग १

आचार शास्त्र

वरिष्ठ स्वाध्यायी तत्त्व चिंतक
"जिन शासन रत्न"
विमल कुमार नवलखा

जैनागम सारांश

32 जैन आगमों का हिन्दी में (चित्र एवं चार्ट सहित)

(भाग-1 आचार शास्त्र विभाग)

प्रेरणा पुंज

गणाधिपति महास्थविर विद्धद्वर्य ***श्री शान्तिमुनिजी म.सा.***

शासन गौरव, प्रज्ञानिधि, ***आचार्यप्रवर श्री विजयराजजी म.सा.***

की 50वीं दीक्षा जयंति (स्वर्ण जयंति) वर्ष के पावन शुभअवसर पर

मार्गदर्शक

आगम ज्ञाता विद्धद्वर्या बहिन साध्वी युगल

महासती ***श्री शीलप्रभाजी म.सा.*** **की 31वें दीक्षा वर्ष उपलब्धि एवं**

महासती श्री ***सत्यप्रभाजी म.सा.*** **की 25वीं दीक्षा जयंति (रजत जयंति) वर्ष के शुभअवसर पर**

लेखक एवं संपादक

विमल कुमार नवलखा (जगपुरावाला)

29-30-31, चिराग रेसिडेन्सी, कीम (पूर्व)

जिला-सूरत (गुज.)

मो. : 9426883605 e-mail : vimalnavlakha54@gmail.com

प्रकाशक

नवकार इन्टरनेशनल (नवलखा ग्रुप)

एक्सपोर्ट हाउस, अहमदाबाद (गुज.)

पुस्तक	-	जैन आगम सारांश
		(भाग-1) आचार शास्त्र विभाग
संप्रेरक	-	गणाधिपति महास्थविर विद्वद्वर्य **श्री शान्तिमुनिजी म.सा.**
		शासन गौरव, प्रज्ञानिधि, **आचार्यप्रवर श्री विजयराजजी म.सा.**
प्रेरणा एवं मार्गदर्शक	-	बहिन साध्वी युगल **श्री शीलप्रभाजी म.सा. एवं श्री सत्यप्रभाजी म.सा.**
लेखक	-	विमल कुमार नवलखा
प्रकाशक	-	नवकार इन्टरनेशनल (नवलखा ग्रुप)
पुस्तक प्राप्ति	-	विमल कुमार नवलखा
		29-30-31, चिराग रेसीडेंसी, कीम (पूर्व), सूरत (गुज.)
मुद्रक	-	स्वदेशी ऑफसेट, उदयपुर (राज.)-313001
		E-mail : swadeshioffset@gmail.com
		Mo. : 09784845675
मूल्य	-	ज्ञानार्जन

शुभ–आशंषा

– आचार्य श्री विजय गुरूदेव

वचनों का सार प्रवचन है, प्रवचनों का सार आगम है, आगमों का सार क्या है ? इस सवाल के जवाब में गुरू फरमाते हैं–अनुभव सम्मत आचरण ही आगमों का सार है, आगम दूध की तरह होते हैं, दूध के हर अंश में मलाई है मगर वह दूध के अंश जितनी ही है। जब सम्पूर्ण दूध को मथते है तो दूध के सारे अंशों से मलाई का हिस्सा निकलता है मगर जितना दूध है उतनी मलाई नहीं होती, उस मलाई में दूध का सारा भाग आ जाता है वैसे आगमों का सार आचरण है। उस आचरण में आगम का सम्पूर्ण सार आ जाता है, बस अपना आचरण आगम सम्मत हो और अनुभव सम्मत हो, उस आचरण को आगम सम्मत बनाने के लिए विद्वान्, श्रुत आराधक भाई विमल जी नवलखा वर्षों से प्रयत्नशील है। समय–समय पर आप अपनी प्रतिभा से आगमों के सारांश को प्रस्तुत करते रहे हैं। आप हमारे संघ की साध्वीरत्ना महासती श्री शीलप्रभा जी म.सा., महासती श्री सत्यप्रभा जी म.सा. के सांसारिक अग्रज भ्राता है। महासतीद्वय भी प्रतिभाशाली है और प्रवचनों व लेखन के माध्यम से साहित्यश्री की अभिवृद्धि में सतत पुरूषार्थरत रहती है।

श्रीमान् नवलखा सा. अपनी योग्यता व प्रतिभा से शासन सेवा में समर्पित रहे यही अंतरंग आशा व अभिलाषा है।

अनुमोदना

अनन्तकाल से जीव जड़ के संयोग को अपनत्व समझकर मोहपाश में बंधकर, चार गति चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। पुण्य से बंधन में वह देव एवं मनुष्य गति में तथा पापाचरण के कारण तिर्यंच एवं नरकायु को भोगता है। अज्ञान, मोह, कषाय, मिथ्यात्व के कारण यह परिभ्रमण अनवरत चला आ रहा है।

आत्म तत्त्व के बारे में चिंतन हुआ ही नहीं क्योंकि इतने पुण्यायु बंधी पुण्य का संग्रह भी शायद हुआ नहीं कि मनो भावनाएं उस ओर प्रगति कर सके। मनुष्य भव अति दुर्लभ है और ''चतुरंगाणि परमंगाणि'' के न्याय स्वरूप आत्म तत्त्व की ओर हो गया, वह मानो भव सागर तिरने की कगार पर आ गया।

आगम बत्तीसी के 32 आगमों में सम्यग ज्ञान, दर्शन चरित्र एवं तप का विशद विश्लेषण किया गया है, निगोद से मोक्ष तक की जीवन यात्रा का स्वरुप तात्त्विक रुप से समझाया गया है, चतुर्विध संघ के आचार-विचार, व्यवहार को दिग्दर्शित किया गया है, इनको आचार शास्त्र विभाग, उपदेश एवं धर्म कथा शास्त्र विभाग एवं तत्त्वज्ञान शास्त्र विभाग में संयोजन करके गंभीर विषय को सरलता से संक्षिप्त सारांश रुप देकर उत्कृष्ट कार्य किया है।

हमारे सांसारिक अग्रज भ्राता श्री विमल कुमारजी नवलखा वरिष्ठ स्वाध्यायी हैं और आगम आदि पठन-पाठन में गाढ़ रूचि रखते हैं, पूर्व में आगम बत्तीसी सारांश (हिन्दी संस्करण), पर्युषण में प्रवचनोपयोगी 'अन्तर्मन के मोती' थोकड़ों के लिए जैन तत्त्व दर्शन, जैन आगमों में मध्यलोक, संलेखना संथारा जैनागमों में लोकस्वरूप आदि का विशिष्ट संकलन कर समाज को लाभान्वित कर स्वयं की आत्मा को भावित करते आ रहे हैं, यह हमारे लिए भी गौरवपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रंथ ''जैनागम सारांश'' चार भागों में प्रकाशित कराया है, बहुत मनोहर है, चित्र एवं चार्ट आदि से वस्तु तत्त्व को अच्छी तरह से समझाया गया है, हमने भी इनका अवलोकन किया कार्य स्तुत्य है, हम अनुमोदना प्रेषित कर भावी जीवन की आध्यात्मिक मंगल कामना करते हैं।

बहिन साध्वी द्वय

दिनांक : 1 जून, 2024 **शीलप्रभा एवं सत्यप्रभा**

आचार्य शिवमुनि

मंगल संदेश

समस्त जिनवाणी का सार एक शब्द में कहे तो 'मैं जीवात्मा हूँ।' आत्मा को केन्द्रिभूत रखकर समस्त तीर्थंकर जिनवाणी प्रदान करते है। जीव मात्र के कल्याण के लिए तीर्थंकर देशना प्रदान करते है।

जीव का मिथ्या दर्शन है की वह अपने को छोड़कर अजीव तत्व को, पर तत्व को, देह को अपना मानकर, देह के लिए विभाव में जाता है और अपना स्वभाव छोड़कर कर्त्ता-भोक्ता बनता है, क्रिया-प्रतिक्रिया करता है, कषाय की उत्पत्ति करता है और चार गति चौरासी लाख जीवायोनि में यात्रा कर रहा है।

जीव में अष्ठ गुणों की सम्पदा होते हुए भी प्रकट नहीं रही, उसका मूल कारण है मिथ्या दर्शन। जो सब पापों का मूल है, आस्रव का मूल कारण है। सभी तीर्थंकरों ने सम्यक्त्व का, सत्य का बोध करवाया, जीव को उसके स्वरूप का बोध करवाया और उसमें स्थित होने की विधि प्रदान की।

अस्तित्व का बोध, उस पर श्रद्धा, भेद-विज्ञान व आत्म स्थिरता ये मोक्ष मार्ग की सीढ़िया है। आत्मार्थी साधकों को इस विधि का प्रयोग करते हुए आत्म ध्यान के प्रयोग सीखकर भेद-विज्ञान प्राप्त कर क्षायिक सम्यक्त्व का पुरूषार्थ करते हुए केवल ज्ञान की ओर बढ़ना चाहिए। मिथ्यात्व व मोह का त्याग, वैराग्य के द्वारा वीतरागता की ओर बढ़ते जाए।

जिनवाणी का पारायण करते हुए 32 आगमों के नवनीत को वरिष्ठ स्वाध्यायी जिनशासन रत्न श्री विमलकुमार जी नवलखा द्वारा जैनागम सारांश चार भागों में प्रकाशित होने जा रहा है। आपका उत्तम पुरूषार्थ अनुमोदनीय है, प्रशंसनीय है। जिनवाणी रसिक चतुर्विध संघ से अनुरोध है आगम सारांश का स्वाध्याय कर हेय, ज्ञेय, उपादेय को ध्यान में रखकर आत्म कल्याण के क्षेत्र में आगे बढ़े।

सहमंगल मैत्री,

दिनांक -: 11-04-2024
स्थान -: आत्म भवन, अवध संगरीला, सूरत (गुजरात)

शिवमुनि
(आचार्य शिवमुनि)

www.jainacharya.org
shivacharyaji@yahoo.co.in
09350111542
http://www.facebook.com/shivmuni
http://www.twitter.com/jainacharya
http://acharyashivmuni.blogspot.in/
http://www.youtube.com/jainacharyaji
JAINACHARYA

लेखक के दो शब्द

परम पूज्य, परम कृपालु, देवाधिदेव, चरम तीर्थंकर, भगवान महावीर स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त कर सतत् परोपकार में रहकर धर्मदेशना रूपी अमृत का दान जगत के जीवों के लिए किया।

केवलज्ञान से सर्व अर्थों को जानकर उसमें जो प्रज्ञापनीय अर्थ हैं, उन्हें प्रभु फरमाते हैं। गणधर भगवंत उस ''आगम वाणी'' को झेलकर सूत्र रूप गुंथित करते हैं, यह सूत्र रूप रचित पदार्थ यानि श्रुतज्ञान।

जगत में दो प्रकार के पदार्थ हैं, (1) अनभिलाप्य (नहीं कह सकने वाले) (2) अभिलाप्य (कह सकने वाले)। जो कहे जा सकें उनके भी दो विभाग हैं (1)अप्रज्ञापनीय (जो समझाये (बताये) न जा सके) (2) प्रज्ञापनीय (बताये या समझाये जा सके)।

अभिलाप्य पदार्थों से अनभिलाप्य पदार्थ अनंत हैं, अभिलाप्य कम हैं, थोड़े हैं, अप्रज्ञापनीय उनसे भी कम हैं, प्रज्ञापनीय पदार्थ अल्प हैं, फिर भी यह अल्पता अत्यन्त विशाल है। ऐसे अभिलाप्य-प्रज्ञापनीय पदार्थों का संग्रह यानि ''आगम ग्रंथ''।

आगम यानि समुद्र का मंथन जिनका अवगाहन दुष्कर, अति दुष्कर है। सामायिक से लेकर बिन्दुसार नामक 14वें पूर्व तक श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है, और चारित्र का सार मुक्ति (मोक्ष) सुख है।

अगाध जलराशि से परिपूरित समुद्र में से रत्न खोजना अति कठिन, दुष्कर कृत्य है, फिर भी उस महाभयावह वारिधि में से भी रत्न जिज्ञासु खोजने के लिए तत्पर होकर रत्नों की प्राप्ति कर ही लेते हैं। तलस्पर्शी अभ्यास करने वाले महान् आत्मार्थी मनीषियों ने ''आगम भंडार'' वाचकों के समक्ष रखकर महान् उपकार किया है।

तत्त्वरूपी ''रत्न'' ये आगम ग्रंथ हमारे समक्ष विद्यमान हैं, उपकारियों ने शास्त्रों के माध्यम से ''अदृष्ट जगत'' के दर्शन कराकर हम पर उपकार किया है।

जैन शासन के चारों अनुयोग द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग का एक महान् संकलन आगम सारांश में कर दिया है। इस ज्ञानार्णव को विषय प्रतिपादन कौशल्य से 4 विभागों में विभक्त कर, समस्त विषय का सम्पूर्ण विवेचन पूर्वक वर्णन इस में किया है।

तत्त्वज्ञान अत्यंत जटिल विषय है, फिर भी चार्ट आदि एवं चित्रादि के माध्यम से सरल पठनीय शैली से सम्पादन करने की कोशिश की है।

सम्पूर्ण लोक के समस्त पदार्थों का समुचित दिग्दर्शन जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि जगत के तत्त्वों, पदार्थों को एक ग्रंथ में समाकर ''गागर में सागर'' की युक्ति को कृतार्थ की है।

विषय वस्तु- जैनागमों में विस्तृत एवं यत्र तत्र बिखरे पुष्पों को एकत्रित कर विषयानुकूल सम्पादन करने की चेष्टा करते हुए आचार, संस्कार, उपदेश, कथाशास्त्र एवं तत्त्वज्ञान को इस ग्रंथ में यथास्थान प्रस्तुत किया है। सभी का पारस्परिक

संयोजन होने से एक दूसरे की वक्तव्यता में एक दूसरे का संदर्भ भी आवश्यकतानुसार दिया है। पाठकों को संदर्भ की उचित जानकारी हो सके यही मंतव्य रहा है।

32 जैनागमों का विस्तृत वर्णन पढ़कर, उनमें से सार रूप ग्रहण कर पाठकों के समक्ष रखना, और उसे सुरुचि, पूर्व बनाना यह अत्यन्त दुष्कर था. परन्तु ''जहाँ चाह वहां राह'' की उचित को चरितार्थ करते हुए यह कदम उठाया और वर्षों तक रही हुई लालसा को पूर्ण किया।

सन् 1987 से 1992 तक के पांच वर्षों में श्रद्धेय त्रिलोक मुनि ने अति परिश्रम करके मेरे इस भगीरथ कार्य को पूर्ण किया था, उनेक स्वर्गवास के पश्चात पुनः इसकी जरूरत महसूस हुई, और इस कार्य को नवीनतम रूप देकर चित्रों एवं सारणियों, चार्टो का समावेश करके इस आगम सारांश लेखन को पुनः गतिमान किया, इस ज्ञान गंगा को सर्वत्र पहुंचाने एवं इस आगम रस से आप्लावित करने के इस पुण्योपार्जन में मेरी सुज्ञा बहिन साध्वि द्वय परम् विदुषी श्रद्धेय शील प्रभाजी म.सा. एवं आगम ज्ञाता पंडित रत्न श्री सत्य प्रभाजी म.सा. विशेष योगदान रहा, चित्र, सारणियों, चार्ट ये सभी उन्हीं की आगम ज्ञान पिपासा की झलक है।

महास्थविर गणाधिपति, प्रकांड पंडित, आगम मर्मज्ञ, विद्वदवर्य श्री शांति मुनि जी म.सा. एवं शासन गौरव, प्रज्ञानिधि, जिन शासन के अनमोल रत्न आचार्य प्रवर श्री विजयराज जी म.सा. के आशीर्वाद एवं प्रेरणा से आगम सारांश का लेखन, सम्पादन का कार्य बड़ी ही उमंग, उत्साह से प्रारंभ किया और सभी गुरूजनों के ज्ञान प्रकाश तले यह कार्य उत्तरोत्तर करता रहा।

32 आगमों की विषय वस्तु को मैंने 3 भागों में विभक्त करने का प्रयास किया **यथा–** 1.आचार शास्त्र विभाग, 2. उपदेश एवं कथा शास्त्र विभाग 3. तत्त्व ज्ञान विभाग। तत्त्वज्ञान विभाग अत्यन्त विस्तृत होने से इसे दो भागों में विभक्त किया। इस प्रकार 4 भाग बनाये गये। यथा-

1. आचार शास्त्र विभाग– आचारांग सूत्र आवश्यक सूत्र एवं चार छेद सूत्रों के साथ दशवैकालिक सूत्र तथा चूलिकाएं एवं सूत्रकृतांग सूत्र का समावेश कर इनके परिशिष्टों के साथ संयोजन करके लेखन सम्पादन किया, इससे साधु-साध्वियों के आचार आदि का विस्तृत प्रथम भाग में नियोजन किया गया है। पासत्थादि का विवेचन देकर प्रथम भाग को सुरुचि पूर्ण बनाया है। सर्वप्रथम आचारांग सूत्र एवं उसके परिशिष्ट, आवश्यक सूत्र एवं उसके परिशिष्ट तथा 4 छेद सूत्र उनके परिशिष्ट और साथ में पासत्थादि, नियंठा स्वरूप आदि का समावेश कर विस्तृत एवं रोचक तथा शास्त्रीय प्रमाणादि देकर सुरूचिपूर्ण बनाया।

2. उपदेश एवं कथा शास्त्र विभाग– यह विस्तृत सूत्रों का विभाग है, इसमें, अंग, उपांग एवं मूल सूत्रों का संयोजन करके नंदी सूत्र की कथाएं, परिशिष्ट आदि देकर अत्यंत रोचक पठनीय, मननीय, उपदेशात्मक बनाया है। उपासक दशा अन्तकृत दशा जैसे उपदेशी सूत्रों का संकलन चतुर्दिध संघ के लिए अप्रतिम भेंट स्वरूप विभाग प्रदान करने की भरपूर कोशीश की है। इस भाग में नन्दी सूत्र इसकी कथाएं अनुयोग द्वार सूत्र आदि मूल सूत्रों के साथ औपपातिक सूत्र, राजप्रश्नीय एवं 5 उपांग सूत्रों के साथ, ज्ञाता धर्म कथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र, अनुत्तरोपपातिक आदि अंग सूत्रों का महा समायोजन करके 15 सूत्रों का सारांश लिखकर, पर्युषण सम्बन्धी रोचक व्याख्यान सामग्री अन्तकृत सूत्र के साथ देकर इस ग्रंथ भाग को जिज्ञासा मय बनाया है।

3. तत्त्वज्ञान विभाग खण्ड-1 इसमें उत्तराध्ययन सूत्र, अंग सूत्रों में से ठाणांग एवं समवायांग आदि गणितीय सूत्रों का समावेश करके उपांग सूत्रों में से जम्बूद्वीप प्रज्ञाप्ति, ज्योतिषगण राज प्रज्ञप्ति (चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति) एवं जीवाजीवाभिगम सूत्र का विवेचन विस्तृत करके चार्ट एवं चित्रादि देकर अति रोचक पठनीय बनाया है। भ्रान्तियां निवारण करने, द्विअर्थी शब्दों, नक्षत्र भोजन आदि के बारे में निराकरण करके स्वमत स्थपित किया है। गुणस्थान प्रकरण देकर इस भाग को अति रोचक बनाया है।

4. तत्त्वज्ञान विभाग खण्ड-2- इस विभाग में प्रज्ञापना सूत्र, भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) सूत्र जैसे अति विशाल सूत्र शास्त्रों का दोहन करके तत्त्वज्ञान जैसे अपार ज्ञान भंडार को श्री संघ के सम्मुख पठनीय, मननीय, ज्ञेय बनाकर प्रस्तुत करना महान् चुनौति भरा कार्य था, इसलिए इस चौथे खण्ड को पूर्णतः अलग करके अलग ग्रंथ रूप देने का विचार करके, इसे अति भव्य बनाने के लिए चार्ट एवं चित्रादि देकर इसे साधु-साध्वी एवं अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों, पी.एच.डी. तथा डॉक्टरेट (D.Lit.) करने वाले भव्य जनों के लिए अति सरल एवं सरस पाठ्य सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका श्रेय मेरी अत्यन्त आदरणीय सुज्ञ आगम मर्मज्ञ विदुषी साध्वी रत्ना बहिन द्वय श्री शीलप्रभाजी म.सा. एवं सत्यप्रभाजी म.सा. को देता हूँ, जिनके अथक परिश्रम, मार्गदर्शन एवं सत्प्रेरणा से अत्यंत सुलभ हो गया, जिससे सागर को गागर में भरकर विद्वान पाठकों के समक्ष रख सका।

आगम सूत्रों की विषय वस्तु की गहनता, अनेकार्थता को सुगम्य बनाने हेतु आवश्यकतानुसार परिशिष्ट देकर रोचकता और अर्थ ग्रहण को सुरुचि पूर्ण बनाने एवं द्वि अर्थ सूचक और अन्य मतावलम्बियों के प्रक्षिप्त संदेहात्मक शब्द रचनाओं को भी पारदर्शक और स्वमतानुसार बनाने का भी श्रम किया। विवादास्पद शब्द रचनाओं के प्रति सजग रहते हुए कहीं कहीं कठोर शब्दों का प्रयोग करना पड़ा, उसके लिए मैं विद्वदवर्य पाठक गण से क्षमा प्रार्थी हूं। स्वमत रखने के लिए अन्य मत का या द्विअर्थी शब्द रचनाओं का खण्डन आवश्यक होता है। इसी को ध्यान में रखते हुए, स्वमत प्रतिष्ठित करने का प्रयास मात्र है।

विशालतम आगम साहित्य को संक्षिप्त और सरल हिन्दी भाषा में समस्त जन समुदाय के लिए उपयोगी बने, ऐसा विचार करके ये सारांश प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे पूर्व भी कई रचनाएं प्रस्तुत की पर्युषण पर्वराधना में स्वाध्यायियों के लिए उपयोगी 'अन्तर्मन के मोती' थोकड़ो के लिए उपयोगी 'जैन तत्त्व दर्शन' भाग 1 एवं 2, 'जैनागमो में मध्यलोक' भूगोल संबंधी, 'जैनागमों में लोक स्वरूप' भाग 1 एवं 2 लोक द्रव्य क्षेत्र काल भाव का दिग्दर्शन करने हेतु, जैनागमों में उत्कृष्ट एवं संलेखना संथारा ये रचनाएं समाज के समक्ष रखते हुए अत्यधिक आनन्द का अनुभव हुआ।

उक्त नवीन रचना जैनागम सारांश 4 खण्डों में प्रस्तुत कर आप सभी के समक्ष रखते हुए अपार आनन्द और हर्ष की अनुभूति हो रही है, मानो वत्स अपने अभिभावकों के श्री चरणों में पुष्प अर्पित कर रहा है।

इस आगम सारांश रचना को अध्ययन करते समय इसमें कोई त्रुटि नजर आये तो उसे सुधार कर पढ़ने का अनुनय करता हूँ और अल्पज्ञ समझ कर मेरी भूलों के लिए मुझे क्षमा करने का वृहद् हृदय रखें। जिनाज्ञा के विपरीत या विरूद्ध एक शब्द भी लिखने में आया हो तो अरिहन्त सिद्ध भगवन्तों की साक्षी से सभी से करबद्ध क्षमा याचना।

विमल कुमार नवलखा (जगपुरा)

कीम, पीपोदरा सूरत

प्रकाशन सहयोगी दान दाता

21000/- श्रीमान् रमेशचन्द्रजी सा. ओमप्रकाशजी सा. हीरालालजी सा. मांडोत, खमनोर, अंकलेश्वर

21000/- श्रीमान् गणपतलालजी सा. विशाल कुमारजी सा. भलावत, रायपुर (भीलवाड़ा) टिम्बा
श्रीमान् मनोहरलालजी सा. दिनेश कुमारजी सा. पंकज कुमारजी सा. आंचलिया, रायपुर, धोरण पारड़ी
श्रीमान् राजेन्द्र कुमारजी सा. संजय कुमारजी सा. चेतन कुमारजी सा. बोल्या, रायपुर, लाड़वी-मुम्बई, नेरोल

15000/- श्रीमान् सुरेश चन्दजी सा. दीपक कुमारजी सा. नाहर, लाम्बिया, ब्यावर, अंकलेश्वर

11000/- श्रीमान् जीवनसिंहजी सा. चण्डालिया, महाराणा परिवार, घासा, बारडोली

11000/- श्रीमान् सुरेश कुमारजी सा. जीवन सिंहजी सा. दिलीप कुमारजी सा. बाबेल, राशमी, कामरेज

11000/- श्रीमान् चन्द्रसिंहजी सा. प्रशांत कुमारजी सा. मयंक कुमारजी सा. बाबेल डूंगला, कामरेज

11000/- श्रीमान् गौतम कुमारजी सा.अर्पित कुमारजी सा. बोहरा, बर (ब्यावर), कोयम्बटूर

11000/- श्रीमती मदनबाई श्रीमान् मांगीलालजी सा. सौ. कल्पनाजी श्री कांतिलालजी सा. रांका, पूना

11000/- आगममर्मज्ञा डॉ. चेतनाजी म.सा. के पास अध्ययन रत विरक्ता कु. पूजा की ओर से

11000/- श्रीमान् धनराजजी सा. राजकुमारजी सा. समर्थ कुमारजी सा. भंडारी, अरेठ, बारडोली, ब्यावर

6000/- श्रीमान् अंकित कुमारजी सा. निशांत कुमारजी सा. कोठारी, रायपुर, भीलवाड़ा

5100/- श्रीमान् प्रकाशचन्दजी सा. पल्केशजी नमनजी सा. कटारिया, पाली मारवाड़

3000/- श्रीमान् प्रेमसिंहजी सा. शर्मिष्ठ कुमारजी सा. प्रशांत कुमारजी सा. बुरड़, बारडोली

2100/- श्रीमान् पारसमलजी सा. सचिन कुमारजी सा. मेहता, पाली मारवाड़

2100/- श्रीमती कंचन बाई स्व. श्री शांतिलालजी सा. कोठारी, देवगढ़, कामरेज

7500/- श्री जैन दिवाकर महिला परिषद्, चित्तौड़गढ़ (महासती जय श्रीजी म.सा. की प्रेरणा)
श्रीमती अंगूरबालाजी प्रेम कुमारजी सा. भड़क्त्या, अध्यक्ष, चित्तौड़गढ़
श्रीमती नगीनाजी राकेशजी मेहता महामंत्री, चित्तौड़गढ़
श्रीमती नीलमजी संदीपजी तरावत, उपाध्यक्ष, चित्तौड़गढ़
श्रीमती सीमाजी सुनीलजी सिपाणी कोषाध्यक्ष, चित्तौड़गढ़
श्रीमती पुष्पाजी छीतरमलजी चण्डालिया, चित्तौड़गढ

1500/- श्रीमान् ललित कुमारजी सा. स्व. श्री लक्ष्मीलालजी सा. भलावत, रायपुर, कीम

1500/- श्रीमती रेखाजी श्रीमान् मुकेश कुमारजी सा. अम्बालालजी सा. रांका, राजाजी का करेड़ा, अहमदाबाद

1500/- श्रीमती कंचनदेवीश्री किशनलालजी सा. विपिन कुमारजी सा. तातेड़, डिंडोली, चित्तौड़गढ़, थाणे, मुम्बई

1500/- श्रीमान् दिनेश कुमारजी सा. जैन, 8-वीर नगर, दिल्ली रोड मेरठ (यू.पी.)

1500/- श्रीमती मधुजी श्री प्रदीप कुमारजी सा. मठ्ठा, सेंती, चित्तौड़गढ़

1500/- श्रीमान् राजेन्द्रजी सा. पुखराजजी सा. कटारिया, बेलगाम (कर्नाटक)

1500/- श्रीमान् प्रकाशजी, पिंटू कुमारजी, प्रिंस कुमारजी कोठारी, देवगढ़, कामरेज

1500/- श्रीमती प्रेमलताजी श्रीमान् भोपालसिंहजी सा. सांखला, आरणी, कामरेज

1500/- श्रीमान् विनोद कुमारजी सा. नमन कुमारजी सा. दर्शन कुमारजी सा. बोरदिया, चेनपुरा, कीम

अनुक्रमणिका

I आवश्यक सूत्र

प्रस्तावना 1
प्रथम आवश्यक 5
दूसरा तीसरा आवश्यक 6
चौथा आवश्यक 7
गमनागमन प्रतिक्रमण 8
निद्रा, स्वप्नावस्था, गौचरी प्रतिक्रमण 9
स्वाध्याय प्रतिक्रमण 10
33 बोल 11
निर्ग्रंथ प्रवचन, श्रद्धान, नमन 11
सर्वजीव क्षमापना 12
पाँचवां आवश्यक 13
कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा 13
छठा आवश्यक 14
10 पच्चक्खाण 14
अंतिम मंगल उपसंहार 17
आवश्यक सूत्र से अतिरिक्त पाठ 18
(अन्य आगमों से संकलित)

परिशिष्ट 1

प्रतिक्रमण विधि 23
परिशिष्ट 2 अन्य आगमों से संकलित 24

परिशिष्ट 3

33 बोल विस्तार 24
7 भय, 10 श्रमण धर्म 17 संयम 24
10 श्रमण धर्म 25
17 असंयम 26
18 प्रकार का अब्रह्म 27
अणगार के 27 गुण 27
28 आचार प्रकल्प 27
21 पाप सूत्र 28
31 सिद्धों के गुण 28
32 योग संग्रह 29
33 आशातना 30

II दशवैकालिक सूत्र-

प्रस्तावना परिचय 32
प्रथम अध्ययन सूत्र 5 34
धर्म का महत्व 34
दूसरा अध्ययन सूत्र 6 34
त्यागी कौन 34
तीसरा अध्ययन 9 35
अनाचरणीय 35
चौथा अध्ययन 10 36
महाव्रतारोपण 36
पाँचवां अध्ययन 41 37
आहार विधि गवेषणा प्रथम उद्देशक 37
गौचरी द्वितीय उद्देशक 39
छठा अध्ययन 40
साध्वाचार 18 स्थान 20 सूत्र
सातवां अध्ययन 42
भाषा विवेक 22
आठवां अध्ययन 43
संयम तपाराधना 35
नवमां अध्ययन 46
विनय 46
प्रथम उद्देशक आशातना 46
दूसरा उद्देशक विनय 10 47
तीसरा उद्देशक पूज्य कौन 3 48
चौथा उद्देशक चार समाधि (4) 48
दसवां अध्ययन भिक्षु के गुण (19) 50

प्रथम चूलिका स्थिर चित्त 51
दूसरी चूलिका संयम चर्या 3
परिशिष्ट-1
ब्रह्मचर्य 21 52
परिशिष्ट-2
रात्रि भोजन निषेध 15 54
जीवनशिक्षाएं 56
परिशिष्ट-3
उपदेशी गाथाएं एवं अर्थ 57

III आचारांग सूत्र-
प्रस्तावना सूत्र परिचय 62
प्रथम श्रुत स्कंध
प्रथम अध्ययन 64
दूसरा अध्ययन 6 उद्देशक 65
तीसरा अध्ययन 4 उद्देशक 67
चौथा अध्ययन 4 उद्देशक 68
पाँचवां अध्ययन 6 उद्देशक 70
छठा अध्ययन 5 उद्देशक 72
आठवां अध्ययन 8 उद्देशक 73
नवमां अध्ययन 4 उद्देशक 75
द्वितीय श्रुत स्कंध 77
प्रथम अध्ययन 11 उद्देशक 77
दूसरा अध्ययन 80
तीसरा अध्ययन 81
चौथा अध्ययन 82
पाँचवां अध्ययन 83
6 से 8 अध्ययन 84
9 से 13 अध्ययन 85
14 एवं 15वां अध्ययन 86
16 वां अध्ययन 87
उपसंहार 88
परिशिष्ट

IV सूत्र कृतांग सूत्र-
प्रस्तावना 92
प्रथम श्रुत स्कंध
प्रथम अध्ययन-भिन्न-भिन्न मान्यताएं 94
दूसरा अध्ययन-दुर्लभ मानव भव 95
तीसरा अध्ययन-मोक्षार्थी साधक 96
चौथा अध्ययन-स्त्री परिग्रह 97
पांचवां अध्ययन-नरक योग्य दुःख 98
छठा अध्ययन-भगवान महावीर की स्तुति 98
सातवां अध्ययन-संगम साधना 99
आठवां अध्ययन-कर्म-अकर्म वीर्य 99
नवमां अध्ययन-साध्वाचार 100
दसवां अध्ययन-आत्म समाधि 101
ग्यारहवां अध्ययन-अहिंसा पालन 102
बारहवां अध्ययन-धर्म क्रिया 102
तेरहवां अध्ययन-सदाचार 103
चौदहवां अध्ययन-साध्वाचार, समाधि 103
पन्द्रहवां अध्ययन-उपदेशामृत 105
सौलहवां अध्ययन-सम्यक आचरण 106
दूसरा श्रुत स्कंध
प्रथम अध्ययन-धर्म में पराक्रम 106
दूसरा अध्ययन-कर्मबंध की क्रियाएं 107
तीसरा अध्ययन-आहार 108
चौथा अध्ययन-पापत्याग 110
पांचवां अध्ययन-एकान्त-अनेकान्तवाद 110
छठा अध्ययन-आक्षेप युक्त चर्या 111
सातवां अध्ययन-उदकपेढ़ाल गौतम स्वामी की चर्चा 112
परिशिष्ट
चुनिंदा उपदेशी गाथाएं एवं अर्थ 126

V चार छेद सूत्र-
प्रस्तावना 128
सूत्र परिचय 128
1 निशीथ सूत्र
प्रथम उद्देशक 138
दोषों की तालिका (58) 138
द्वितीय उद्देशक (57) 139
तृतीय उद्देशक (80) 141
चतुर्थ उद्देशक (128) 143
पांचवां उद्देशक (52) 145
छठा उद्देशक (28) 146
सातवां उद्देशक (92) 146
आठवां उद्देशक (18) 147
नवां उद्देशक (25) 148
दसवां उद्देशक (41) 148
ग्यारहवां उद्देशक (91) 149
बारहवां उद्देशक (44) 150
तेरहवां उद्देशक (78) 151
चौदहवां उद्देशक (41) 152
पंद्रहवां उद्देशक (154) 153
सौलहवां उद्देशक (52) 153
सत्रहवां उद्देशक 155) 154
अट्ठारहवां उद्देशक (73) 155
उन्नीसवां उद्देशक (35) 155
बीसवां उद्देशक (51) 156
परिशिष्ट-1
उत्सर्ग एवं अपवाद 158
(उद्देश्य 3 सूत्र 36)
परिशिष्ट-2
प्रायश्चित एवं अंगों की विचारणा 160
उद्देशक 20 सूत्र 1-14 160
परिशिष्ट-3
10 प्रकार के प्रायश्चित 163
परिशिष्ट-4
उपसंहार उद्देशक 20 166
प्रायश्चित स्थान 168

2. दशाश्रुत स्कंध सूत्र
प्रथम दशा 168
20 असमाधि स्थान 168
दूसरी दशा 169
21 सबल दोष 169
तीसरी दशा 170
33 आशातना 170
चौथी दशा 171
आठ संपदा 171
आचार्य के शिष्यों के प्रति कर्त्तव्य 172
पांचवीं दशा 173
10 चित्त समाधि के बोल 173
छठी दशा 173
11 श्रावक प्रतिमाएं 173
सातवीं दशा 174
12 भिक्षु प्रतिमाएं 174
प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम 175
आठवीं दशा 175
पर्युषणा कल्प (परिशिष्ट में विशेष) 175
नवमी दशा 176
30 महामोह के स्थान 176
दसवीं दशा 177
9 निदान 177
परिशिष्ट-1
आठवीं दशा का विकृत एवं विच्छेद होने का सम्प्रेक्षण 178
परिशिष्ट-2
दशा-3 183

विनय एवं आशातना का बोध 183

परिशिष्ट-3

दशा-4 आठ संपदावान आचार्यों का नेतृत्व 185

परिशिष्ट-4

दशा-4 आचार्य आदि प्रमुखों के कर्त्तव्य 186

परिशिष्ट-5

दशा-6 श्रावक की 11 प्रतिमाओं का विश्लेषण 188

श्रावक प्रतिमा भ्रम का निवारण 191

परिशिष्ट-6

दशा-7 भिक्षु प्रतिमा शंका समाधान 191

परिशिष्ट-7

दशा-7 भिक्षु प्रतिमा आसनों का स्पष्टीकरण 193

परिशिष्ट-8

दशा-10 निदान संबंधी तर्क वितर्क 194

परिशिष्ट-9

उपसंहार 195

3. वृहत्कल्प सूत्र

प्रथम उद्देशक (सूत्र 48) 196

दूसरा उद्देशक (30) 197

तीसरा उद्देशक (34) 198

चौथा उद्देशक (36) 200

पांचवां उद्देशक (50) 201

छठा उद्देशक (20) 202

परिशिष्ट-1

ताल प्रलंब पर विचारणा 203

वनस्पति की जातियां एवं विभाग 205

वृक्षों में जीव संख्या 205

बीज एवं फलों की अवस्था 207

बीजों का सचितकाल 208

तीन योनि 209

वृक्षों के दो विभाग 209

सारांश 209

परिशिष्ट-2

(उद्देशक 1 सूत्र 34) 211

कलह उत्पत्ति एवं उपशांति

परिशिष्ट-3

शौच एवं स्वाध्यायार्थ रात्रि में गमन विधि 212

परिशिष्ट-4

(उद्देशक-2 सूत्र 7) 213

रात्रि भर अग्नि या पानी रहने वाले स्थान

परिशिष्ट-5

(उद्देशक 2 सूत्र 4) 215

उतने दिन का प्रायश्चित मिथ्या कथन

परिशिष्ट-6

(उद्देशक 4 सूत्र 19) 216

दस कल्प और विकल्प

परिशिष्ट-7

(उद्देशक 4 सूत्र 20 से 28) 218

12 संभोग एवं उनका विवेक 218

प्रायश्चित 219

गच्छ परिवर्तन की आज्ञा 220

परिशिष्ट-8

(उद्देशक 5 सूत्र 10) 220

उद्गाल का विवेक 220

परिशिष्ट-9

(उद्देशक 5 सूत्र 46-48) 220

रात्रि में खाद्य पदार्थ रखना 220

परिशिष्ट-10

(उद्देशक 5 सूत्र 20-32) 221

साध्वी को आसन निषेध 221

परिशिष्ट-11

(उद्देशक 5 सूत्र 33-36) 221

आलंबन युक्त आसन विधि निषेध 221

परिशिष्ट-12
(उद्देशक 9 सूत्र 41-42-45) 222
स्व मूत्र प्रयोग 223
4. व्यवहार सूत्र
प्रथम उद्देशक सूत्र 33 224
दूसरा उद्देशक सूत्र 29 225
तीसरा उद्देशक सूत्र 29 225
चौथा उद्देशक सूत्र 32 227
पाँचवां उद्देशक सूत्र 21 228
छठा उद्देशक सूत्र 11 229
सातवां उद्देशक सूत्र 26 230
आठवां उद्देशक सूत्र 17 231
नवां उद्देशक सूत्र 46 232
दसवां उद्देशक सूत्र 37 232
परिशिष्ट-1
संघ व्यवस्था में पद 235
(उद्देशक 3 सूत्र 1-2)
गच्छ में गुणवानों का पद 237
(उद्देशक 2 सूत्र 25)
(उद्देशक 3 सूत्र 13)
सात पदवियां एवं उपयोगिता 237
आचार्य आदि की योग्यताएं 239
(उद्देशक 3 सूत्र 3-8)
आचार्य आदि के बिना का निषेध 242
(उद्देशक 3 सूत्र 11-12)
सारांश
आचार्य पद देने या हटाने का विधान 247
(उद्देशक 4 सूत्र 13)
परिशिष्ट-2
पाँच व्यवहार 249
(उद्देशक 10 सूत्र 3)
परिशिष्ट-3
नियंठा स्वरूप 251
छ' प्रकार के निर्ग्रंथ 251
छेदसूत्र परिशिष्ट खण्ड-1
संघ व्यवस्था में अध्ययन अध्यापन 262
सूचि संलग्न है 262
1 से 26
परिशिष्ट खंड-2
निशीथ सूत्र संबंधित विषय 297
सूचि संलग्न है 297
1 से 26

आवश्यक सूत्र

प्रस्तावना

संसार प्रवाह में परिभ्रमण करते हुए प्राणी को मानव देह प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे मानव देह को प्राप्त करने का श्रेष्ठ फल है व्रत प्रत्याख्यान धारण करना। कहा भी है-

देहस्य सारं व्रत धारणंच-

व्रत को धारण करने के बाद उनका शुद्ध रूप से पालन एवं आराधन करना भी साधक का परम कर्त्तव्य हो जाता है।

जीवन की सामान्य विशेष विविध परिस्थितियों में सूक्ष्म स्थूल अतिचार भी जाने अनजाने लगते रहते है उनकी शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है। प्रतिक्रमण के लिये अवलंबन भूत आगम आवश्यक सूत्र है।

नामकरण- अनुयोग द्वार सूत्र में श्रावक एवं श्रमण दोनों के लिये उभय संध्या अवश्य करणीयता कही होने से इसे आवश्यक सूत्र कहा गया है।

आगमों में स्थान- प्रतिक्रमण करना सभी श्रमणों का प्रमुख आचार होने से इस आवश्यक सूत्र का अंग प्रविष्ठ और अंगबाह्य आगमों से अलग ही महत्व शास्त्रों में निर्दिष्ट है। जहां श्रमणों के शास्त्र अध्ययन की जानकारी दी गई है वहां अंग शास्त्रों से भी इस आवश्यक सूत्र के अध्ययन का निर्देश पहले अलग किया गया है। नंदी में अंगबाह्य आगमों में आवश्यक को पहले अलग किया गया है फिर सभी अंग बाह्य आगमों को दो विभागों से एक साथ कहा गया है। इस प्रकार इस आवश्यक सूत्र का सभी आगमों से एक विशेष एवं अलग ही महत्वपूर्ण स्थान है।

इसे कठंस्थ करना प्रत्येक श्रमण एवं श्रमणोपासक के लिये आवश्यक होता है।

विशेषता- समस्त जैन आगम या तो कालिक होते हैं अथवा उत्कालिक होते हैं और उनके उच्चारण के काल अकाल दोनो होते हैं। वें 32 (34) अस्वाध्याय के समय उच्चारण नहीं किये जाते हैं। किन्तु आवश्यक सूत्र का काल अकाल नहीं होता है अर्थात सदा काल इस सूत्र का उच्चारण किया जा सकता हैं। 32 (34) अस्वाध्याय के समय इसका उच्चारण करना भी निषिद्ध नहीं होता है बल्कि सुबह शाम की संध्या काल रूप अस्वाध्याय के समय ही इस अवलम्बन भूत प्रतिक्रमण करने का विशिष्ठ समय आगम उत्तराध्ययन और अनुयोग द्वार सूत्र में सूचित किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि इस आगम के उच्चारण में शुचि, अशुचित्व समय, असमय आदि कोइ भी बाधा जनक नहीं होते हैं।

रचना और रचनाकार

आवश्यक सूत्र की रचना गणधर करते हैं एवं सभी तीर्थकरों के शासन के प्रारंभ में ही इस सूत्र की रचना की जाती है क्योंकि साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप तीर्थ स्थापन से तीर्थंकर का शासन प्रारंभ होता है और साधु साध्वी के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है। प्रतिक्रमण आवश्यक सूत्र के आधार से ही किया जाता है। अथवा सूत्र गणधर

रचित आगम है। इसमें 6 अध्याय हैं जिन्हें आवश्यक कहा जाता है । आवश्यक में कुल 1+1+1+9+1+10 = 23 तथा आदि मंगल और अंतिम मंगल पाठ मिलकर कुल 23+2 = 25 पाठ है जिनका परिमाण 125 श्लोक का माना जाता है। कहीं 100 या 200 श्लोक परिमाण भी कहा गया है।

संस्करण–

इस आवश्यक सूत्र नामक आगम पर निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीकाएं, (हरिभद्रीय, मलयगिरी, आदि) एवं विविध हिंदी, संस्कृत, प्राकृत व्याख्यायें मुद्रित उपलब्ध होती है।

इस सूत्र के मूल पाठ भी सुत्तागम आदि के रूप में प्रकाशित हुए हैं। आधुनिक ढंग से लाडनू से आचार्य तुलसी द्वारा संपादित एवं मुंबई विद्यापीठ से पूज्य मुनिराज श्री जम्बू विजयजी द्वारा संपादित प्रकाशित हुए हैं।

इस सूत्र केआधार से विविध विधि पाठों सहित तथा अनेक हिंदी गुजराती गद्य पद्य के रचित प्रक्षिप्त पाठों सहित प्रतिक्रमण सूत्र प्रचलित है। उसी की प्रमुखता से समाज में प्रतिक्रमण किया जाता है। इसके अनेको संस्करण प्रकाशित है और वे अनेक विविधता वाले हैं जिसका परिमाण 1000 श्लोकों से लेकर 5 से 7000 श्लोकों जितना भी हो जाता है जबकि आवश्यकसूत्र तो केवल 125 श्लोक प्रमाण है।

कई लोग प्रतिक्रमण सूत्र (विधि सहित)को ही आवश्यकसूत्र मान बैठते हैं किंतु आवश्यक सुत्र 125 श्लोक प्रमाण आज भी स्वतंत्र है। जो उपरोक्त लाडनू, मुंबई के संस्करण में देखा जा सकता है। उसमें केवल अर्ध मागधी भाषा के ही पाठ है। जबकि आवश्यक सूत्र के आधार से प्रचलित प्रतिक्रमण सूत्र में अन्य शास्त्रों के उद्धरित मूल पाठ भी है अन्य नए रचित मूल पाठ भी है साथ ही साथ हिंदी गुजराती के या मिश्रित भाषा के कहीं पाठ एवं दोहे, सवैये, भजन, स्तुति आदि भी सम्मिलित है।

आवश्यक सूत्र में केवल श्रमणोचित पाठ ही छहों अध्याय में उपलब्ध होते हैं। श्रावक प्रतिक्रमण के अन्याय पाठों का संकलन भाष्य टीका में आवश्यक सूत्र के अंत में दिया गया है। अनुयोग द्वार सूत्र में श्रावक को भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक कहा गया है।

इस प्रकार आवश्यक सूत्र प्रक्षेपों रहित शुद्ध रूप में आज भी उपलब्ध है। प्रक्षेप वृद्धि आदि सब स्वतंत्र प्रतिक्रमण सूत्रों में होता है। वह स्वतंत्र विधि सूत्र है जो आवश्यक के आधार से तैयार किया गया है। प्रतिक्रमण सूत्र के समान ही सामाजिक सूत्र भी प्रचलित है उसमें भी आवश्यक सूत्र के अन्याय अध्यायों में आए पाठों का एवं अन्य सूत्र से लाए गए पाठ का तथा नए रचित पाठ का संकलन किया गया है। इसी सामायिक सूत्र के आधार से सामायिक व्रत लेने की एवं पारने की पूर्ण विधि की जाती है। स्वतंत्र बने ऐसी सामायिक सूत्र और प्रतिक्रमण सूत्र को आगे परिशिष्ट रूप में दिया गया है।

उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी द्वारा संपादित श्रमण सूत्र और सामायिक सूत्र अनेक विवेचन चिंतन सहित प्रकाशित हुआ है। अन्य अनेक महत्व पूर्ण संस्करण इस सूत्र के प्रकाश में आए हैं। सारांश के प्रावधान में भी इस सूत्र को विविध परिशिष्टों के साथ तैयार किया गया है। मौलिक रूप में इस आगम आवश्यक सूत्र के 6 अध्यायों का सारांश एवं मूल पाठ रखा गया है। शेष सभी प्रकरणों को परिशिष्ट विभाग में दिया गया है।

प्रचलित श्वेतांबर परंपरा में इस सूत्र को अंतिम सूत्र बोला एवं बनाया जाता है 45 या 32 आगम में यह पेंतालीावां और बत्तीसवां सूत्र गिना जाता है।

समस्त आगमों में इस सूत्र की प्राथमिकता स्पष्ट है। इसीलिए इस सूत्र को व्यवहार भाषा में भी प्रथम नंबर में रखना चाहिए। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर सजिल्द संस्करण में हमने इस सूत्र को सबसे प्रथम स्थान देने का निर्णय रखा गया है।

1. जगत में आध्यात्म दृष्टि में वंदन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, गुण संपन्न आत्माओं को पांच पदों से वर्णन किया जाता है।
2. इन पांच के अतिरिक्त माता-पिता वय ज्येष्ठ, विद्या गुरु आदि भी लौकिक दृष्टि से वंदनीय होते हैं। उन का समावेश इन पांच पदों में नहीं है।
3. इन पांच पदों के अतिरिक्त आध्यात्म दृष्टि से और कोई भी वंदनीय नमस्करणीय नहीं होते हैं।
4. इन पांच पदों में अध्यात्म गुण संपन्न सभी आत्माओं का अपेक्षा से विभाजन किया है।
5. इन पांच पदों के उच्चारण से यह भी स्पष्ट होता है कि गुण संपन्न आत्माएं वंदनीय होती है, किंतु केवल गुणों को वंदनीय नहीं कहा जा सकता एवं गुण रहित केवल शरीर या आकृति को भी वंदनीय नहीं कहा जा सकता। आत्मा एवं आत्म गुणों से रहित जड़ फोटू एवं मूर्ति को भी भक्ति प्रधान व्यवहार में नमस्करणीय माना जाता है जो एक परंपरा मात्र है।
6. इसीलिए स्वतंत्र ज्ञानदर्शन आदि भी नमस्करणीय नहीं है एवं कोई फोटू मूर्ति भी वास्तव में वंदनीय नमस्करणीय नही है किंतु उस ज्ञान से संपन्न आत्मा और फोटू एवं मूर्ति वाली गुण संपन्न आत्माएं आध्यात्म दृष्टि से वंदनीय नमस्करणीय है ।
7. यह नमस्करणीय आत्माएं पांच पदों में इस प्रकार कही गई है।

1. अरिहंत-

तीर्थंकर भगवान जो केवल ज्ञान केवल दर्शन धारण कर मनुष्य शरीर में मनुष्य लोक में विचरण कर रहे हों, वे अरिहंत भगवंत है। उन्हें इस प्रथम पद में नमस्कार किया गया है। ये कम से कम 20 और अधिकतम 170 सम्पूर्ण मनुष्य लोक में एक साथ हो सकते है।

2. सिद्ध-

आठ कर्मों से रहित, मनुष्य देह छोड़कर जो मुक्त हो गए हैं, परमात्मा पद को प्राप्त हो चुके हैं, वे सभी अनंत आत्माएं सिद्ध भगवंत है उन्हें इस दूसरे पद में नमस्कार किया गया है। इसमें चौदह प्रकारे पंद्रह भेदे सभी प्रकार के सिद्धों को नमस्कार किया जाता है।

प्रथम पद वाले अरिहंत भी इन सभी सिद्धों को नमस्कार करते हैं क्योंकि सिद्ध अरिहंतों से आध्यात्म गुणों में महान् होते हैं।

सिद्धों के महान होते हुए भी लोक में धर्म प्रवर्तन की अपेक्षा, तीर्थ स्थापन की अपेक्षा, अरिहंत अति निकट उपकारी होने से उनको प्रथम पद में रखा गया है।

3. आचार्य-

जिन शासन में साधु साध्वी समुदाय के अनुशास्ता संघ शिरोमणि गुण संपन्न प्रतिभावान महाश्रमण आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किए जाते हैं। वे अपने निश्रागत (अधीनस्थ) श्रमण श्रमणियों के संयम गुणों के सच्चे संरक्षक होते हैं। इन्हें इस तीसरे पद में नमस्कार किया गया है।

4. उपाध्याय-

संघ में अध्यापन सुविधा एवं व्यवस्था के लिए शिष्यों को यथाक्रम से आगम अध्ययन कराने के लिए आचार्य के सहयोगी उपाध्याय नियुक्त किए जाते हैं। जो स्वयं आगमों के गहन अध्येता गीतार्थ तो बहुश्रुत होते हैं और आचार्य द्वारा अपने पास में नियुक्त शिष्यों को कुशलता के साथ योग्यता अनुसार अध्ययन कराते हैं। जिन शासन में आगम ज्ञान की परंपरा को प्रवाहित करने वाले ऐसे महाज्ञानीश्रमणो को चौथे पद से नमस्कार किया गया है।

5. साधु साध्वी-

आध्यात्म साधना में 18 पापों का पूर्णतया त्याग करके उसका सही रूप में पालन करने वाले, साधु साध्वी कहे जाते है। ये साधु साध्वी सामान्य एवं विशेष अनेक श्रेणी वाले हो सकते हैं। अल्पश्रुत और बहुश्रुत अथवा मनःपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी आदि सभी श्रमणों को इस पांचवे पद से नमस्कार किया गया है।

अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय इन तीनों पद वाले भी पूर्व में इस पांचवे पद में ही प्रवेश करते हैं किन्तु बाद में अपनी योग्यता एवं कार्य क्षमता से अरिहंत आदि पदों को प्राप्त करते है।

8. इन नमस्करणीय पांच पदो को मन वचन काया के द्वारा नमस्कार करने से पापों का, पाप कर्मों का नाश होता है अर्थात् अनेक कर्मों की निर्जरा होती है। यह पांच पदों को किया गया नमस्कार अलौकिक मंगल स्वरूप होता है अर्थात् लोकिक जो अनेक मंगल कहे जाते हैं, उन सभी मंगलों में यह नमस्कार रूप मंगल सर्वोच्च मंगल स्वरूप है। अतः हर मंगल की आवश्यकता के स्थान पर इन पांच पदों को नमस्कार करना चाहिये।

9. इस प्रकार यह पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र समस्त अध्यात्म गुण संपन्न आत्माओं का अर्थात् नमस्करणीयों का संकलन सूत्र है।

10. इस महामंत्र में किसी भी व्यक्ति का नामांकन नहीं किया गया है, यही इस मंत्र की विशालता का द्योतक है।

अर्थात् उक्त गुण संपन्न समस्त अरिहंतों को, समस्त सिद्धों को, समस्त आचार्यों को, समस्त उपाध्यायों को एवं समस्त साधु-साध्वीयों को इस नमस्कार मंत्र में वंदन नमस्कार किया जाता है।

पहला आवश्यक (अध्ययन)

सामायिक सूत्र

1. यह सामायिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा सूत्र है। सामायिक में सावद्य योगों का त्याग किया जाता है।

2. सावद्य योग का अर्थ होता है सभी प्रकार के (18) पाप कार्य। इन 18 पापों का जीवन भर के लिए त्याग करने से आजीवन सामायिक होती है। इस सामायिक को ग्रहण करने वाला श्रमण कहा जाता है। एक मुहुर्त के लिए इन अठारह पापों का त्याग करने से श्रावक जीवन की सामायिक होती है।

3. इन पापों के त्याग के साथ सामायिक में अधिकाधिक समभाव की प्राप्ति होना भी सामायिक शब्द का तात्पर्य है।

4. श्रमण की इस आजीवन सामायिक में तीन करण और तीन योग से पाप कार्यों का त्याग होता है।

5. पाप नहीं करना, नहीं कराना और पाप कार्य करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना, यह तीन करण का त्याग कहा जाता है।

6. मन से, वचन से और शरीर से इन तीनों से पाप कार्य नहीं करना, यह तीन योग से पाप कार्य का त्याग कहा जाता है।

7. इस प्रकार इस सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र से सामायिक ग्रहण करने वाला अठारह पापों को मन से वचन से और शरीर से नहीं कर सकता है। दूसरों को ये पाप कार्य करने की प्रेरणा या आदेश भी नहीं कर सकता है और स्वतः ही पाप कार्य करने वालों की प्रशंसा भी नहीं कर सकता है, उसके कृत्यों को भला भी नहीं मान सकता है। पाप कार्यों से निष्पन्न पदार्थों की प्रशंसा भी नहीं कर सकता।

8. वे अठारह पाप इस प्रकार है-

1. हिंसा, 2 झूठ, 3. चोरी, 4. कुशील, 5. परिग्रह-धन, 6. गुस्सा, 7. घमंड, 8. कपट, 9. लालच-तृष्णा, 10. राग, 11. द्वेष, 12. क्लेश-झगड़े, 13. कलंक लगाना, 14. चुगली, 15. पर निंदा, 16. हर्ष-शोक, 17. धोखा-ठगाई अथवा कपट युक्त झूठ, 18. असत्य समझ, खोटी मान्यता, गलत सिद्धान्तों की मान्यता प्ररुपणा।

एक मुहुर्त की या आजीवन की सामायिक ग्रहण करने वाला अपनी उस सामायिक की अवस्था में हिंसादि पाप या गुस्सा, घमंड, निंदा, विकथा, राग द्वेष अथवा क्लेश कदाग्रह आदि कदापि नहीं कर सकता है। वह विचारों से परम शांति एवं पवित्र ह्रदयी बनकर सदा अपने को इन पापों के त्याग में सावधान रखता है। तभी वह सामायिकवान श्रमण एवं सामायिक व्रत वाला श्रमणोपासक कहा जा सकता है।

दूसरा आवश्यक (अध्ययन)

चौबीस जिन स्तुति सूत्र

1. यह सूत्र **'लोगस्स'** शब्द से प्रारम्भ होता है अतः इस का प्रसिद्ध नाम लोगस्स का पाठ है। ग्रंथों में इसे उत्कीर्तन नाम से कहा गया है क्यों कि इस में तीर्थकरों का गुण कीर्त्तन किया गया है। आगम में इस सूत्र का जिन संस्तव चतुर्विंशतिस्तव नाम मिलता है।

2. इस सूत्र में सात गाथाएं है। प्रथम गाथा में तीर्थंकर परिचय के साथ उनके कीर्त्तन की प्रतिज्ञा है। फिर तीन गाथाओं में चौबीस तीर्थकरों के नाम के साथ सम्मान पूर्वक वंदन किया गया है।

   अंतिम तीन गाथाओं में तीर्थकरों के गुण एवं महात्म्य का कथन किया है। अंत में उपसंहार रुप में सभक्ति मोक्ष प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

3. चौबीस तीर्थंकर धर्म तीर्थ की स्थापना करके लोक में भाव प्रकाश करने वाले होते हैं और स्वयं सर्व ज्ञानी राग द्वेष विजेता होते हैं।

4. 1. आरोग्य बोधि- सम्यग् ज्ञान एवं श्रद्धान, 2. श्रेष्ठ भाव समाधि अर्थात् समभाव एवं प्रसन्नता की उपलब्धि, 3. सिद्धि=मुक्ति=मोक्ष अवस्था, इन तीन बातों की प्रार्थना प्रभू से की गई है। यह प्रार्थना केवल अपने आदर्श भावों की अभिव्यक्ति मात्र है। वास्तव में सिद्ध प्रभू कुछ भी देने वाले नहीं हैं। किन्तु ऐसे भाव भक्ति युक्त गुण कीर्तन के द्वारा साधक स्वयं अपने कर्मों की निर्जरा करके उच्च अवस्था को प्राप्त करता है, वैसी शक्ति प्रकट कर सकता है।

5. चौबीस तीर्थंकर सभी वर्त्तमान में सिद्ध अवस्था में है। अतः उन्हें सिद्ध शब्द से संबोधन किया गया है।

6. तीर्थंकर प्रभू को तीन उपमा दी गई है- 1. चन्द्रमा से भी अति निर्मल, 2. सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाले, 3. सागर के समान अति गंभीर धैर्यवान होते है।

तीसरा आवश्यक (अध्ययन)

उत्कृष्ट गुरु वंदन सूत्र

1. यह सूत्र **'इच्छामि खमासमणो'** शब्द से प्रारम्भ होता है अतः इसे इच्छामि खमासमणो का पाठ भी कहा जाता है। इस सूत्र से प्रतिक्रमण के समय गुरु को प्रतिक्रमण युक्त वंदन किया जाता है। शेष समय में कभी भी शांत मुद्रा में स्थित श्रमण श्रमणी को तिक्खुत्तो के पाठ से वंदन किया जाता है। ऐसा अनेक आगमों के वर्णन से सप्रमाण सिद्ध है। गतिमान मुद्रा में अर्थात् चलते हुए श्रमण श्रमणी को केवल मत्थएण वंदामि शब्द से कुछ दूर रह कर ही वंदन किया जाता है।

नोट- 1. किसी परंपरा में अन्य समय में भी श्रमणों को तिक्खुतो के पाठ से गुरुवंदन नहीं करके इसी पाठ के 4-5. प्रारंम्भिक शब्द बोलकर तिक्खुतो के पाठ का अंतिम शब्द मत्थएण वंदामि बोल दिया जाता है।

2. गुरु सीमित अवग्रह क्षेत्र में प्रवेश करके इस सूत्र से वंदन किया जाता है अर्थात् अति दूर या अति निकट से नहीं किया जाता है।

3. दो बार इस पाठ का उच्चारण उकडु आसन से बैठकर किया जाता है।

4. चार बार तीन-तीन आवर्त्तन किये जाते है। चार बार मस्तक झुकाकर वंदन किया जाता है। कुल 12 आवर्त्तन से यह वंदन पूर्ण किया जाता है।

5. गुरुदेव के संयम यात्रा की सुखशाता पूछी जाती है एवं अपने अपराधों की अथवा किसी भी प्रकार की अविनय आशातनाओं की क्षमा याचना की जाती है। मन वचन काया से अथवा क्रोध आदि के वश में किसी भी भगवदाज्ञा एवं गुरु आज्ञा का उल्लंघन हुआ हो तो उसका समुच्चय रुप में प्रतिक्रमण किया जाता है।

6. बारह आवर्त्तन अहो 2 कायं 3 कायं संफासं 4 जत्ताभे 5 जवणिज्जं 6 च भे, इन 6 शब्दों पर 6 आवर्त्तन प्रथम बार में होते हैं और 6 आवर्त्तन पुनः दूसरी बार के उच्चारण में होता है। योग कुल 12 आवर्त्तन होते हैं ।

7. आवर्त्तन से गुरुदेव की भक्ति एवं बहुमान किया जाता है। यह क्रिया आरती के समान गुरु के दाहिने से बाएं तरफ की जाती है।

नोट- कई लोग परंपरा से मतिभ्रम के कारण गुरु के बायें से दाहिने तरफ आवर्त्तन करने रूप अंजलि घुमाते हैं जो आरती आदि के अनेक प्रमाणों से अशुद्ध प्रतीत होता है। इस सूत्र में गुरु के लिए अत्यधिक बहुमान सूचक ''क्षमाश्रमण'' शब्द का प्रयोग किया गया है।

चौथा आवश्यक (अध्ययन)

मंगल सूत्र

1. लोक में 1 अरिहंत 2 सिद्ध 3 साधु एवं 4 सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट धर्म यह चारों ही उत्तम है, मंगल स्वरूप है एवं शरण भूत है ।

2. नमस्कार मंत्र में कहे गए 5 पद यहां 3 पद से कहे हैं इन 5 पदों को प्राप्त करने वाले धर्म को चौथे पद से ग्रहण किया गया है।

3. अर्थात धर्म को नमस्कारणीय वंदनीय पदों में नमस्कार मंत्र में नहीं कहा गया है किंतु लोक में उत्तम या मंगल अथवा शरणभूत में धर्म को भी लिया गया है।

4. अतः शरण भूत तो धर्म एवं धर्मी आत्माएं दोनों ही होते हैं किंतु नमस्कारणीय तो धर्मी आत्माएं ही होती है, धर्म नमस्कारणीय नहीं होता है।

5. अरिहंत सिद्ध साधु और सर्वज्ञ कथित धर्म के अतिरिक्त जो कुछ भी लोक में उत्तम या मंगल अथवा शरण भूत माने जाते हैं वे लौकिक दृष्टि से या बाल दृष्टि से होते हैं किंतु आध्यात्म दृष्टि से वास्तव में मंगल रूप या शरणभूत वे नहीं होते हैं।

इस सूत्र को मंगल पाठ मंगलिक 'मांगलिक' आदि नामों से कहा जाता है।

समुच्चय अतिचार प्रतिक्रमण सूत्र–

1. इस सूत्र में **'इच्छामि ठामि'** यह प्रथम पद है अतः इसे इच्छामि ठामि का पाठ भी कहा जाता है।

2. इस सूत्र में संक्षिप्त में प्रतिक्रमण करने योग्य स्थानों के संकेत पूर्वक वर्णन है यथा -

    1. भगवादाज्ञा विपरीत मन वचन काया की प्रवृत्ति

    2. अयोग्य अकल्प्य आचरण, दुर्ध्यान दुश्चिंतन

    3. ज्ञान दर्शन चारित्र में अतिचरण

    4. श्रुत ज्ञान, सामायिक, गुप्ति, महाव्रत, पिंडेषणा एवं ब्रह्मचर्य की नव वाड़, दस श्रमण धर्म आदि में अतिचरण।

    5. कषाय विजय में और 6 काय रक्षण में स्खलन।

3. इस प्रकार इस पाठ में दैवसिक संक्षिप्त श्रमण गुणों के अतिचार का प्रतिक्रमण है।

4. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र की अपेक्षा इस पाठ में महाव्रत आदि की जगह 12 व्रत के अतिचार की विशेषता है, शेष समानता होती है।

गमनागमन प्रतिक्रमण सूत्र–

1. इस सूत्र का प्रथम शब्द **'इच्छाकारेणं'** होने से इसे इच्छाकारेणं का पाठ कहा जाता है।

मार्ग में चलने या अन्य भी शारीरिक क्रियाएं करने में छोटे-छोटे जीवों की जाने अनजाने विराधना होती रहती है। उसका प्रतिक्रमण=शुद्धिकरण इस सूत्र से किया जाता है।

वे जीव इस प्रकार है- 1 प्राणी- कीडी, मकड़ी, कुंथुवे आदि

2. अनेक प्रकार के बीज

3. हरी घास फूलण अन्य वनस्पति, अंकुरे आदि 4 पानी ओस बिंदु आदि 5 सचित मिट्टी नमक आदि अथवा एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय

जीव विराधना के प्रकार- 1. उनकी गति में रुकावट आना, 2. धूल वस्त्र आदि से ढंका जाना, 3. कुछ रगड़ लगना, 4. एक जगह अनेक जीवों को सरका कर इकट्ठा किया जाना, 5. चोट लगना, 6. परिताप कष्ट होना, 7. किलामना=अधिक कष्ट होना, 8. उपद्रवित भयाक्रांत होना, 9. स्थानांतरित होना, स्थान परिवर्तित हो जाना, स्थान भृष्ट हो जाना, 10. जीवन रहित प्राण रहित हो जाना, मर जाना।

इस प्रकार ये क्रमिक विशेष जीव विराधना के बोल समझने चाहिए।

निद्रा प्रतिक्रमण सूत्र

1. इस सूत्र में श्रवण के शयन विधि में होने वाले अतिक्रमण का निर्देश किया गया है एवं स्वप्न अवस्था में संयम मर्यादा के उल्लंघन होने का भी निर्देश है।

2. शयन दोष- 1. अधिक समय तक सोना, 2. बार-बार सोना या दिन में सोना, 3. बिछोने पर बैठने सोने में हाथ पाव अंगोपांगो को फैलाना सिकुड़ना आदि क्रिया करते समय प्रमार्जन पूंजने का विवेक नहीं रखना। 4. जूं आदि संघटन होना, 5. छींक उबासी संबंधी अयतना होना, 6. नींद में बोलना दांत पीसना, 7. आकुल व्याकुल होना उतावल से सो जाना, शयन विधि कायोत्सर्ग आदि नहीं करना।

स्वप्नावस्था के दोष-

1. स्वप्नावस्था के दोष अनेक संकल्प विकल्पो के जंजाल रूप स्वप्न देखना।

2. स्त्री आदि के संयोग संबंधी संयम विपरीत स्वप्न देखना अथवा स्त्री विकार दृष्टि विकार या मनोविकार संबंधी स्वप्न देखना।

3. आहार पानी खाने-पीने संबंधी संयम मर्यादा के विपरीत स्वप्न देखना यथा रात्रि में खाना अकल्पनीय वस्तु लाना खाना या गृहस्थ के घर खाना अदत्त वस्तु लाना खाना ।

इत्यादि शयन निद्रा एवं स्वप्न संबंधी दोषो अतिचारों का इस सूत्र में चिंतन स्मरण करके प्रतिक्रमण किया जाता है।

गोचरी प्रतिक्रमण सूत्र-

1. गाय आदि पशुओं के चरने के समान एक घर से अल्प मात्रा में आहारिदि लेने की प्रक्रिया के कारण इसका नाम गोचरी 'गोचर चरिया' है।

2. अनेक घरों से भ्रमण करके आहारादि प्राप्त किए जाने के कारण इसे भिक्षा चरिया कहा जाता है ।

3. अहिंसा महाव्रत आदि की रक्षा हेतु चरिया में विविध नियमों का पालन किया जाता है। उन नियमों को गवेषणा ऐषणा आदि नामों से कहा जाता है। इन नियमों में जाने अनजाने कोई अति चरण हुआ हो, उल्लंघन हुआ हो उसका प्रतिक्रमण इस सूत्र से किया जाता है।

4. यों तो एषणा के 42 दोष कहे गए हैं एवं सूत्रों के इसके अतिरिक्त भी अनेक दोषों का कथन है किन्तु प्रस्तुत सूत्र में बिना संख्या निर्देश के अनेक दोषों का संकलन किया गया है ।

5. प्रतिक्रमण योग्य कथित अतिचार यह है 1 घर के द्वार को खोलना या आज्ञा बिना खोलना 2 कुत्ते बछड़े बच्चे आदि का संघट्टा हो जाना या स्त्री आदि का स्पर्श हो जाना 3 इंतजार युक्त व्यवस्थित जमा कर रखे आहारादि में से लेना 4 बली कर्म योग्य या पूजा का आहार लेना 5 भूल से सदोष लेना 6 अयोग्य अनेषणीय आहार पानी, बीज, हरी आदि खाना। 7 पश्चात कर्म पूर्व कर्म =दान के पहले या पीछे हाथ आदि धोने का दोष 8 अभिह्वत = सामने नहीं दिखने वाली जगह से लाकर दी जाने वाली वस्तु लेना । 9 पृथ्वी पानी आदि से लिप्त या स्पर्शित वस्तु दे उसे लेना। 10 गिराते हुए या फेंकते हुए अर्थात् भिक्षा देते समय कण बूंद आदि पृथ्वी आदि पर गिराते हुए भिक्षा दे उसे लेना। 11 भिक्षा देते समय बीच में कुछ-कुछ फेंकने योग्य वस्तु को, पदार्थ को फेंक दे और ऐसा करते हुए भिक्षा देवे उसे लेना अथवा परठने योग्य (परठना पड़े वैसा) पदार्थ को भिक्षा में लेना। 12 विशिष्ट खाद्य पदार्थ मंगाकर या दीनता करके लेना अथवा जो पदार्थ स्वाभाविक जहां सुलभ न हो ऐसे पदार्थ की याचना करना। 13 एषणा के 42 दोषों में से कोई दोष से युक्त आहारादि लेना।

6 ये दोष अनजान से लगते हैं उनकी प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है। कुछ विशिष्ट दोष (आधाकर्मी सचित आदि) से युक्त आहार भूल से आ जाय तो मालूम पड़ने पर खाना भी स्वतंत्र दोष है। अतः ऐसे आहार आदि योग्य स्थान में परठ दिये जाते हैं किन्तु खाये नहीं जाते हैं।

7. जानकर लगाये गये दोषों का प्रतिक्रमण के अतिरिक्त स्वतंत्र प्रायश्चित (तप आदि)भी होता है।

8. प्रतिक्रमण समय के अतिरिक्त अर्थात् गोचरी से आने के बाद भी इस पाठ का कायोत्सर्ग किया जाता है।

स्वाध्याय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण सूत्र–

1. स्वाध्याय समाप्ति पर एवं प्रतिलेखन समाप्ति पर कायोत्सर्ग कर इस सूत्र पर चिंतन कर प्रतिक्रमण किया जाता है।

2. दिन और रात्रि के प्रथम और अंतिम प्रहर ये चारों स्वाध्याय करने के काल है। इनमें यथासमय स्वाध्याय नहीं करना यहां अतिचार दर्शाया गया है अर्थात् इन चारों समयों में श्रमण श्रमणियों को सूत्रों की स्वाध्याय अवश्य करनी चाहिए।

3. श्रमण के संयमोपयोगी जो भी उपकरण वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पूंजणी आदि एवं पुस्तक पाने डंडा आदि सकारण रखे उपकरणों की दोनों समय प्रतिलेखना की जाती है। यथा 1 सुबह और 2 शाम अर्थात् प्रथम प्रहर में एवं चौथे प्रहर में।

4. यह प्रतिलेखन यतना पूर्वक एवं विधि पूर्वक किया जाता है। ऐसा विधियुक्त प्रतिलेखन सर्वथा न किया हो या अविधि अयतना से किया हो तो उसका प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित किया जाता है। इसी प्रकार स्वाध्याय न करने पर एवं

अविधि से या निषिद्ध समयों में करने से भी प्रायश्चित आता है। इसी प्रकार प्रमार्जन (पूंजने संबंधी)प्रतिक्रमण भी इस सूत्र से होता है।

तेतीस बोल प्रतिक्रमण सूत्र-

1. श्रमणाचार के अनेक बिखरे हुए विषयों को यहां 1 से लेकर 33 तक की संख्या के अवलंबन से संग्रह किया गया है।

2. इन सभी बोलों में कहे गये आचार के विधि निषेध रुप विषयों में किसी प्रकार की स्खलना हुई हो, अतिचार दोष लगा हो तो चिंतन स्मरण करके उसका इस सूत्र से प्रतिक्रमण किया जाता है।

3. विधि रुप विषय- समिति, गुप्ति, महाव्रत, ब्रह्मचर्य की 9वाड, यति धर्म, पडिमाएं पच्चीस भावना, सतावीस अणगार गुण, आचारप्रकल्प एवं 32 योग संग्रह आदि।

4. निषेध रुप विषय- असंयम, दंड, बंध, शल्य, गर्व, विराधना, कषाय, संज्ञा, विकथा, क्रिया, कामगुण, भय, मद, अब्रह्म, सबल दोष, असमाधि स्थान, पाप सूत्र, महामोह बंध स्थान, तेतीस आशातना।

5. ज्ञेय विज्ञेय रुप विषय- 6 काया, 6 लेश्या, जीव के भेद चौदह, परमाधामी, सूयगडांग सूत्र के अध्ययन, ज्ञाता सूत्र के अध्ययन, तीन छेद सूत्रों के उद्देशक (अध्ययन) 22 परिषह 24 देवता, 31 भेद सिद्धों के। ये भेद एवं अध्ययन जानने योग्य एवं विवेक करने योग्य है।

6. उभय- चार ध्यान में दो ध्यान विधि रुप है दो ध्यान निषेध रुप है।

इस प्रकार समग्र आचार के संग्रहित इन विषयों में से जानने योग्य जाने नहीं, आचरण करने योग्य का आचरण करे नहीं, त्यागने योग्य का त्याग न करें एवं विवेक करने योग्य का विवेक न करें, सहन करने योग्य को सहन न करें इत्यादि अपनी विविध भूलों का कर्तव्यों का भान कराने वाला यह तेतीस बोल का सूत्र है। इन बोलों का विस्तार आगे परिशिष्ट में दिया है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन श्रद्धान नमन प्रतिक्रमण सूत्र-

1. इस सूत्र में निर्ग्रन्थ प्रवचन वीतराग धर्म का माहात्म्य बताया गया है। 24 तीर्थंकरों को एवं समस्त श्रमण गुण युक्त महात्माओं को नमस्कार किया गया है तथा अपने श्रद्धान एवं संयम की प्रतिज्ञा एवं प्रतिक्रमण भी किया गया है।

2. यह वीतराग धर्म सत्य अणुत्तर श्रेष्ठ हितावह मुक्ति दाता एवं समस्त दुःखो से छुड़ाने वाला है। इस धर्म के आचरण एवं श्रद्धान में स्थित प्राणी एक दिन अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

3 अतः इस धर्म की अंतर मन से समझ पूर्वक श्रद्धा प्रतीति रुचि करनी चाहिए एवं लगन पूर्वक इसका पालन करना चाहिए।

4 सूत्र में प्रतिज्ञा एवं प्रतिक्रमण योग्य वर्णित स्थान-

1.	असंयम त्याग	संयम धारण
2.	अब्रह्मचर्य त्याग	ब्रह्मचर्य धारण
3.	अकल्पनीय त्याग	कल्पनीय आचरण
4.	अज्ञान त्याग	ज्ञान धारण वृद्धि
5.	अक्रिया (अनुद्यम) त्याग	क्रिया (उद्यम) धारण
6.	मिथ्यात्व त्याग	सम्यक्त्व धारण
7.	अबोधि त्याग	बोधि धारण
8.	उन्मार्ग त्याग	सन्मार्ग ग्रहण

5. जो भी दोष याद हो या याद न हों उन सभी का प्रतिक्रमण होता है। उनमें से किसी का प्रतिक्रमण पूर्व पाठों के उच्चारण चिंतन में न हो पाया हो उसका यहां समुच्चय रुप से पुनः प्रतिक्रमण इस पाठ से किया जाता है।

6. श्रमण गुण- यतना करने वाला, पापों से दूर रहने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला भावी फल की आकांक्षा नहीं करने वाला, सुदृष्टि से सम्पन्न, कपट प्रपंच से मुक्त ऐसे गुण सम्पन्न श्रमण अढ़ाई द्वीप के पंद्रह कर्म भूमि क्षेत्रों में होते हैं। ये श्रमण मुख्य रुप से मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पूंजणी, वस्त्र, पात्र इन उपकरणों को रखने वाले होते है। मुख्य पांच महाव्रतों को धारण करने वाले होते है एवं विशालता की अपेक्षा अठारह हजार शील गुणों को धारण करने वाले निर्दोष परिपूर्ण संयम के पालन करने वाले होते हैं।

ऐसे गुणों के धारक श्रमणों को इस सूत्र से भाव पूर्वक वंदन करते हुए साथ ही मस्तक झुका कर वंदन भी किया जाता है।

सर्वजीव क्षमापना पाठ-

1. व्रत शुद्धि रुप प्रतिक्रमण के साथ-साथ हृदय की पवित्रता, विशालता एवं समभावों की वृद्धि हेतु क्षमापना भाव की भी आत्म उन्नति में परम आवश्यकता है। अतः प्रतिक्रमण अध्याय के समस्त सूत्रों के बाद यह क्षमापना सूत्र दिया गया है।

इस सूत्र का कायोत्सर्ग मुद्रा में चिंतन मनन करके आत्मा को विशेष विशुद्ध बनाया जा सकता है।

2. आत्मा को विशुद्ध करने के लिये पूर्ण सरलता और शांति के साथ, समस्त प्राणियों के अपराधों को उदार चिंतन के साथ माफ करके अपने मस्तिष्क को उनके प्रति परम शांत और पवित्र बना लेना चाहिए।

3 अहं भाव घमंड रुपी मन को दूर हटा कर अपनी यत्किंचित भूलों को स्मरण कर, स्वीकार कर, उससे संबंधित आत्मा के साथ लघुता पूर्वक क्षमा याचना कर उसके हृदय को शांत करने का अपना उपक्रम प्रयत्न कर

लेना चाहिए।

4. अपनी मनोदशा ऐसी बन जानी चाहिये कि जगत के समस्त प्राणियों के साथ मेरी मैत्री ही है, किसी के भी साथ अमैत्री या वैर विरोध भाव नहीं है। जो भी कोई वैर भाव क्षणिक बन गया हो तो उसे हटा कर भुला देना चाहिये एवं समभाव द्वारा मैत्री भाव मानस में स्थापित कर देना चाहिये।

इस प्रकार समस्त आत्म दोषों की आलोचना, निंदा, गर्हा आदि सम्यक प्रकार से की जाती है।

5. इस सूत्र में मन वचन काया के प्रतिक्रमण का उपसंहार करते हुए अंत में 24 तीर्थंकरों को वंदन किया गया है।

पांचवां आवश्यक (अध्ययन)

कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा सूत्र-

1. यह सूत्र **'तस्स-उत्तरी-करणेणं'** शब्द से प्रारम्भ होता है अतः इसे तस्स उत्तरी का पाठ भी कहा जाता है। प्रत्येक कायोत्सर्ग के पूर्व इस सूत्र का उच्चारण किया जाता है। अतः यह कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा सूत्र है।

2. कायोत्सर्ग एक आभ्यंतर तप है। यह आत्मा को श्रेष्ठ उन्नत बनाने के लिये, अकृत्यों का प्रायश्चित करने के लिये, आत्मा को विशुद्ध एवं दोष रहित बनाने के लिये, आत्म चिंतन करने के लिये तथा पाप कर्मों का विशेष क्षय करने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है। इसमें काया के संचार का त्याग किया जाता है, स्थिर रहा जाता है फिर भी स्वाभाविकअनेक कायिक प्रक्रियाएं एवं कायिक वेग नहीं रोके जा सकते है, उनका आगार भी कायोत्सर्ग में रहता है।

3. वे आगार स्थान इस प्रकार है- 1 श्वांस लेना, 2 श्वांस छोड़ना, 3 खांसी, 4 छींक, 5 उबासी, 6 डकार, 7 वायु निसर्ग, 8 चक्कर आना, 9 मूर्च्छा आना, 10 सूक्ष्म अंग संचार, 11सूक्ष्म खेल कफ संचार, 12 सूक्ष्म दृष्टि संचार ।

4. इन उक्त शारीरिक आवश्यक प्रक्रिया से काया का संचार करने पर कायोत्सर्ग की मर्यादा भंग नहीं होती है, कायोत्सर्ग की विराधना नहीं होती है।

5. अन्य किसी आत्मिक चंचलता अस्थिरता से कायिक संचार करने पर कायोत्सर्ग मर्यादा भंग हो जाती है।

6. कायोत्सर्ग में काया को स्थिर रखा जाता है, वचन से पूर्ण मौन रहा जाता है एवं चिंतन मनन भी लक्षित विषय में ही केन्द्रिय किया जाता है अर्थात् जिस लक्ष्य से कायोत्सर्ग किया जाता है उसी में चित्त एकाग्र किया जाता है। जब कोई भी चिंतन का लक्ष्य नहीं होता है तब शुद्ध अर्थात् विकल्प या चिंतन रहित, निर्विकल्प कायोत्सर्ग किया जाता है। उसमें पूर्ण योग व्युत्सर्जन किया जाता है।

7. कायोत्सर्ग का विषय या समय पूर्ण होने पर णमो अरिहंताणं इस शब्द के उच्चारण के साथ उसे पूर्ण किया जाता है, समाप्ति किया जाता है, अर्थात् कायोत्सर्ग पार किया जाता है।

8. प्रतिक्रमण में मुख्य रुप से दो कायोत्सर्ग होते है 1 अतिचार चिंतन 2 तप चिंतन या क्षमापना चिंतन।

छठा आवश्यक (अध्ययन)

दस पच्चक्खाण सूत्र-

1. प्रतिक्रमण एवं विशुद्धि करण के पश्चात तप रुप प्रायश्चित स्वीकार करना भी आत्मा के लिए पुष्टि कारक होता है तप से विशेष कर्मों की निर्जरा होती है अतः इस छठे आवश्यक (अध्याय) में इत्वरिक अनशन तप के 10 प्रत्याख्यान के पाठ कहे गये है। इसमें संकेत प्रत्याख्यान भी है एवं अद्धा प्रत्याख्यान भी है।

नमस्कार सहितं (नवकारसी)- प्रारम्भ के प्रथम प्रत्याख्यान के पाठ में सहियं शब्द का प्रयोग हुआ है जो गंठिसहियं मुठ्ठि सहियं के प्रत्याख्यान के समान है। अतः सहित शब्द की अपेक्षा यह संकेत प्रत्याख्यान होता है।

संकेत प्रत्याख्यानों में काल की निश्चित मर्यादा नहीं होती है ये संकेत में निर्दिष्ट विधि से कभी भी पूर्ण (समाप्त) कर लिये जाते है।

काल मर्यादा नहीं होने से संकेत प्रत्याख्यानों में सर्व समाधि प्रत्ययिक आगार नहीं होता है क्योंकि पूर्ण समाधि भंग होने की अवस्था के पूर्व ही संकेत पच्चक्खाण कभी भी पार लिया जा सकता है।

नवकारसी प्रत्याख्यान में चारों आहार का त्याग होता है एवं दो आगार होते हैं- 1 भूल से खाना, 2 अचानक सहसा मुंह में स्वतः चले जाना।

पोरिसी- पाव दिन को एक पोरिसी कहते है। सूर्योदय से लेकर पाव दिन बीतने तक चारों आहार का त्याग करना पोरिसी प्रत्याख्यान है।

पोरिसी आदि 9 प्रत्याख्यानों में हीनाधिक विविध आगार कहे गये है। जिनको अर्थ सहित आगे स्पष्ट किया गया है।

पूर्वार्द्ध (पुरिमंड्ढ) = दो पोरिसी- इसमें सूर्योदय से आधे दिन तक चारों आहार का त्याग होता है।

एकासन- इसमें एक स्थान पर एक वक्त भोजन किया जाता है उसके अतिरिक्त समय में तीनों आहार का त्याग होता है। केवल अचित्त जल लिया जा सकता है।

एक स्थान (एकल ठाणा)- इसमें एक बार एक स्थान पर भोजन करने के अतिरिक्त समय में चारो आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् आहार और पानी एक साथ ही ले लिया जाता है।

नीवी- इसमें एक बार रुक्ष आहार किया जाता है। पांचो विगयो का महा विगय का त्याग होता है। एक बार भोजन के अतिरिक्त तीनो आहार का त्याग होता है।अचित्त जल दिन में पिया जा सकता है। खादिम स्वादिम का इसमें सर्वथा त्याग होता है।

आयंबिल- इसमें एक बार भोजन किया जाता है जिसमें एक ही रुक्ष पदार्थ को अचित जल में डुबोकर भिगोकर नीरस बनाकर खाया एवं पिया जाता है। अन्य कुछ भी नहीं खाया जाता है। एक बार भोजन के अतिरिक्त दिन में आवश्यकतानुसार अचित्त जल लिया जा सकता है।

उपवास- इसमें सूर्योदय तक चारों आहार का त्याग किया जाता है।

दिवस चरिम- भोजन के बाद चौथे प्रहर में जब चारों आहार का त्याग किया जाता है, उसे दिवस चरिम प्रत्याख्यान सूर्यास्त के पूर्व कभी भी किया जा सकता है। यह प्रत्याख्यान हमेशा किया जा सकता है अर्थात् आहार के दिन या आयंबिल, निवी एवं तिविहार उपवास में भी यह दिवस चरिम प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इसमें सूर्यास्त तक का अवशेष समय एवं पूर्ण रात्रिका काल निश्चित होता है अतः यह भी अद्धा प्रत्याख्यान है। इसीलिए प्रत्याख्यान में ''सर्व समाधिप्रत्ययिक आगार'' कहा गया है।

अभिग्रह- आगम निर्दिष्ट द्रव्य क्षेत्र काल भाव संबंधी विशिष्ट नियम अभिग्रह करना और अभिग्रह सफल नहीं होने पर तपस्या करना। यह अभिग्रह मन में धारण किया जाता है प्रकट नहीं किया जाता है। समय पूर्ण हो जाने के बाद आवश्यक हो तो कहा जा सकता है।

इन दस प्रत्याख्यानों में से कोई भी प्रत्याख्यान करने से यह छठा प्रत्याख्यान आवश्यक पूर्ण होता है।

दस प्रत्याख्यानों में आये 15 आगारों का अर्थ इस प्रकार है-

1. अनाभोग- प्रत्याख्यान की विस्मृति से अर्थात् भूल से अशनादि चखना या खाना पीना हो जाय तो उसका आगार।

2. सहसाकार- वृष्टि होने से, दही आदि मंथन करते, गायादि दुहते मुंह में छींटा चले जाय तो उसका आगार।

3. प्रच्छन्न काल- सघन बादल आदि के कारण पोरिसि आदि का बराबर निर्णय न होने से समय मर्यादा में भूल हो जाय उसका आगार।

4. दिशामोह - दिशा भ्रम होने पोरिसी आदि का बराबर निर्णय होने से समय मर्यादा में भूल हो जाय उसका आगार।

5. साधु वचन- पोरिसी आदि का समय पूर्ण हो गया- इस प्रकार साधु (सभ्य पुरुष) के कहने से समय मर्यादा में भूल हो जाय तो आगार।

6. सर्व समाधि प्रत्ययागार- संपूर्ण समाधि भंग हो जाय अर्थात् आकस्मिक रोगातंक हो जाय तो उसका आगार।

7. महत्तरागार- गुरु आदि की आज्ञा का आगार।

8. सागारिकागार- गृहस्थ के आ जाने पर साधु को स्थान परिवर्तन करने का आगार (एकाशन आदि में)

9. आकुंचन प्रसारण- हाथ -पैर आदि के फैलाने का अथवा संकुचित करने का आगार।

10. गुर्वभ्युत्थान- गुरु आदि के विनय के लिए उठने खड़े होने का आगार।

11. पारिष्ठापनिकागार- बढ़ा हुआ आहार परठना पड़ता हो तो उसे खाने का आगार। (विवेक रखते हुए भी कभी गोचरी में आहार अधिक आ जाय। खाने के बाद भी शेष रह जाय तो गृहस्थ आदि को देना या रात्रि में रखना संयम विधि नहीं है। अतः वह आहार परठने योग्य होता है। उसे खाने का अनेक प्रत्याख्यान में साधु के आगार रहता है। गृहस्थ के यह आगार नहीं होता है।)

12. लेपालेप- शाक, घृत आदि से लिप्त बर्तन को पोंछ कर कोई रुक्ष आहार बहरावे, उसका आगार।

13. उत्क्षिप्त विवेक- दाता पहले से रखे हुए सुखे गुड़ आदि को उठाकर दे तो लेने का आगार।

14. गृहस्थ संसृष्ट- दाता के हाथ, अंगुलि आदि के लगे हुए गुड़ घृत आदि का लेप मात्र रुक्ष आहार में लग जाय उसका आगार।

15. प्रतीत्य प्रक्षित- किन्हीं कारणों से या रिवाज से किंचित अंश मात्र विगय लगाया गया हो उसका आगार। यथा- दूध या दही के बर्तन धोया हुआ धोवण पानी इत्यादि इन पदार्थों का निवी में आगार होता है।

नोट- किस प्रत्याख्यान में कौन-कौन से आगार है यह मूल पाठ से देख कर जानने का प्रयत्न करें उनकी संख्या इस प्रकार है।

तप नाम	आगार संख्या	तप नाम	आगार संख्या
नवकारसी में	2	निवी में	9
पोरिसी में	6	आयंबिल में	8
पूर्वार्द्ध पुरिमड्ढ में	7	उपवास में	5
एकासन में	8	दिवस चरिम में	4
एकलठाणा में	7	अभिग्रह में	4

विशेष- नवकारसी में सर्व समाधि प्रत्यधिक आगार नहीं होता है, शेष सभी में होता है। परिठावणियागार पांच में होता है, पांच में नहीं होता है। 1. एकासना, 2. एकल ठाणा, 3. निवी, 4. आयंबिल 5. उपवास में होता है। महत्तरागार दो में नहीं होता है, नवकारसी और पोरिषि। शेष आठ में होता है। प्रतीत्य म्रक्षित आगार केवल निवी में ही होता है। लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थ-संसृष्ट ये तीन आगार आयंबिल निवी इन दो प्रत्याख्यानों में ही होते है। अनाभोग और सहसागार ये दो आगार सभी में होते है।

अंतिम मंगल-उपसंहार

सिद्ध स्तुति सूत्र- (स्तव-स्तुति मंगल सूत्र)

1. इस सूत्र में प्रथम पद णमोत्थुणं है इस कारण इस सूत्र को णमोत्थुणं का पाठ भी कहा जाता है।

2. शक्रेन्द्र आदि इन्द्र देवलोक में भी तीर्थंकर को एवं सिद्धों को इसी सूत्र से स्तुति के साथ नमस्कार करते है। इस कारण इस सूत्र का नाम 'शक्रस्तव' भी कहा जाता है।

3. इस पाठ में कुछ स्तुति गुणग्राम के शब्द अरिहंतों के लिये लागु पडुते है, कुछ शब्द सिद्धों के लिए एवं कुछ दोनों के लिये है तथा कुछ शब्द अपेक्षा से दोनों में घटित किये जाते है।

4. कई लोगों में ऐसा भ्रम भी प्रचलित है कि तीसरा णमोत्थुणं गुरु को दिया जाता है। किन्तु आगम में गुरु के लिये णमोत्थुणं का यह पाठ नहीं बोला जाता है। केवल णमोत्थुणं एक शब्द ही बोला जाता है शेष अन्य ही कुछ शब्द बोले जाते है।

5. इस सूत्र के अंत में ''ठाणं संपाविउकामाणं'' पाठ बोलने पर सूत्रोक्त सभी गुण तीर्थंकरों में घटित हो जाते हैं।

ठाणं संपत्ताणं कहने पर कुछ गुण सिद्धों में घटित हो जाते हैं। शेष सभी गुणों को अपेक्षा से कल्पित करके सिद्धों में घटित किया जा सकता है।

अरिहंताणं, भगवंताणं से लेकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी तक के सभी गुण स्वाभाविक रुप से तीर्थंकर अरिहंत भगवंतों में घटित होते है।

स्तुति गत गुण- धर्म की आदि करने वाले, स्वयं, संबुद्ध, पुरुषोत्तम, उत्तम सिंह, कमल एवं गंध हस्ति की उपमा वाले, लोक के नाथ, लोक में ज्ञान का प्रकाश करने वाले, जीवों को शरण, बोधि एवं धर्म के देने वाले धर्म के चक्रवर्ती, वीतरागी श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, स्वयं तिरने वाले और दूसरो को बोध देकर तारने वाले, अव्याबाध सुख के स्थान रुप मोक्ष गति को प्राप्त किये हुए या प्राप्त करने वाले इत्यादि।

इन गुणों का निर्देश करने के साथ ही सूत्र के प्रारम्भ में और अंत में जिनेश्वर भगवंत को नमस्कार किया गया है।

।। इति आवश्यक सूत्र सारांश समाप्त।।

नोट- विशेष जानकारी के लिए इसी पुष्प के परिशिष्ट आदि का अवलोकन मन्थन करना चाहिए।

आवश्यक सूत्र से अतिरिक्त पाठ

अन्य आगमों से संकलित

(उभय काल प्रतिक्रमण करने की विधि में आवश्यक एवं प्रचलित अनेक पाठ आवश्यक सूत्र में नहीं है किन्तु अन्य आगमों में है अतः उन्हें यहां संकलित एवं संपादित किया है)

वंदन पाठ

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि। -रायप्पसेणीय सूत्र 8

अठारह पाप स्थान पाठ

1. पाणाइवाए 2. मुसावाए 3. अदिण्णादाणे 4. मेहुणे 5. परिग्गहे 6. कोहे 7. माणे, 8. माया 9. लोहे 10. पेज्जे 11. दोसे 12. कलहे 13. अभक्खाणे 14 पेसुण्णे 15. परपरिवाए 16. रइअरइ 17. मायामोसे 18. मिच्छादंसण सल्ले। -भगवती श. 12 उद्दे. 5 - ठाणांग सूत्र ठा. 1. के आधार से

करेमि भंते का पाठ (श्रावकोपयोगी)

करेमि भंते! समाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावानियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।।

-हरिभद्रीयावश्यक पृ. 454

इच्छामि ठामि का पाठ (श्रावकोपयोगी)

इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो में देवसिओ आइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारों, अणिच्छिअव्वो, असावगपाउग्गो नाणे तह दंसणे चरित्ताचरित्ते, सुए, सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्ह कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्व्याणं, चउण्ह सिक्खावयाणं, बारसविहस्स सावगधम्मस्स, जं खंडियं, जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कायोत्सर्ग शुद्धि का पाठ

काउस्सग्गे मण चलिए वय चलिये काय चलिये अट्टज्झाणे झाइए रूद्दज्झाणे झाइए तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

श्रमणक्षमापना पाठ

आयरिय उवज्झाइ, सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जे मे केई कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि (1)

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहंमपि (2)

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म निहिय नियचित्तो।
सव्वं खमाइवइत्ता, खमामि सव्वस्स अहंमपि (3)

मरण समाधि प्रकीर्णक गा. 335:336 -संस्तारक प्रकीर्णक गा. 104, 105

ज्ञानातिचार पाठ

सुय णाणस्स इमे चउद्दस अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं-वाइद्धं वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं, जो में देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं। -आव. 4 के अंतरर्गत

दर्शन सम्यक्त्व का एवं अतिचार का पाठ

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरूणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं (1)
परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावण्णकुदंसणवज्जणा, इय सम्मत्तसद्दहणा (2)
पंचिंदिय-संवरणो तह णवविह-बंभचेर गुत्तिधरो।
चउविह-कसाय-मुक्को इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो (1)
पंच महव्वय जुत्तो, पंचविहायार-पालण समत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीस गुणो गुरूमज्झ (2)

- आव. नि.अ. 4

एयस्स समत्तस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊं-संका कंखा वितिगिच्छा परपासंड पसंसा परपासंड संथवो, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

-आव. नि. अ. 6 परि. - उपासक दशा सूत्र

संलेखना के अतिचार का पाठ

अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणया, इमीए संलेहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊं- इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं। -उपासकदशा सूत्र-1 -आव. नि. 4

प्रतिक्रमण आज्ञा एवं प्रतिज्ञा पाठ

इच्छामि णं भंते तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय णाण-दंसण-चरित्ताचरित्त तव अइयार चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं। -आव. नि. 4

कायोत्सर्ग आज्ञा पाठ

इच्छामि णं भंते तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं पायच्छित्तं विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं।

प्रतिक्रमण उपसंहार पाठ

सामाइयं चउवीसत्थवं वंदणं पडिक्कमणं काउस्सग्गं पच्चक्खाणं एवं सडावस्सयं तम्मणे तच्चित्ते तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भवणाभाविए, अणत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे एगग्गचित्तेणं न कयं, आलस्सएणं पमाएणं विक्खित चित्तेण कयं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं। -अनु. सू. 29

प्रथम अणुव्रत

पढमं अणुव्वयं थुलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं तसजीवे बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय पंचिंदिय संकप्पओं हणण हणावण पच्चक्खाणं ससरीरं सविसेसं पीड़ाकारिणो, ससम्बधी सविसेसं पीड़ाकारिणो वा वज्जिऊण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा, एइस्स थूलग पाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- 1. बंधे 2. वहे 3. छविच्छेए 4. अइ भारे 5. भत्तपाणविच्छेए। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

दूसरा अणव्रत

बीअं अणुव्वयं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं से य मुसावए पंच विहे पन्नत्ते तंजहा- 1. कन्नालीए 2. गवालीए 3. भोमालीए 4. नासावहारे 5. कूड सक्खिज्जे इच्चेवमाइस्स थूल-मुसावायस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स थूलग-मुसावाय-वेरमणस्स समणोवाएण पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- 1. सहसब्भक्खाणे 2. रहस्सब्भक्खाणे 3. सदारमंतभेए 4. मोसोवएसे 5. कूडलेहकरणे। जो में देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

तीसरा अणुव्रत

तइयं अणुव्वयं थूलाओ अदिण्णादाणाओं वेरमणं से य आदिण्णादाणे पंचविहे पन्नत्ते तंजहा- 1. खत्तखणणं 2. गंठिभेअणं 3. जंतुग्घाडणं 4. पडिवयवत्थुहरणं 5. ससामिअ वत्थुहरणं इच्चेवमाइस्स थुल अदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स तइयस्स थूलग आदिण्णादाण-वेरमणस्स समणोवाएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- 1. तेनाहडे 2. तक्करप्पओगे 3. विरूद्धरज्जाइक्कमे 4. कूडतुल्लकूडमाणे 5. तप्पडिरूवगववहारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

चौथा अणुव्रत

चउत्थं अणुव्वयं सदार संतोसिए परदार विवज्जण रूव थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं जावज्जीवाए, तं दिव्वं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। माणुस्सं तिरिक्खजोणियं अवसेसं एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा, एअस्स थूलग-मेहुणवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा 1. इत्तरिय परिग्गहिया गमणे 2. अपरिग्गहिया गमणे 3. अणंगकिड्डा 4. पर विवाह करणे 5. कामभोग तिव्वाभिलासे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पांचवा अणुव्रत

1. पंचमं अणुव्वयं थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं खेत्तवत्थुणं जहापरिमाणं 2. हिरण सुवण्णाणं जहा परिमाणं 3. धणधन्नाणं जहापरिमाणं 4. दुप्पयचउप्पयाण जहापरिमाणं 5. कुवियस्स जहापरिमाणं एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स परिग्गहस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए, एगविंह तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा । एअस्स थूलग परिग्गह परिमाण वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरिव्वा तंजहा- 1. खेत्तवत्थुप्पमाणइक्कमे 2. हिरण्ण-सुवण्ण प्पमाणाइक्कमे 3. धणधन्न प्पमाणाइक्कमे 4. दुप्पयचउप्पया प्पमाणाइक्कमे 5. कुविय पमाणाइक्कमे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

छट्ठा अणुव्रत

छट्ठं दिसिव्वयं उड्डदिसाए जहापरिमाणं, अहोदिसाए जहापरिमाणं, तिरियदिसाए जहापरिमाणं एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ सेच्छाए काएणं गंतूण पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स दिसिव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरिव्वा तंजहा - उड्डदिसि पमाणाइक्कमे 2 अहोदिसि पमाणाइक्कमे 3 तिरियदिसि पमाणाइक्कमे 4 खेत्तवुड्डि 5 सइअंतरद्धा, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

सातवां अणुव्रत

सत्तमे वए उवभोग परिभोग विहिं पच्चक्खायमाणे- 1. उल्लणियाविहि 2. दंतणविहि 3. फलविहि 4. अब्भंगणविहि 5. उव्वट्टणविहि 6. मज्जणविहि 7. वत्थविहि 8. विलेवण विहि 9. पुप्फविहि 10. आभरणविहि 11. धूवणविहि 12. पेज्जविहि 13. भक्खणविहि 14. ओदणविहि 15. सूपविहि 16. विगयविहि 17. सागविहि 18. महुरविहि 19. जेमणविहि 20. पाणीयविहि 21. मुखवासविहि 22.वाहणविहि 23. उवाणहविहि 24. सयणविहि 25. सचित्तविहि 26. दव्वविहि इच्चाइण जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स उवभोगपरिभोगस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा । सत्तमे उवभोगपरिभोगव्वए दुविहे पन्नत्ते तंजहा-भोयणओ कम्मओ य-तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरिव्वा तंजहा-1.सचित्ताहारे 2. सचित्तपडिबद्धाहारे 3. अपक्कोसहिभक्खणया 4. दुपक्कोसहिभक्खणया

5. तुच्छोसहिभक्खणया एवं कम्मओणं समणओवासएणं पण्णरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वइं तंजहा- 1. इंगालकम्मे 2. वणक्कमे 3. साड़ीकम्मे 4.भाड़ीकम्मे 5. फोडीकमे 6. दंतवाणिज्जे 7. लक्खवाणिज्जे 8. रसवाणिज्जे 9. केसवाणिज्जे 10. विषवाणिज्जे 11. जंतपीलणकम्मे 12. निल्लंछणकम्मे 13. दवग्गि दावणया 14. सरदह तलाय परिसोसणया 15. असइजण पोसणया जो मे देवसिओ कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

आठवां अणुव्रत

अट्ठमं अणट्ठदडं वेरमणव्वयं से य अणट्ठदंडे चउव्विहे पन्नते तंजहा- 1. अवज्झाणाचरिए 2.पमायारिए 3. हिंसप्पयाणे 4. पावकम्मोवएसे इच्चेवमाइस्स अणट्ठादंडासेवणस्स पच्चक्खाणं जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स अट्ठमस्स अणट्ठदंड वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- 1. कंदप्पे 2. कुक्कुइए 3. मोहरिए 4. संयुत्ताहिकरणे 5. उवभोग-परिभोगाइरित्ते जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

नववां अणुव्रत

नवमं सामाइयव्वयं सावज्ज जोग वेरमण रूवं जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स नवमस्स सामाइयव्वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-

1. मणदुप्पणिहाणे 2. वय दुप्पणिहाणे 3. कायदुप्पणिहाणे 4. सामाइयस्स सइ अकरणया 5. सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

दसवां अणुव्रत

दसमं देसावगासियव्वयं दिणमज्झे पच्चूसकालाओ आरब्भ पुव्वादिसु छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं तओ अइरित्त सेच्छाए काएणं गंतूणं अन्नेवा पेहिऊण पंचासवासेवणस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा, अह य छसु दिसासु जावइयं परिमाणं कयं तम्मज्झेवि जावइयाणं दव्वाइणं परिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स उवभोग परिभोगस्स पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं एगविंह तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्स दसमस्स देसावगासिय वयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- 1. आणवणप्पओगे 2. पेसवणप्पओगे 3. सद्दाणुवाए 4. रूवाणुवाए 5. बहियापुग्गलपक्खेवे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

ग्यारवां अणुव्रत

एकारसमं पोसह वयं असणपाण खइम साइम पच्चक्खाणं, अबंभपच्चक्खांण अमुक मणि सुवण्णाइ पच्चक्खाणं मालावण्णगं विलेवणाइ पच्चक्खाणं, सत्थमूसलाइ सावज्जजोग पच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं

पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। एअस्सएकारसमस्स पोसहवयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-1. अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जासंथारए 2. अप्पमज्जिय दुप्पमाज्जिय सिज्जा संथारए 3. अपपडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमि 4. अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि, 5. पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

बारवां अणुव्रत

बारसमं अतिहि-संविभागवयं असण पाण खाइम साइम वत्थ पडिग्गह कंबल पायपुंछणेणं, पडिहारिय पीढ़ फलग सेज्जा संथारएणं, ओसह भेसज्जेणं पडिलाभेमाणे विहरामि एयस्स अतिहिसंविभागवयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- सचित निक्खेवणया, सचित्तपिहणया कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरियाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं। -उपासक दशा. अ. 1, -आव. नि. 4

परिशिष्ट-1

प्रतिक्रमण-विधि

प्राक्कथन

आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण करने की विधि सम्बन्धी कोई संकेत या पाठ नहीं हैं। उसकी व्याख्या निर्युक्ति भाष्य आदि में स्पष्ट रूप से सुन्दर विधि बताई गई हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के 26 वें अध्ययन में भी दैवसिक रात्रिक दोनों प्रतिक्रमण की विधि श्रमण के लिये संक्षिप्त में बताई गई हैं। उत्तराध्ययन अध्ययन 29 में भी पृच्छा रूप में वर्णन है उससे भी प्रतिक्रमण सम्बन्धी कुछ विधि उपलक्षित होती हैं। निर्युक्ति भाष्य में सूचित विधि भी इन्हीं उक्त सूत्रोक्त विधि का अनुसरण करने वाली हैं। श्रमण प्रतिक्रमण की विधि के अनुरूप ही श्रावक प्रतिक्रमण की विधि भी समझी जा सकती हैं। यहां इस प्रकरण में श्रमण श्रमणेपासक दोनों के प्रतिक्रमण की विधि बताई गई है जो आगम के उपलब्ध पाठों के आधार से जानी गई हैं।

नोट- प्रचलित परंपरा में श्रमण एवं श्रमणोपासक के प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग में एवं प्रगट में हिन्दी भाषा में रचित अर्वाचीन पाठ बोले जाते हैं एवं कार्योत्सर्ग के बाद भी पुनः उन्हें ही बोला जाता हैं। उसके बाद में उक्त विधि में कहे गये आगमोक्त पाठ बोले जाते हैं। उनके बाद में सामान्य जन की भाषा (हिन्दी-गुजराती-मारवाड़ी) में रचित पांच पदों की भाव वंदना बोली जाती हैं। यही प्रमुख अंतर है-परंपरा प्रतिक्रमण विधि में एवं आगम कालीन प्रतिक्रमण विधि में। इन अर्वाचीन बने पाठों के बनने के पूर्व भी प्रतिक्रमण एवं उसकी विधि आगमानुसार चलती ही थी ।वे ही आवश्यक सूत्र के पाठ आज भी उपलब्ध हैं। अतः उन्हीं के आधार से यहां विधि बताई हैं।

परिशिष्ट-2

आवश्यक सूत्र से अतिरिक्त
आगमों से संकलित पाठ

प्राक्कथन

आवश्यक सूत्र के 6 आवश्यक में आये पाठों के अतिरिक्त भी कई सूत्रों में आये पाठ भी प्रतिक्रण की परंपरा में सम्मिलित है। ये कब कैसे सम्मिलित हुए इस विषयक कोई इतिहास परंपरा प्राप्त नहीं होती है।

आवश्यक सूत्र के मूल पाठ में तो केवल श्रमणों के प्रतिक्रमण योग्य पाठ ही है श्रावक के योग्य पाठ नहीं है। श्रावकों के भी प्रतिक्रमण करने का उल्लेख अनुयोग द्वार सूत्र में है। अतः इस आवश्यक सूत्र की चूलिका के रूप में या अन्य किसी भी रूप में वे पाठ रहे होंगे ऐसी सम्भावना होती है।

आज वह अलग रूप में नहीं होने से एवं अन्य आगमों में वैसे आवश्यक अनेक पाठ उपलब्ध होने से यह स्वीकार करना पड रहा है कि अतिरिक्त पाठ अन्य आगमों से संकलित होकर परंपरा में चल रहे हैं। इन संकलित पाठों में कई आवश्यक एवं उपयोगी पाठ है।

यहां पहले श्रमण प्रतिक्रमण में उपयोगी पाठों को देकर फिर श्रावक के अणुव्रत दिये हैं।

करेमि भंते का पाठ, इच्छमि ठामि का पाठ श्रमण श्रमणोपासक के एक ही है कुछ शब्दों का परिवर्तन है। ये दोनों पाठ श्रमण योग्य तो मूल आवश्यक सूत्र में ही उपलब्ध है। श्रमणोपासक योग्य इस प्रकरण में दिये हैं।

यह संकलन आगम निर्युक्ति भाष्य एवं अन्य साहित्य से भी किया गया है।

परिशिष्ट-3

तेतीस बोल विस्तार

प्रथम बोल से छट्टे बोल तक प्रचलित एवं सरल बोल है वे मूल आगम पाठ में प्रथम विभाग में दे दिये गये हैं। शेष बोलों में से कुछ बोलों का विस्तार यहां दिया जा रहा है। अन्य सूत्रों में आये बोलों के लिये उन सूत्रों को देखने का निर्देश भी कर दिया गया है।

भय के सात स्थान

भय यह मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। उसके प्रभाव से होने वाला आत्म-परिणाम भय कहलाता है। वह सात प्रकार का है-

1. इहलोकभय-सजातीय भय- जैसे मनुष्य को मनुष्य से होने वाला भय।
2. परलोकभय-विजातीय भय- जैसे तिर्यंच, देव आदि से होने वाला भय।

3. आदानभय-धन आदि के अपहरण से होने वाला भय।

4. अकस्मात् भय- बाह्य निमित्तों के बिना अपने ही विकल्पों से होने वाला भय।

5. वेदना भय- पीड़ा आदि से उत्पन्न भय।

6. मरण भय- मृत्यु का भय।

7. अश्लोक भय- अकीर्ति का भय।

8. (आठ मद प्रज्ञापना सूत्र सारांश में देखें)

9. **ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां-**

1. विविक्त- स्त्री पशु रहित शय्या उपाश्रय का सेवन करना।

2. स्त्री सम्बन्धी कथा वार्त्ता चर्चा आदि न करना।

3. स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठना एवं उनके उठनें के बाद भी उस स्थान पर कुछ देर नहीं बैठना।

4. स्त्रियों के अवयवों को, चेष्टाओं आदि को, आसक्त दृष्टि से न देखना।

5. स्त्रियों के हास्य विलाप गीत गुंजित ध्वनि आदि शब्दों को राग भाव से सुनना नहीं।

6. पूर्व अवस्था में आचीर्ण भोगों की स्मृति चिंतन न करना।

7. सदा प्रणीतरस- गरिष्ठ भोजन न करना।

8. अतिमात्रा में आहार न करना।

9. विभूषावृत्ति स्नान श्रंगार करना नहीं

10. शब्दादि इन्द्रिय विषयों में तथा यश कीर्ति श्लाघा में आसक्त न होना

नोट- यहां 10वां बोल उत्तरा. अ 16 की ब्रह्मचर्य की दस समाधि से लिया गया है

दस प्रकार का श्रमण-धर्म-

1. क्षान्ति - क्षमा, क्रोध का विवेक

2. मुक्ति - अकिन्चन्य, लोभ का विवेक

3. आर्जव - ऋजुता, माया का विवेक

4. मार्दव - मृदुता, मान का विवेक

5. लाघव - हल्कापन, अप्रतिबद्धता

6. सत्य - महाव्रत आदि पालन में सत्य निष्ठा

7. संयम - इन्द्रिय निग्रह आदि

8. तप - अनशन आदि

9. त्याग - साधर्मिक साधुओं को भोजन आदि देना।

10. ब्रह्मचर्यवास - नियम, उपनियम, दस समाधि से युक्त ब्रह्मचर्य पालन

ग्यारह श्रावक पडिमा और बारह भिक्षु पडिमा दशाश्रुतस्कंध सूत्र सारांश में देखें, तेरह क्रिया स्थान-

क्रिया का सामान्य अर्थ है प्रवृत्ति! प्रस्तुत प्रसंग में उन प्रवृत्तियों का संकलन है जो कर्मबन्ध की हेतुभूत है। क्रियाओं के विविध प्रकार के वर्गीकरण प्राप्त है। सूत्रकृतांग सूत्र के अनुसार तेरह क्रियाओं का उल्लेख इस प्रकार है-

1. अर्थदण्ड - अपने लिये या दूसरे के लिए हिंसा की प्रवृत्ति करना।
2. अनर्थदण्ड - निष्प्रयोजन हिंसा की प्रवृत्ति करना।
3. हिंसादंड - प्रतिशोध की भावना से हिंसा की प्रवृत्ति करना।
4. अकस्मात्दण्ड - किसी को मारने के प्रयत्न में किसी दूसरे को मार डालना।
5. दृष्टि दण्ड - दृष्टि की विपरीतता से होने वाली हिंसक प्रवृत्ति जैसे अचोर को चोर, मित्र को अमित्र मानकर मार डालना।
6. मृषाप्रत्ययिक - झूठ बोलने की प्रवृत्ति करना।
7. अदत्तादानप्रत्ययिक - चोरी की प्रवृत्ति करना।
8. अध्यात्म (मनः) प्रत्ययिक - अन्तर्मन से सावद्य प्रवृत्ति करना।
9. मानप्रत्ययिक - अहंकार के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करना।
10. मित्रद्वेषप्रत्ययिक - अपने ज्ञातिजनों के अल्प अपराध पर भारी दंड देना।
11. मायाप्रत्ययिक - मायायुक्त प्रवृत्ति करना।
12. लोभप्रत्ययिक - लोभ के वशीभूत होकर सावद्य प्रवृत्ति करना।
13. एर्यापथिक - समिति और गुप्ति की साधना में संलग्न अनगार वीतराग की प्रवृत्ति।
    इनमें प्रथम बारह अग्राह्य और तेरहवां क्रियास्थान उपादेय है।
14. जीव के भेद एवं 15 परमाधामी देव प्रज्ञापना सूत्र सारांश में देखें,
15. अध्ययन सूत्रकृतांग सूत्र सारांश में देखें,

सतरह प्रकार का असंयम

1. पृथ्वीकाय असंयम 2. अप्काय असंयम 3. तेजस्काय असंयम 4. वायुकाय असंयम 5. वनस्पतिकाय असंयम 6. द्वीन्द्रिय असंयम 7. त्रीन्द्रिय असंयम 8. चतुरिन्द्रिय असंयम 9. पंचेन्द्रिय असंयम 10. अजीवकाय असंयम 11. प्रेक्षा असंयम 12. उपेक्षा असंयम 13. अपहृत्य असंयम 14. अप्रमार्जना असंयम 15. मन असंयम 16. वचन असंयम 17. काया असंयम पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर जीवों तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का मन, वचन, काया से संघट्टन आदि करना, उन्हें पीड़ा पहुंचाना - यह इन जीवों के प्रति किया जाने वाला असयंम है। अजीव वस्तुएं जो निरन्तर काम में ली जाती है, उनके व्यवहरण में जो प्रमाद होता है, वह अजीवकाय असंयम है। स्थान आदि का प्रतिलेखन न करना- प्रेक्षा असंयम है। साधर्मिक व्यक्तियों को संयम के प्रति प्रेरित न करना - उपेक्षा असयंम है। परिष्ठापन योग्य भोजन, वस्तु आदि का परिष्ठापन न करना- अपहृत्य असंयम है।

अकुशल मन का प्रवर्तन मन असंयम है।
अकुशल वचन का प्रवर्तन करना वचन असंयम है।

काया की असम्यक् प्रवृत्ति करना काया असंयम है।

अठारह प्रकार का अब्रह्म- तीन करण व तीन योग से यों नौ प्रकार मनुष्य सम्बन्धी एवं नौ प्रकार तिर्यंच सम्बन्धी।

19. अध्ययन ज्ञाता सूत्र में, 20. असमाधि दोष 21. सबल दोष दशाश्रुत स्कंध में, 22. बावीस परीषह उत्तराध्ययन सूत्र में और 23. अध्ययन सूत्र कृतांग सूत्र में देखें, 24. देवता- 10 भवनपति, 8 व्यंतर, 5 ज्योतिषी, 1 वैमानिक पांच महाव्रतों की पच्चीस भावना आचारांग सूत्र एवं प्रश्न व्याकरण सूत्र में देखें, छब्बीस अध्ययन - तीन छेद सूत्रों के 26 उद्देशक है।

अनगार के सतावीस गुण

1. प्राणतिपात विरमण 2. मृषावाद विरमण 3. अदत्तादान विरमण, 4. मैथुन विरमण, 5. परिग्रह विरमण, 6. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, 7. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, 8. घ्राणेन्द्रिय निग्रह, 9. रसनेन्द्रिय निग्रह, 10. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह, 11. क्रोध विवेक, 12. मान विवेक, 13. माया विवेक, 14. लोभ विवेक, 15. भावसत्य- अन्तरात्मा की पवित्रता 16. करणसत्य- क्रिया की पवित्रता, 17. योगसत्य - मन वचन काया का सम्यक् प्रवर्त्तन, 18 क्षमा, 19. वैराग्य, 20. मन समाहरण- मन का संकोचन 21. वचनसमाहरण- वचन का संकोचन, 22. कायासमाहरण-काया का संकोचन, 23. ज्ञान संपन्नता, 24. दर्शन संपन्नता, 25. चारित्र संपन्नता, 26. कष्ट वेदना की सहनशीलता 27. मारणान्तिक कष्ट की सहनशीलता। आवश्यक हरिभद्रया वृत्ति (पृष्ट 113) में इनका उल्लेख भिन्न प्रकार से है वहां रात्रि भोजन विरमण सहित व्रत षट्क पांच इन्द्रियानिग्रह, षट्काय, (18) भाव सत्य (19) करण सत्य, (20) क्षमा, (21) विरागता, (22-24) मनोवाक्कायनिग्रह, (25) संयमयोगयुक्तता, (26) वेदनाअभिसहन (27) मारणान्तिक अभिसहन।

28. आचार-प्रकल्प- इसके दो अर्थ- 1. आचारांग का एक अध्ययन जो निशीथ कहलाता है तथा 2. साध्वाचार का व्यवस्थापन इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है-

1. आचार - आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधो के (16+91) पचीस अध्ययन
2. प्रकल्प - निशीथ के तीन अध्यन 1. लघु 2. गुरू 3. आरोपणा।

विशेष- ठाणांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र में इस सम्बन्ध में विस्तार से देखें,

प्रायश्चित्त की अपेक्षा 28 आचार प्रकल्प इस प्रकार है-

1. पांच दिन का प्रायश्चित 2. दस दिन का 3. पंद्रह दिन का 4. बीस दिन का 5. पच्चीस दिन का 6. एक मास का 7. एक मास पांच दिन 8. एक मास दस दिन 9. एक मास 15 दिन, 10. एक मास 20 दिन, 11. एक मास 25 दिन, 12. दो मास 13. दो मास पांच दिन 14. दो मास दस दिन 15. दो मासं पंद्रह दिन 16. दो मास 20 दिन, 17. दो मास पच्चीस दिन 18. तीन मास 19. तीन मास पांच दिन 20. तीन मास दस दिन, 21. तीन मास पंद्रह दिन 22. तीन मास बीस दिन 23. तीन मास पच्चीस दिन 24. चार मास। 25. लघु (अल्पतम) 26. गुरू (महत्तर) 27. संपूर्ण प्रायश्चित्त आरोपणा 28.

कुछ कम प्रायश्चित आरोपणा (रियायत) यथा- एक मास की 15 दिन आरोपणा, और दो मास की बीस दिन आरोपणा।

21. पाप सूत्र

जो शास्त्र पाप या बन्धन का उपादान होता है उसे ''पापश्रुत'' कहा जाता है। प्रसंग के दो अर्थ है- आसक्ति और आसेवन। पापश्रुतप्रसंग के उनतीस प्रकार ये है-

1. भौम 2. उत्पात 3. स्वप्न 4. अन्तरिक्ष 5. अंग 6. स्वर 7. व्यन्जन 8. लक्षण- इन आठों के सूत्र के सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक -ये तीन-तीन प्रकार होने से 24. भेद होते है। 25. विकथानुयोग 26. विद्यानुयोग 27. मंत्रानुयोग 28. योगानुयोग 29. अन्यतीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग ।

तीस महामोह बंध के स्थान दशाश्रुतस्कंध में देखें,

31. सिद्वों के आदि -गुण-

आदि गुण का अर्थ है- मुक्त होने के प्रथम क्षण में होने वाले गुण। उनकी संख्या इकतीस हैं। यह संख्या दो प्रकार से बतलाई गई हैं।

1. ज्ञानावरणीय कर्म की पांचों प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	5
2. दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	9
3. आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	4
4. अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	5
5. वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	2
6. मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	2
7. नाम कर्म की दो प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	2
8. गौत्र कर्म की दो प्रकृतियों की क्षीणता से निष्पन्न गुण	2
	31

दूसरे प्रकार के संख्या-आकलन में संस्थान , वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वेद- ये छः घटक तत्व है-

1. संस्थान- आयत, वृत्त, त्र्यंस, चतुरंस, परिमंडल ।

2. वर्ण - कृष्ण, नील, रक्त, पीत, शुक्ल ।

3. गंध - सुरभिगंध दुरभिगंध ।

4. रस - तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल, मधुर।

5. स्पर्श - कर्कश, मृदु, गुरू, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

6. वेद - स्त्री, पुरूष, नपुंसक। इनका कुल योग इकतीस होता है।

इन सब गुणों के साथ ''नकार'' लगाना चाहिए। जैसे वे न दीर्घ है, न ह्रस्व है आदि-आदि। इनके अतिरिक्त तीन गुण और है- अशरीरी, अजन्मा, अनासक्त।

32. योगसंग्रह- योग का अर्थ है- मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। उस प्रवृत्ति का संग्रह-संकलन योगसंग्रह है। यहां शुभ-आदर्श कर्तव्यों का गुणों का संकलन है वे बत्तीस इस प्रकार है-

1. आलोचना- अपने प्रमाद का निवेदन कर प्रायश्चित ग्रहण करना।
2. निरपलाप- आलोचित प्रमाद का अप्रकटीकरण।
3. आपातकाल में दृढ़धर्मता- दृढ़धर्मी बने रहना।
4. अनिश्रितोपधान- दूसरों की सहायता लिए बिना तपःकर्म करना।
5. शिक्षा- सूत्रार्थ का पठन-पाठन तथा क्रिया का आचरण।
6. निष्प्रतिकर्मता- शरीर की सार-संभाल या चिकित्सा का वर्जन।
7. अज्ञातता- अज्ञात रूप में तप करना, उसका प्रदर्शन या प्रख्यापन नहीं करना। अथवा अज्ञात कुल की गोचरी करना।
8. अलोभ- निर्लोभता का अभ्यास करना।
9. तितिक्षा- कष्ट-सहिष्णुता, परीषहों पर विजय पाने का अभ्यास करना।
10. आर्जव- सरलता। साफ दिल सरल होना।
11. शुचि- पवित्रता- सत्य, संयम आदि का आचरण।
12. सम्यग्दृष्टि- सम्यग्दर्शन की शुद्धि।
13. समाधि- चित्त-स्वास्थ्य। चित्त की प्रसन्नता बनाये रखना।
14. आचार- आचार का सम्यग् प्रकार से पालन करना।
15. विनयोपग- विनम्र होना, अभिमान न करना।
16. धृतिमति- धैर्ययुक्त बुद्धि, दीनता नहीं करना धैर्य रखना।
17. संवेग- वैराग्य वृद्धि अथवा मोक्ष की अभिलाषा।
18. प्रणिधि- अध्यवसाय की एकाग्रता, शरीर की स्थिरता रखना।
19. सुविधि- सद्अनुष्ठान का अभ्यास।
20. संवर- आश्रवों का निरोध।
21. आत्मदोषोपसंहार- अपने दोषों का उपसंहरण, निष्कासन।
22. सर्वकामविरक्तता- सर्व विषयों से विमुखता।
23. प्रत्याख्यान- मूलगुण विषयक त्याग अथवा पाप त्याग।
24. त्याग- उत्तरगुण विषयक त्याग अथवा नियमोपनियम बढ़ाना।
25. व्युत्सर्ग- शरीर, भक्तपान, उपधि तथा कषाय का विसर्जन।
26. अप्रमाद- प्रमाद का वर्जन। अप्रमत्त भाव का अभ्यास।

27. लवालव- समाचारी के पालन में सतत जागरूक रहना।
28. ध्यानसंवरयोग- ध्यान संवर अक्रियता की वृद्धि करना।
29. मारणांतिक उदय- मारणातिक वेदना में क्षुब्ध न होना, शांत और प्रसन्न रहना।
30. संग परीज्ञा- आसक्ति का त्याग। शरीर उपकरण शिष्यादि में अनासक्त भाव का अभ्यास।
31. प्रायश्चित्तकरण- दोष-विशुद्धि का, लिये हुए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करना।
32. मारणांतिक आराधना- मृत्युकाल में आराधना करना। संलेखना संथारा करने के संस्कारों को दृढ़ करना। अभ्यास करना।

तेतीस आशातना- शिष्य के द्वारा गुरू रत्नाधिक के प्रति अभक्ति अविनयके व्यवहारों को आशातना कहा गया है। वे तेतीस कही गई है। दूसरी अपेक्षा अरिहंत सिद्धादि से लेकर लोक के समस्त प्राणियों की एवं अध्ययन आगम सम्बन्ध अविवेक युक्त आचरणों का संकलन करके तेतीस आशातनाएं कहीं गई है। मौलिक रूप में तो सूत्र गत तेतीस आशातनाएं गुरू शिष्य सम्बन्धी ही हैं। दूसरी प्रकार व्याख्याकारों ने संकलन करके समझाया है।

प्रथम प्रकार की तेंतीस आशातना-

1-9. गुरू या बड़ों के 1. आगे 2. पीछे 3. बराबर अविनय से 1. चले 2. खड़ा रहे 3. बैठे।
10-11. शौच आदि के लिये बड़ों के साथ जाकर पहले आ जावे, पहले इरियावहि का कायोत्सर्ग करे।
12. आगंतुक विशेष व्यक्ति से गुरू के पहले शिष्य वार्त्ता करे।
13. रात्रि के समय गुरू के पूछने पर जागृत होते हुए भी न बोले।
14-17. गोचरी लाने के बाद आहरादि की वार्त्ता पहले अन्य को कहे, आहार दिखावे, निमंत्रण करे और देवे फिर गुरू को कहे, दिखावे, निमंत्रण करे और देवे।
18. साथ में बैठ कर आहार कर रहे हो तो मनोज्ञ आहार को शिष्य बड़ों की अपेक्षा जल्दी और ज्यादा खावे अर्थात् आशक्ति भाव के कारण माया करे या अविवेक करे।
19-20. गुरू आदि के बुलाने पर सुना अनसुना करदे या उद्धतापूर्वक अविनय से बोले।
21. गुरू के बुलानेपर रोषयुक्त बोले कि क्या है, क्या कहते हो ?
22. शिष्य गुरू आदि को तूं तूं ऐसे तुच्छ शब्द से कहे।
23. शिक्षा या सेवा कार्य बताने पर कहे कि ऐसा तो आप ही कर लो अथवा आप ही क्यों नहीं कर लेते हो।
24. गुरू आदि धर्मोंपदेश दे रहे हो तो उसे अच्छा नहीं समझे, अनमना रहे।
25. धर्म कथा करते समय गुरू आदि को कहे - आपको यह याद नहीं है।
26. धर्म कथा करते समय गुरू का या परिषद का लिंक-एकाग्रता तोड़े।
27. श्रोताजन को उपदेश से खिन्न करे।
28. गुरू के कहे उपदेश को पुनः स्वयं कहे।
29. गुरू के आसन या उपकरण के पांव लग जाने पर उसका खेद प्रकट किये बिना अनुनय विनय शिष्टता किये बिना ही चला जावे।

30. गुरू के बिना कहे ही उनके शय्या आसन पर बैठे, सोवे या खड़ा रहे।

31. शिष्य गुरू से ऊंचे आसन पर बैठे सोवे अर्थात् उनसे अपने को ज्यादा समझे या अविवेक करे।

32. शिष्य गुरू के बराबरी में बैठे सोवे खड़ा रहे अर्थात् उनकी बराबरी करे या अविवेक करे।

33. गुरू आदि के कुछ भी कहने पर दूर रहे अपने आसन पर अविवेक युक्त बैठे-बैठे ही सुने, उत्तर देवे। विवेक विनय पूर्वक निकट आकर न बोले।

दूसरे प्रकार की तेतीस आशातना

1. अरिहंत 2. सिद्ध 3. आचार्य 4. उपाध्याय 5. साधु 6. साध्वी 7. श्रावक 8. श्राविका 9. देव 10. देवी 11. इस लोक 11. परलोक 13. केवलिप्रज्ञप्त 14. देव मनुष्य मय लोक 15. सर्व प्राणी 16. काल 17. श्रुत 18 . गणधर 19. वाचनाचार्य इन उन्नीस की आशातना ।

शेष 14 ज्ञान के अतिचारों का यहां संकलन समझना चाहिये। इस प्रकार 19+14=33 यह व्याख्याकार कृत प्रकारांतर से 33 आशातना का संकलन हैं। काल प्रमाद दोष से मौलिक आशातना की जगह इन संकलित 33 आशातनाओं ने सूत्र के मूल पाठ में स्थान ले लिया हैं। पांच अस्तिकाय, षड जीवनिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचन माता एवं नौ तत्त्व इन तेतीस तत्त्वों के प्रति अविनय करना आशातना है यह तीसरा प्रकार ''मूलाचार'' ग्रंथ में हैं।

नोट– इन तेतीस बोलों का थोकडा भी अलग से प्रचलित है एवं उसकी स्वतंत्र पुस्तक भी उपलब्ध होती हैं। प्रत्येक साधक को वह थोकड़ा पूर्ण रूप से कंठस्थ धारण करना चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र

प्रस्तावना-

साहित्य समाज का दर्पण है, वही संस्कृति का प्रस्तोता है, मार्गदर्शक भी है, भूत और भविष्य का वक्ता भी साहित्य है, वर्तमान का चिराग है, सत्साहित्य सद्‌गुणों का अक्षय कोष है, मोक्ष मार्ग का दीप है। अतः आगम ही जैन साहित्य की अमूल्य निधि है, भूमिका है, आगम अक्षर देह से जितने विशाल है , उससे भी अधिक अर्थ गरिमा की दृष्टि से गहन एवं व्यापक है।

सूत्र स्थान-

दशवैकालिक अंग बाह्य और उत्कालिक सूत्र है, इसे वर्तमान में मूल सूत्रों में गिना जाता है और इसका अध्ययन श्रमण के लिए अनिवार्य माना जाता है। जिन आगमों में श्रमण के आचार संबंधी मूल गुणों, महाव्रत, समिति, गुप्ति, ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि का निरूपण है ,जो श्रमण जीवन चर्या में मूल सहायक बनते हैं। इन सब का अध्ययन सुचारू रूपेण जिसमें मिलता हो, वह मूल सूत्र है। अतः दशवैकालिकभी मूल सूत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। यह उत्कालिक सूत्र है, इसे अस्वाध्याय समय को छोड़कर सभी समयों में पढ़ा जा सकता है।

ऐतिहासिक परिचय-

इस सूत्र की रचना के लिए इतिहास एवं कथानक ऐसा उपलब्ध है कि शय्यंभवाचार्य ने अपने अल्प वयस्क दीक्षित पुत्र को बोध कराने के लिए विभिन्न आगम सूत्रों से साध्वाचार के विषयों का निर्यूहण करके इसकी रचना की।

दोनों चूलिकाओं के लिए कथानक एवं इतिहास ऐसा उपलब्ध है कि स्थूलिभद्र जी की बहिन महाविदेह क्षेत्र से लाई थी जिन्हें यहां जोड दी गई। लेकिन अगस्त्यसिंह सूरी- इन चूलिकाओं के कर्त्ता भी शय्यंभवाचार्य को ही मानते हैं। उक्त दोनों कथानक समीक्षा करने पर महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते हैं।

नन्दीसूत्र की श्रुत-सूचि में इस शास्त्र की अंगबाह्य सूत्रों में गिनती की है। अतः यह नन्दी सूत्र से पूर्व रचित है इतना तो स्पष्ट ही है।

रचनाः- इस आगम के रचनाकार आचार्य शय्यंभव है ऐसा माना जाता है। ये राजगृही के ब्राह्मण परिवार के थे, इनका जन्म वीर निर्वाण के 36 वर्ष बाद (विक्रम पूर्व 434 में) हुआ, ये वेंदाती थे, जैन मान्यताओं के कट्टर विरोधी थे। एक समय आचार्य प्रभव के दो शिष्य इन्हें प्रतिबोध देने गये, तो उनका घोर अपमान किया, परन्तु निर्ग्रन्थ भी निर्ग्रन्थ थे, उनके मुखारविंद से निकले एक शब्द ने इनकी विचारधारा को, मिथ्यात्व को सम्यक्त्व में बदल दिया, परिवर्तित कर दिया ''अहो कष्ट महो कष्टं तत्वं विज्ञायते ना हि'' अहो खेद की बात है, तत्व नहीं जाना जा रहा है। बस शय्यंभव को इस वाक्य ने बदल दिया, उसने सोचा जो मैं जान रहा हूं या मान रहा हूं, वह अलग है, सत्य कुछ अलग है, उसी समय वह

तलवार लेकर अपने गुरु के पास पहुंचा और नंगी तलवार के इशारे से गुरु ने सत्य बात बतादी कि अर्हम धर्म ही यथार्थ धर्म एवं तत्त्व है, शय्यभंव अभिमानी परन्तु सच्चे जिज्ञासु थे, वे उसी क्षण अपने गुरु के पास से रवाना होकर आचार्य प्रभव के पास पहुंचे और आत्म बोध प्राप्त कर दीक्षित हुए।

नामकरण–

दशवैकालिक का शाब्दिक अर्थ दस+वैकालिक अथवा उत्कालिक से है। इसमें उत्काल में भी पढ़े जाने वाले दस अध्ययन है। इसलिए दशवैकालिक नामकरण किया गया है। यह आगम 10 अध्ययन और 2 चूलिकाओं में विभक्त है। इनमें से पांचवे में दो और नवमें में 4 उद्देशक हैं, शेष में उद्देशक नहीं है। अध्ययन 4 एवं 9 में गद्य पद्यात्मक है, शेष पद्यात्मक रचना है। यह सूत्र 700 श्लोक परिमाण माना गया है।

विषय–

इस सूत्र में साध्वाचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके दस अध्ययन एवं दो चूलिकाएं हैं। प्रत्येक के वर्ण्य विषय क्रमशः इस प्रकार है- 1. भिक्षा भ्रमरवृत्ति, 2. स्त्री परिषह, 3. अनाचार, 4. छः काया पांच महाव्रत, 5. पिण्डैषणा, 6. अठारह आचार स्थान, 7. भाषा-विवेक, 8. आचार-प्रनिधि, 9. विनय-समाधि, 10. भिक्षु स्वरुप, 11. प्रथम चूलिका-संयम-रुचि-वृद्धि, 12. द्वितीय चूलिका-एकल विहार की प्रेरणा एवं उसकी सावधानियां।

साहित्य संस्करण–

इस सूत्र पर दो चूर्णियां प्रकाशित है। अगसत्यसिंह सूरिकृत एवं जिनदासगणि कृत। हरिभद्री टीका भी मुद्रित है उसके बाद भी अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर टीकाएं लिखी हैं जिनमें कई प्रकाशित है। यह सूत्र भी बहुत प्रचलित सूत्र है इसके सैकड़ों संस्करण प्रसारित हुए हैं। अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

विमलकुमार नवलखा, सूरत

दशवैकालिक सूत्र

प्रथम अध्ययन का सारांश

1. धर्म अहिंसा प्रधान होता है। संयम प्रधान होता है एवं साथ ही तप प्रधान भी होता है। ऐसा धर्म ही आत्मा के लिए महान कल्याणकारी होता है।

2. शुद्ध भावों से धर्म की आराधना करने वाले को देवों के लिए लालायित नहीं होना पड़ता है। अपितु देव स्वमेव उसे वन्दन नमस्कार करने के लिए उपस्थित होते हैं।

इसलिए सूत्र में कहा गया है कि धर्म उत्कृष्ट मंगल रुप है और वह अहिंसा संयम तप रुप है। जिनका मन धर्म में अनुरक्त रहता है उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

3. भिक्षु की भिक्षाचर्या भ्रमर की वृत्ति के समान है, अर्थात जैसे भ्रमर भ्रमण करता हुआ फूलों से रस ग्रहण कर लेता है। ये फूल भ्रमर के लिए रस तैयार नही करते हैं। उसी प्रकार भिक्षु भी गृहस्थों द्वारा स्वयं अपने लिए बनाये गये आहारादि में से थोड़ा-थोड़ा अनेक घरों से गृहण करता है। विशेषता यह है कि मुनि गृहस्थ द्वारा दिये जाने पर ऐषणा समिति की मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए आहारादि को ग्रहण करता है।

4. भ्रमर की उपमा- 1. सहज ही गृहस्थों के लिए निष्पन्न, 2. अनेक घरों में एवं 3. अत्यल्प प्रमाण में लेने की अपेक्षा दी गई है।

5. किसी एक व्यक्ति पर अवलम्बित न होकर ''णाणा पिण्डरया दंता'' अनेक घरों में से थोड़ा-थोड़ा लेकर संयम में रत रहने वाले साधु मुनि कहे जाते हैं।

दूसरें अध्ययन का सारांश

1. प्राप्त सुख सामग्री का स्वेच्छा से त्याग करने वाला त्यागी कहा जाता है। जो शरीर के स्वस्थ समर्थ एवं सशक्त होते हुए भी प्राप्त भोगों का त्याग कर देते हैं वे त्यागी कहे जाते हैं।

2. सुकुमारता एवं सुखशीलियापन से कामवासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है। किन्तु इनका त्याग करके आतापना लेना, विहार करना आदि कायक्लेश तप अथवा परिश्रमी जीवन वृत्ति (चर्या) धारण करना आवश्यक होता है।

3. कामवासनाओं का एवं इच्छाओं का नियंत्रण हो जाने पर दुःखों का नियंत्रण तो स्वतः हो जाता है।

4. अगन्धन कुल के सर्प अपने छोड़े हुए विष को मृत्यु संकट आ जाने पर भी पुनः ग्रहण नहीं करते। वैसे ही मुनि को त्यागे हुए भोगों एवं 18 पापों की, कभी भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। त्यागे हुए भोगों की चाहना एवं पुनः सेवन करने वाले व्यक्ति वमन को चाटने वाले कौए और कुत्ते आदि जैसे निम्न पशु-पक्षियों के समान निन्दा के पात्र होते हैं।

5. कदाचित मोहकर्म के उदय से स्त्री आदि को देखकर विषय वासना जागृत हो जाय तो अन्यत्व भावना से अंतः करण को भावित करना एवं उसके भावी विपाक (फल) का चिंतन करके संयम में स्थिर रहना तथा शरीर को कृ शकरना।

6. वैराग्य एवं ज्ञान पूर्वक स्व विवेक के द्वारा संयम ब्रह्मचर्य में मेरु के समान स्थिर होना चाहिए।

जिस प्रकार कि राजमति के द्वारा प्रतिबोधित अस्थिरात्मा रथनेमि पुनः स्थिर होकर ब्रह्मचर्य संयम की आराधना करके संसार चक्र से मुक्त हो गये।

तीसरे अध्ययन का सारांश

1. इस अध्ययन में भिक्षु के लिये अनाचरणीय अनेक प्रवृत्तियों का संग्रह है। प्रचलन में श्रुति परंपरा में जिनको बावन अनाचारों के नाम से कहा जाता है। वास्तव में भिक्षु के सैकड़ों अनाचरणीय प्रवृत्तियें हैं जो भिन्न-भिन्न आगमों में अनेक प्रकार से वर्णित है। अतः बावन अनाचारों को ही समग्र अनाचार नहीं समझ लेना चाहिए।

2. 1. साधु के निमित्त बना, 2. खरीदा, 3. सामने लाया, 4. नित्य निमंत्रण, 5. राजपिण्ड, 6. दानपिण्ड, 7. शय्यातर पिण्ड, 8. सचित्त या मिश्र आहार पानी, 9. सचित्त-मूला, अदरक, इक्षु खण्ड, कन्द मूल फल एवं बीज आदि, 10. सचित्त-सेंचल, सेंधव नमक, रोम नमक, सामुद्रिक नमक, काला नमक एवं पंसुखार आदि नमक।

इन खाद्य पदार्थों का ग्रहण करना साधु के लिए अनाचार है।

3. 11. रात्रि भोजन, 12. रात्रि संग्रह, 13. गृहस्थ के बर्तन, 14. छत्र, 15. औषध उपचार, 16. जूते, 17. अग्नि जलाना, 18. मुड्ढा (दुष्प्रतिलेख्यआसन), 19. पलंग (खाट आदि), 20. गृहस्थ के घर में बैठना, 21. सुगन्धी-इत्र तेल, 22. पुष्प आदि की माला, 23. पंखे आदि से हवा करना आदि ये सब साधु के लिए त्याज्य हैं।

4. 24. स्नान, 25. सम्बाहन-मर्दन, 26. दन्तप्रक्षालन, 27. देह अवलोकन (कांच आदि में मुंह देखना), 28. उबटन (पीठी), 29. धूवण (नाक द्वारा जल प्राणायाम), 30. वमन, 31. वस्तीकर्म, 32. विरेचन (जुलाब), 33. अंजन, 34. मंजन, 35. विभूषा ये सब शरीर परिकर्म भिक्षु के लिए त्याज्य है।

5. 36. अष्टापद खेल, 37. नालिका खेल, 38. गृहस्थ की सेवा, 39. निमित्तादि से आजीविका वृत्ति, 40. गृहस्थ शरण से रहना, ये कार्य संयम मर्यादा के योग्य नहीं है।

6. भिन्न पद्धति से गिनने पर ये 40 ही 52 हो जाते हैं।

7. मुनि पांच आश्रवों के त्यागी छः काया के रक्षक, तीन गुप्ति को धारण करने वाले और पांच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले होते हैं।

8. सुसमाधिवंत मुनि ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेते हैं, शीतकाल में निर्वस्त्र रहते हैं एवं वर्षा ऋतु में प्रवृत्तियों का संकोच करके एक स्थान पर रहते हैं।

9. वे दुष्कर संयम तप का पालन करके, परीषह उपसर्ग सहन करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध होते हैं।

चौथे अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में छः काया का एवं पांच महाव्रत, छठे रात्रि भोजन व्रत का विस्तृत स्वरुप बताया है, एवं इस विषय में भिक्षु की प्रतिज्ञा ग्रहण करने की विधि है।

इस सम्पूर्ण अध्ययन का उच्चारण करके नव दीक्षित भिक्षु को महाव्रतारोपण बडी दीक्षा दी जाती है।

1. सूक्ष्म एवं स्थूल सभी प्रकार की हिंसा, झूठ, अदत्त, कुशील परिग्रह एवं रात्रि-भोजन का मन, वचन, काया, से सेवन करना, कराना या अनुमोदन करना, जीवन पर्यन्त के लिए भिक्षु त्याग करने प्रतिज्ञा बद्ध हो जाता है।

2. चार स्थावर एवं त्रस काय की सम्पूर्ण हिंसा को त्याग कर, वह प्रतिज्ञा बद्ध हो जाता है।

3. वायुकाय की अपेक्षा- 1. फूंक देने एवं 2. हवा करने का वह त्याग करता है। शेष प्रवृत्ति चलना, उठना,बैठना, बोलना, खाना, सोना आदि यतना से सावधानी से अर्थात् वेग रहित शान्ति से करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है।

4. नाड़ी के स्पंदन मात्र से भी वायुकाय की हिंसा होती है अतः उक्त अपेक्षा से ही भिक्षु के वायुकाय संबंधी प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त के लिए होती है।

5. इन सभी प्रतिज्ञाओं के ग्रहण करने में उसके स्व आत्म कल्याण का प्रयोजन होता है। जन कल्याण, संयम ग्रहण का प्रयोजन नहीं है, वह तो उसका संयम योग-स्वाध्याय प्रवृत्ति है।

6. संयम पलन करने में- संयम संबंधी सभी विधियों का, जीव-अजीव आदि तत्वों का, ज्ञान करना, चिन्तन करना एवं अनुभव करना, अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए सूचित गाथा का भाव हिन्दी पद्य में इस प्रकार है-

प्रथम ज्ञान पीछे क्रिया, यह जिनमत का सार।

ज्ञान सहित क्रिया करे, तो उतरे भव पार।

7. ज्ञान के बिना हिता-हित का कर्तव्या-कर्तव्य का बोध नहीं होता है, कर्म बंध और निर्जरा का ज्ञान भी नहीं होता है जिनका होना भी साधना में अत्यंत आवश्यक है।

8 सुखशील, निद्राशील, प्रक्षालन (धोने की), प्रवृत्तिशील, साधु की सद्गति होना दुर्लभ है।

9. तप-गुणों की प्रधानता वाले, सरल बुद्धि, क्षमादि धर्मों का पालन करने वाले, परीषह, विजेता, भिक्षु की सद्गति होना सुलभ है।

10. पिछली वय-वृद्धावस्था में भी दुर्लभ संयम को प्राप्त करके जो तप संयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य में लीन रहता है, वह भी शीघ्र कल्याण कर लेता है अर्थात् अल्प समय का भी शुद्ध भाव पूर्वक पालन किया हुआ संयम सद्गति को प्राप्त करा देता है।

पांचवे अध्ययन का सारांश

प्रथम उद्देशक–

1. इस अध्ययन में दो उद्देशक है। दोनों में आहारादि की गवेषणा और परिभोगेषणा संबंधी विधि एवं निषेध है।

2. भिक्षा के योग्य समय में भिक्षु उद्वेग एवं मूर्च्छा से रहित होकर चार हाथ प्रमाण भूमि में बीज-हरी एवं त्रस स्थावर जीवों का शोधन- संरक्षण करते हुए शान्त चित्त से एवं मंद गति से चले।

3. कंटक आदि से युक्त एवं विषम मार्गों से न जावे।

4. तुस या राख आदि में चलना हो और पावों पर सचित रज हो तो प्रमार्जन करना चाहिए।

5. वेश्याओं के मोहल्लों में गोचरी न जावे।

6. उग्र-पशु, खेलते हुए बालक एवं कलह-युद्ध आदि से युक्त मार्ग,में न जावे।

7. गोचरी के लिए जाता हुआ उतावल से न चलें, बातें करते हुए न चलें, हंसते हुए न चलें।

8. चोरी की शंका के स्थान-संधि आदि को देखता हुआ न चले एवं राजा या राजपुरुष आदि के गुप्त बातचीत के स्थानों से दूर रहे।

9. निषिद्ध एवं अप्रतीतिकारी कुलों में न जावे।

10. दरवाजा, पर्दा आदि ढंके हो तो गृहस्थ की आज्ञा बिना न खोले।

11. मल-मूत्रकी बाधा होजाय तो उसे रोके नहीं।

12. फूल, बीज बिखरे हुए न हो ऐसे एवं प्रकाशयुक्त स्थान में गोचरी करे।

13. बछड़े, कुत्ते आदि पशु को उल्लंघन करके या हटा करके न जावे।

14. स्त्री एवं कोई भी पदार्थों या स्थानों को टकटकी (घूर कर) आसक्ति भाव से न देखे।

15. जिस घर में साधु के प्रवेश योग्य जितना स्थान हो वहीं तक जावे।

16. सचित्त -जल, पृथ्वी, बीज, हरी का वर्जन करता हुआ खड़ा रहे।

17. गिराते हुए भिक्षा दे तो नहीं लेना। प्राणी, बीज, हरी का स्पर्श करके या कुचलते हुए दे तो नहीं लेना, जल की विराधना या स्पर्श करके दे तो नहीं लेना।

18. देने के पहले या पीछे हाथ, बर्तन आदि को धोवे तो नहीं लेना।

19. हाथ, बर्तन आदि किसी भी सचित या मिश्र पदार्थ हरी, बीज, नमक, सचित पृथ्वी या जल बिन्दु से लिप्त हो या संयुक्त हो, तो उससे न लेना।

20. भागीदारों की भावना को जानकर अनुकूलता होने पर लेना।

21. गर्भवती स्त्री के लिए बना आहार, उसके खाने के पूर्व न लेना एवं उसको उठना या बैठना पड़े तो उसके हाथ से भी नहीं लेना।

22. बच्चे को स्तनपान कराती हुई स्त्री उसे रोता हुआ छोड़कर बहरावे तो नहीं लेना।

23. किसी पदार्थ के कल्प्या-कल्प्य में शंका हो तो उसे छोड़ देना।

24. अधिक भारी पदार्थों को उठाना पडे या कोई पेकिंग खालेना पड़े अर्थात् कठिनाई से कुछ भी दिया जाय तो नहीं लेना।

25. किसी भी प्रकार का दानपिंड या श्रमण के निमित्त बनाया हुआ, खरीदा हुआ या सामने लाया हुआ एवं मिश्र-पूति-कर्म दोष वाला आहार नहीं लेना।

26. दोष की शंका हो और वह पदार्थ लेना आवश्यक हो तो निर्णय करने के लिए किसने बनाया, यह जानकारी करके फिर उससे पूछना कि किसके लिए बनाया? कब बनाया? इत्यादि सरल भद्रिक परिणामी व्यक्ति से एकाध प्रश्न करके एवं (होशियार) चपल अनुरागी से अनेक प्रश्न करके सही निर्णय करना।

27. सचित जल, फूल, हरी, बीज आदि पर पड़े खाद्य पदार्थ नहीं लेना।

28. अग्नि पर रखे पदार्थ एवं अग्नि की विराधना करके दिए जाने वाले पदार्थ नहीं लेना।

29. हिलने वाले काष्ट, सिला या पत्थर पर नहीं चलना।

30 ऊंचे, नीचे से निसरणी लगाकर दे अर्थात् दाता के गिरने फिसलने का भय हो इस प्रकार दे या कष्ट पूर्वक दे तो नहीं लेना।

31. कंद, मूल, अदरक, फल या भाजी आदि सचित हो अथवा शस्त्र से काटे हुए भी तो न लेना अर्थात् पके फल काट कर बीज निकाले हुए हों और शेष कच्ची वनस्पतियां अग्नि पक्क हों तो ही अचित होती है और तभी भिक्षु के लिए ग्राह्य होती है।

32. बेचने के लिए खुली पड़ी, सचित रज से भरी, मिठाई आदि नहीं लेना।

33. जिसमें फेंकने योग्य भाग ज्यादा हो, वैसी वस्तु नहीं लेना।

34. आटे के बर्तन धोया, चावल धोया या अन्य किसी भी पदार्थ से लिप्त बर्तन धोया हुआ पानी, दिखने मेंअच्छा हो या खराब, किन्तु प्यास बुझाने योग्य हो और उसे धोए हुए को एक घडी या दो घडी (24 या 48 मिनट) हो गए हों तो

भिक्षु ग्रहण कर सकता है। कभी देखने पर वह पानी प्यास बुझने में सन्देह वाला दिखे तो चखकर भी निर्णय किया जा सकता है। लेने के बाद भी प्यास बुझाने योग्य न लगे तो विधि पूर्वक अचित स्थान में परठ देना चाहिए।

35. गोचरी गया हुआ भिक्षु कभी कोई पदार्थ शारीरिक कारण से वहीं पर लेना (खाना-पीना) आवश्यक समझे तो एकान्त कमरे आदि की गृहस्थ आज्ञा लेकर खा-पी सकता है। किन्तु वहां गन्दगी तनिक भी न करे।

36. भिक्षा लेकर उपाश्रय में विनय पूर्वक प्रवेश करना, गुरु को आहार दिखाना, इरियावही का कायोत्सर्ग करना, दोषों की आलोचना करना, स्वाध्याय करना एवं असावद्यवृत्ति की अनुमोदना का चिंतन रुप ध्यान करना। फिर अन्य साधुओं को निमंत्रण करना, निमंत्रण स्वीकार करने पर उन्हें देकर या उनके साथ आहार करना। निमंत्रण स्वीकार न करने पर अकेले ही यतना से विधि पूर्वक आहार करना।

37. खाने की विधि-आहार की निन्दा प्रशंसा नहीं करना, स्वाद के लिए पदार्थों का संयोग न करना। जिस कारण से जितना आहार आवश्यक हो उतना खाना, किन्तु अपनी खुराक से कुछ भी कम अवश्य खाना।

38. अति धीरे या अति जल्दी नहीं खाना। चौड़े पात्र में और नीचे नहीं गिराते हुए, मुंह से चटाचट या सुड़-सुड़ आदि किसी प्रकार की आवाज न आवे इस प्रकार खाना-पीना।

39. जैसा भी संयम योग्य स्वास्थ्य योग्य आहारादि मिला उसे घी-शक्कर खाने की बुद्धि से एवं चित्त की प्रसन्नता से खाना।

40. अत्यल्प आहार मिला हो तो भी खेद नहीं करना। तप समझ कर संतोष करना।

41. निःस्वार्थ भाव से (अर्थात् कुछ भी प्रत्युपकार की आशा न रखते हुए) देने वाला दाता और निःस्पृह भाव से (अर्थात् आशीर्वचन आदि न रखते हुए एवं रागभाव या कुछ प्रत्युपकार न करते हुए) लेने वाला मुनि ये मुधादाई और मुधाजीवी कहे जाते हैं और सद्गति को प्राप्त करते हैं।

दूसरा उद्देशक-

1. आवश्यकता होने पर भिक्षु आहार करने के पहले या बाद में पुनः गोचरी जा सकता है। ध्यान यही रहे कि उस बस्ती में भिक्षा मिलने का अनुकूल समय होना चाहिए।

2 मार्ग में पशु या पक्षी, दाना-आहार या पानी ले रहे हों तो उन्हें किसी भी प्रकार से अंतराय नहीं हो, ऐसा विवेक रखना।

3. गोचरी के लिए गया हुआ भिक्षु गृहस्थ के घर में बातें करने के लिए खड़ा नहीं रहे और न बैठें।

4. दरवाजे-खड़की या उसके किसी भी विभाग का अवलंबन नहीं ले।

5. कोई याचक द्वार पर हो तो उस घर में भिक्षा के लिए न जाना और न उनके सामने खड़े रहना।

6. जलज खाद्य वनस्पतिएं, ईक्षु खंड आदि अचित एवं शस्त्र परिणत न हो तो नहीं लेना। फलिएं बारंबार (अच्छी तरह) भुनी हुई न हो तो नहीं लेना। फलियों के समान अन्य भी भुने जाने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में समझ लेना चाहिए।

7. बीज, फल एवं अन्य वनस्पतिएं तथा इन सभी के चूर्ण भी अचित न हों और अग्नि आदि से शस्त्र परिणत न हो तो नहीं लेना।

8. भिक्षु सामान्य घरों को छोड़ते हुए केवल धनाढ्य घरों में ही गोचरी न जावे।

9. खाद्य पदार्थ या अन्य वस्त्र शय्या-संस्तारक आदि होते हुए और सामने दिखते हुए भी दाता न दे तो किंचित भी खिन्न न होना।

10. कोई अधिक सन्मान देने वाले हो तो भी भिक्षु कुछ भी विशेष वस्तु मांगे नहीं अर्थात् सामान्यरुप से खाने और देने योग्य पदार्थ रोटी, साग, पानी, छाछ आदि की भिक्षु याचना कर सकता है।

11. जो भी भिक्षा मिले उसमें लोभ न करके आवश्यकतानुसार ही लेवें। साथ ही दाता और पास में देखने वालों के भावों का विवेक रख कर ले। एवं गुरु आदि किसी से कुछ भी छिपाकर न खावे। प्राप्त आहार को सरल भाव एवं सरल व्यवहार से संयम यात्रा के निर्वाह के लिए आसक्ति रहित होकर खावे।

12. कपट करने वाला, रसासक्त अथवा गुप्त रुप से मदिरा आदि का सेवन करने वाला कभी भी आराधक नहीं हाता है एवं निंदा का पात्र होता है।

13. बुद्धिमान मुनि पौष्टिक पदार्थों का एवं मद्य प्रमाद का त्याग करता हुआ उत्कृ ष्ट तपाचरण से संयम की आराधना करता है और प्रशंसा प्राप्त करता हैं।

14. जो तप, व्रत, रुप एवं आचार का चोर होता है अर्थात जो इन विषयों में भगवदाज्ञा के विपरीत आचरण करता है अथवा शक्ति होते हुए भी व्रत नियमों का औत्सर्गिक उत्कृष्ट आचरण नहीं करता है, तप में आगे बढ़ने की रुचि नहीं रखता है, वस्त्र पात्र आदि में ऊणोदरी करते हुए अचेल अपात्र होने का प्रयत्न नहीं करता है, अपितु छती शक्ति आराम से रहने का ही लक्ष्य रखता है, वह यहां 'चोर' कहा गया है।

15. ऐसा साधक किल्विषिक देव, तिर्यञ्च, नरक गति में भ्रमण करता है। अतः सरलता पूर्वक शक्ति अनुसार तप संयम में उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना चाहिए एवं ऐषणा के विविध नियमोपनियमों को औद्देशिक आदि दोषों को गुरु आदि से अच्छी तरह समझ कर ऐषणा समिति का विशुद्ध रुप से पालन करना चाहिए।

छठे अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में साध्वाचार के विषयों को अठारह स्थानों के द्वारा विश्लेषण करके समझाया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि ये अठारह स्थान आबाल-वृद्ध, रोगी-निरोग सभी साधु-साध्वियों को अखण्ड रुप से पालन

करना आवश्यक है। इनमें से किसी भी स्थान की विराधना (नियम को खण्डित) करने वाला भिक्षु साधुपन से भ्रष्ट (च्युत) हो जाता है।

1. सभी त्रस एवं स्थावर जीव जीना चाहते हैं अतः प्राणीवध घोर पाप है। इसलिए मुनि इसका सर्वथा (कृत, कारित, अनुमोदन एवं मन-वचन काया से) त्याग करते हैं।

2. झूठ बोलना, पर पीड़ाकारी है एवं अंधविश्वास उत्पन्न करने वाला है। वह सभी सिद्धान्तों में त्याज्य कहा गया है। इसलिए मुनि अपने लिए या दूसरों के लिए क्रोधादि कषाय वश या हास्य भय से भी झूठ बोलने का सर्वथा त्याग करते हैं।

3. बिना दिये या बिना आज्ञा मुनि तृण मात्र भी ग्रहण नहीं करते।

4. मैथुन संसर्ग - महान दोषों का एवं प्रमाद को उत्पन्न करने वाला है एवं अधर्म का मूल है तथा परिणाम में दुःख दायक है। अतः मुनि अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करते हैं।

5. मुनि संयम के आवश्यक उपकरणों के सिवाय किंचित भी संग्रह नहीं करता है। आवश्यक उपकरणों में भी ममत्व नहीं रखता है किन्तु केवल संयम जीवन के निर्वाह के लिए एवं देह संरक्षण के लिए उन्हें धारण करता है। मुनि को अपने शरीर में भी ममत्व नहीं होना चाहिए। ममत्व मूर्च्छा यदि है तो शरीर एवं उपकरण भी परिग्रह गिने जाते हैं। नमक, तेल, घी, गुड़ आदि खाद्य सामग्री का संग्रह करने वाला गृहस्थ है, साधु नहीं।

6. अनेक सूक्ष्म त्रस एवं स्थावर प्राणी रात्रि में नहीं दिखते, एषणा-समिति एवं ईर्या-समिति का पालन भी रात्रि में नहीं हो सकता, इसलिए मुनि रात्रि में सम्पूर्ण आहार का त्याग करते हैं।

7.12. पृथ्वी आदि छहों कायों का मुनि मन वचन काया से संरक्षण करते हैं।

13. अकलपनीय-जो अपने निमित्त बने हुए, खरीदे हुए और नहीं दिखने वाले स्थान से या अन्य घर से सामने लाया हुए आहार को ग्रहण करते हैं, नित्य निमंत्रण स्वीकार कर मनोज्ञ या सदोष आहार ग्रहण करते हैं, वे प्राणीवध का अनुमोदन करते हैं। अतः ऐसा करने वाले तीर्थंकर भगवान की आज्ञा में नहीं है।

14. गृही-भाजन-मुनि को गृहस्थ के थाली, कटोरी गिलास आदि में आहार-पानी नहीं खाना। क्योंकि फिर गृहस्थ उन बर्तनों को धोने के लिए सचित जल की विराधना करता है, नाली आदि में धोये हुए पानी को फेंकता है और उस फेंके हुए पानी के कहीं इकट्ठे हो जाने पर उसमें त्रस जीव गिर कर मरते हैं। (कपड़े धोने के लिए ग्रहण किये जाने वाले साधनों के लिए यह विधान लागू नहीं होता है।)

15. पलंग, खाट, मुड्ढा (विशेष प्रकार की कुर्सी) आदि दुष्प्रतिलेख्य शय्या आसनों को उपयोग में नही लेना। (सुप्रतिलेख्य काष्ट, प्लास्टिक के उपकरण के लिए यह नियम नहीं है।)

16. गोचरी के लिए गया हुआ भिक्षु कहीं भी गृहस्थ के घर में नहीं बैठे। वहां बैठने से- 1. ब्रह्मचर्य में विपत्ति, 2. प्राणियों का वध 3. अन्य भिक्षाजीविकों के अंतराय और गृह-स्वामी के क्रोध का निमित्त बनता है। अतः इस कुशील वर्धक स्थान का मुनि सर्वथा त्याग करे।

वृद्ध, रोगी, तपस्वी ये तीनों गोचरी में गृहस्थ के घरों में, कभी आवश्यकतानुसार बैठ सकते हैं।

17. रोगी हो या स्वस्थ, स्नान करना किसी भी साधु को नहीं कल्पता है। ऐसा करने पर वह आचार से भ्रष्ट हो जाता है। उसका संयम शिथिल हो जाता है। अतः भिक्षु ठंडे या गर्म जल से कभी भी स्नान नहीं करते ।

18. उबटन, मालिस आदि करना एवं शरीर वस्त्रों को सुसज्जित विभूषित करना भिक्षु को नहीं कल्पता है। नग्न, मुंड, दीर्घ-रोम, नख वाले ब्रह्मचारी भिक्षु को विभूषा से प्रयोजन ही क्या है? विभूषावृत्ति एवं संकल्प से भिक्षु के चिकने कर्म बंध होते हैं, क्योंकि इसके लिए अनेक सावद्य प्रवृत्तियां की जाती हैं। विभूषावृत्ति से जीव घोर संसार में परिभ्रमण करता है, अतः छः काया के रक्षक मुनि विभूषावृत्ति का सेवन नहीं करते।

19. मोह रहित तत्त्ववेत्ता मुनि तप संयम एवं क्षमा आदि यति धर्मों में तल्लीन हो जाता है। वह नये कर्म बंध नहीं करता एवं पूर्व कृत कर्मों का क्षय करता है।

20. वह निर्ममत्वी, उपशांत, निष्परिग्रही, यशस्वी मुनि सिद्ध गति को प्राप्त करता है या वैमानिक देव होता है।

सातवें अध्ययन का सारांश

1. इस अध्ययन में भाषा संबंधी विवेक सिखाते हुए सूक्ष्मतम सत्य का निरुपण किया गया है।

2 वेश मात्र को देखकर कोई स्त्री को पुरुष कहता है तो भी उसके असत्य भाषण का पाप कर्म बंध होता है। इसलिए सावधानी पूर्वक सत्य भाषण करना चाहिए।

3. जायेंगे, खायेंगे, करेंगे, बोलेंगे, ऐसे भविष्य काल संबंधी निश्चयात्मक प्रयोग भिक्षु नहीं करे। किन्तु जाने का विचार भाव है, खाने का भाव है, करने का भाव है इत्यादि ऐसा बोले।

4. त्रस-स्थावर प्राणियों का विनाश हो ऐसी भाषा न बोले।

5. काणे को काणा, अंधे को अंधा, रोगी को रोगी इत्यादि किसी को पीड़ाकारी-भाषा नहीं बोलना।

6. दुष्ट, मूर्ख, धूर्त्त, बदमाश, लंपट, कुत्ता इत्यादि कठोर भाषा नहीं बोलना।

7. मां, दादी, भाभी, मासी, बुआ, दीदी, मासी, दासी स्वामिनि अथवा पिता दादा, मामा, फूफा, मासा, दास, स्वामी इत्यादि गृहस्थ वचन नहीं बोलना किन्तु इनके नाम गौत्र आदि बहिन, बाई, भाई आदि यथा योग्य संबोधन से बोलना।

8. मनुष्य, पशु-पक्षी के विषय में यह मोटा-ताजा है, खाने पकाने योग्य है, इत्यादि नहीं बोलना।

9. यह वृक्ष मकान की लकड़ियों के योग्य है, इत्यादि नहीं बोलना।

10. इसी प्रकार फल, धान्यादि-वनस्पति के संबंध में, खाने-पकाने योग्य है, इत्यादि सावद्य भाषा नहीं बोलना।

11. नदी के विषय में यह तैरने योग्य है, इसका पानी पीने योग्य है, इत्यादि नहीं बोलना।

12. शुद्ध प्राप्त हुए आहार के लिए भी यह अच्छा बनाया, अच्छा पकाया, इत्यादि नहीं बोलना।

13. यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, दुनियां में ऐसा अन्य कोई नहीं है, इसमें अनगिनत असंख्य गुण है या यह वस्तु खराब है, इत्यादि नहीं बोलना।

14. सर्व या सब शब्द का प्रयोग नहीं करना, यथा सब कह दूंगा, सब कर लूंगा आदि।

15. खरीदने बेचने की प्रेरणा, या निषेध सूचक भाषा नहीं बोलना।

16. गृहस्थ को-आओ, बैठो, जाओ, करो, खाओ इत्यादि आदेश-वाक्य नहीं बोलना।

17. लोक में कई वेश धारी साधु होते हैं, हिंसा के प्रेरक, मायावी, भगवदाज्ञा के चोर, रसासक्त, महाव्रत-समिति-गुप्ति में अनुपयुक्त होते हैं, छः काया की यतना में लक्ष्यहीन होते हैं, इन असाधुओं को साधु नहीं कहना किन्तु जो ज्ञान-दर्शन चारित्र तप से सम्पन्न हो और उपरोक्त अवगुणों से रहित हो, ऐसे साधुओं को ही 'साधु' कहना।

18. किसी के जय या पराजय की भविष्य सूचक भाषा नहीं बोलना।

19. वर्षा, सर्दी, गर्मी, अकाल, सुकाल आदि प्राकृतिक रचनाओं के संबंध में होने या न होने की कोई भी भाषा नहीं बोलना, यह निरर्थक भाषा है। क्योंकि प्रकृति किसी मनुष्य के वश की बात नहीं है।

20. यह तो राजा है यह तो देव है ऐसी अतिश्योक्ति की भाषा नहीं बोलना। रिद्धिमान, ऐश्वर्यवान, संपतिशाली आदि कहा जा सकता है।

21. सावद्य कार्यों (आरम्भ-समारंभ) की प्रेरक या प्रशंसक भाषा नहीं बोलना। निश्चयकारी पर-पीड़ाकारी, क्रोध मान माया लोभ और भय के वश हो कर नहीं बोलना एवं हंसी मजाक में नही बोलना।

22. इस प्रकार भाषा के गुण-दोषों, विधि-निषेधों को जानकर के विचार पूर्वक भाषा का प्रयोग करने वाला, इन्द्रियों को समाधि में (वश में) रखने वाला, कषायों से रहित एवं प्रतिबंध या किसी के आश्रय से रहित मुनि कर्मों का क्षय कर आराधक होता है।

आठवें अध्ययन का सारांश

1. आचार के भण्डार स्वरुप संयम-तप को पाकर मुनि को सदा उसकी सर्वोत्कृष्ट आराधना में लीन रहना चाहिए।

2. पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, हरीघास और वृक्ष में भी जीव है और छोटे-छोटे त्रस प्राणी है। उनमें मनुष्य के समान ही जीव है। अतः मन-वचन काया से सदा उन जीवों के साथ अहिंसक एवं सावधानी युक्त व्यवहार करना चाहिए। किसी भी लक्ष्य से अर्थात्- 1. जीवन निर्वाह के लिये, 2. यश-कीर्ति के लिए या, 3. आपत्ति में अथवा 4. धर्म समझ कर जन्म मरण से मुक्त होने के लक्ष्य से भी मुनि को इन स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न हीं ऐसे हिंसाजन्य कार्यों की प्रेरणा या अनुमोदना करनी चाहिए।

3. सचित पृथ्वी या सचित रज युक्त आसन आदि पर नहीं बैठना तथा सचित पृथ्वी का छेदन-भेदन या उस पर लकीर खींचना आदि नहीं करना।

4. कच्चा पानी नहीं पीना, न उसका स्पर्श करना, वर्षा आदि से कभी शरीर भीग जाय तो उसे पूंछना नहीं, स्पर्श करना नहीं, स्वतः सूख जाय तब तक सीधे स्थिरकाय खड़े रहना।

5. अग्नि का स्पर्श या जलाना, बुझाना नहीं करना।

6. पंखे एवं फूंक आदि से हवा नहीं करना।

7. वनस्पति का छेदन-भेदन नहीं करना, नहीं कराना एवं हरी घास फूलण आदि पर खड़े रहना, चलना या बैठना आदि प्रवृति नहीं करना।

8. त्रस-जीवों की मन-वचन काया से हिंसा नहीं करना।

9. आठ सूक्ष्म (सजीव) होते हैं, उनकी रक्षा या यतना में अत्यंत सावधानी रखना। वे आठ सूक्ष्म ये हैं- 1. ओस, धुंअर, बर्फ, ओले आदि ''जल (स्नेह) सूक्ष्म'', 2. बड, उंबर के फूल-''फूल सूक्ष्म'', 3. उसी भूमि के रंग के कुथुएं आदि पुस्तकों के सूक्ष्म जीव एवं मच्छर लीख, जूं, मकडी आदि ''प्राण सूक्ष्म'', 4 कीड़ियों के बिल, 5. छोटे-छोटे अंकुरे ''हरितकाय सूक्ष्म'', 6. मक्खी, कीड़ी, छिपकली, कंसारी आदि के अंडे ''अण्ड सूक्ष्म'' हैं।

अतः मुनि वस्त्र, पात्र शय्या आसन गमनभूमि परिष्ठापन भूमि को एकाग्रचित्त सावधानी पूर्वक देखे एवं जीवों की यतना करे।

10. गोचरी के लिए गया साधु वहां यतना से खड़ा रहे एवं परिमित बोले तथा दृष्टि को केन्द्रित रखें। वहां अनेकों देखी, सुनी और अनुभव की हुई बातों को गंभीरता से हृदय में धारण करे, इधर-उधर कहे नहीं।

11. किसी के पूछने पर या बिना पूछे किसके घर में क्या मिला या नहीं मिला, खराब मिला या अच्छा मिला इत्यादि गृहस्थों को नहीं कहना।

12. भिक्षु अनासक्त भाव से अज्ञात घरों में अर्थात् साधु के आने का इन्तजार तैयारी न हो, ऐसे घरों में निर्दोष भिक्षा प्राप्त करे, किन्तु साधु के निमित्त बनाये, खरीदे या लाये गए, सदोष आहार को ग्रहण नहीं करे।

13. भिक्षु संतोषी और अल्प इच्छावाला होवे एवं जैसा आहार, शय्या आदि मिले उसी में निर्वाह करने वाला एवं संतोष रख कर प्रसन्न रहने वाला बने।

14. कष्ट परीषह एवं मनोज्ञ-अमनोज्ञ, इन्द्रिय-विषयों के प्राप्त होने पर अदीन-भाव से सहन करे।

15. ''देह दुक्खं महाफलं'' शारीरिक कष्टों को सम्यक् सहन करना, मोक्ष रुपी महान फल को देने वाला है।

16. मुनि इच्छा से एवं आवश्यकता से अल्प मिलने पर क्रोध निन्दा न करे।

17. मुनि आत्म प्रशंसा (उत्कर्ष) एवं निंदा (तिरस्कार) कभी भी नहीं करें। श्रुत का भी घमण्ड न करे। सूत्रकृ तांग सूत्र अध्ययन दो में किसी का पराभव-निंदा तिरस्कार (अविनय) करने वाले को संसार सागर में पर्यटन करने वाला कहा जाता है।

18. अपनी योग्यता, क्षमता, स्वास्थ्य का विचार कर संयम पालन करते हुए मुनि को तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि योगों में उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना चाहिए। किन्तु प्रमाद नहीं करना चाहिए।

19. बुढ़ापा, रोग और इन्द्रियों के असक्त होने के पूर्व ही संयम में पराक्रम कर लेना चाहिए।

20. क्रोध-प्रीति की, मान-विनय का, माया-मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्व गुणों का नाश करता है। अतः इनके प्रतिपक्षी उपशम, मृदुता, सरलता और संतोष को धारण कर कषाय-विजेता बनना चाहिए। क्योंकि ये कषाय ही पुनर्जन्म की जड को सींचने वाले अवगुण हैं।

21. रत्नाधिक भिक्षुओं की विनय भक्ति करना, किन्तु संयम मर्यादा का अर्थात् भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं करना।

22. निन्दा को बहुत आदर नहीं देना, हास्य का एवं परस्पर बातें करने का वर्जन करना और सदा स्वाध्याय में लीन रहना चाहिए।

23. मुनि आलस्य छोडकर संयम, तप, स्वाध्याय में वृद्धि करे।

24. काया से, आसन से एवं वचन से गुरु का पूर्ण विनय करे।

25. जिस भाषा के बोलने से किसी को अप्रीति हो, गुस्सा आवे, ऐसा नहीं बोलना।

26. गम्भीरता से सोच-विचार कर असंदिग्ध भाषा बोलना।

27. विद्वान, बहुश्रुत आदि के भी कभी भाषा में स्खलना हो जाय तो उनका उपहास नहीं करना।

28. मुनि स्वप्न फल, निमित्त, औषध, भेषज, गृहस्थ को न बतावे।

29. गृहस्थ के लिए बने हुए, स्त्री-पशु से रहित और मलमूत्र परठने की भूमि से युक्त स्थान में ही ठहरना। गृहस्थों से सम्पर्क-परिचय नहीं बढ़ाना।

30. मुर्गी के बच्चे को सदा बिल्ली से भय रहता है, वैसे ही मुनि को स्त्री शरीर से। अतः सह निवास नहीं करना। उनका रुप या चित्र नहीं देखना, दृष्टि पड़ते ही शीघ्र हटा लेना, जैसे कि सूर्य पर गई हुई दृष्टि हट जाती है।

31. अति-वृद्ध, जर्जरित देह वाली स्त्री हो तो भी सह निवास नहीं करना।

32. ब्रह्मचारी भिक्षु के लिए तीन प्रवृत्तिएं तालपुट विष के समान है- 1. विभूषा श्रंगार, 2. स्त्री संसर्ग, 3. पौष्टिक आहार

33. सुन्दर रुप भी पुद्गल परिणमन है, क्षणिक है, परिवर्तनशील है, यह जानकर मुनि उनमें आसक्त न बने।

34. जिस भावना, लक्ष्य से-वैराग्य से, घर छोड़कर संयम ग्रहण किया था उसी लक्ष्य को कायम रखना चाहिए। अन्य लक्ष्यों को स्थान न देते हुए उनसे मुक्त रहना चाहिए।

संयम ग्रहण का लक्ष्य होता है- स्व आत्म कल्याण करना, शरीर का ममत्व न रखकर 22 परीषह जीतना, समभाव रखना और सम्पूर्ण इच्छाओं को, जीवन को जिनाज्ञा में समर्पित कर देना एवं समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करके, सदा स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्य में लीन रहना। अपनी क्षमता एवं चित्त समाधि का ख्याल रखना तो सर्वत्र आवश्यक समझना चाहिए।

35. स्वाध्याय और शुभध्यान में लीन रहने वाला एवं विशुद्ध भावों से तप में पुरुषार्थ करने वाला, कष्ट सहिष्णु, जितेन्द्रिय मुनि रागद्वेष एवं परिग्रह से मुक्त होकर और श्रुत से सम्पन्न होकर क्रमशः कर्मों से मुक्त हो जाता है।

नवमें अध्ययन का सारांश

प्रथम उद्देशक-

1. गुरु रत्नाधिक भिक्षु अल्पवय, अल्पबुद्धि वाले हो तो भी उनका पूर्ण विनय करना चाहिए। उनकी कदापि हीलना नहीं करना चाहिए।

2. गुरु आदि की असातना स्वयं का ही अहित करने वाली होती है।

3. अग्नि पर चलना, आशीविष सर्प को छेड़ना, जीने की इच्छा से विष खाना, पर्वत को सिर से तोड़ने का प्रयत्न करना, सोये हुए सिंह को जगाना, तलवार की धार पर हाथ से प्रहार करना आदि जिस प्रकार दुःखकारी और मूर्खतापूर्ण है, वैसे ही गुरु आदि की आशातना, हीलना करना भी स्वयं के दुःखों की, संसार की वृद्धि करना है। अतः मोक्ष का अभिलाषी मुनि सदा गुरु आदि के चित्त की आराधना करते हुए रहे।

4. अग्निहोत्री (हवन करने वाले) जीवन पर्यन्त एवं महान विद्वान हो जाने पर भी अग्नि का सन्मान बहुमान रखते हैं, उसी प्रकार मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो भी गुरु आदि का विनय बहुमान करते रहना खहिए। ऐसा करने वाला मुनि अनेक गुणों की आराधना कर परम निर्वाण को प्राप्त करता है।

दूसरा उद्देशक-

1. वृक्ष के मूल से ही स्कंधादि फल पर्यन्त वृद्धि होती है, उसी प्रकार धर्म में विनय मूल की सुरक्षा एवं वृद्धि से मोक्ष-फल पर्यन्त सभी गुणों की उपलब्धि होती है। अर्थात् यह जिन शासन विनय मूल धर्म वाला है। विनय से युक्त मुनि को ही कीर्ति, श्लाघा, श्रुत आदि सम्पूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं।

2. अविनीत, अभिमानी, बोलने में फूहड़, मायावी व्यक्ति जल के तेज प्रवाह में पड़े लकड़े के समान दुःख संसार में गोते खाता (चक्कर काटता) रहता है।

3. संसार में भी अविनीत विद्यार्थी अध्यापकों से मार खाते हैं, अविनीत हाथी, घोड़े भी मार-पीट से वश में किये जाते हैं।

4. देव बनने वालों में भी अविनीतों को हीन दशा-किल्विषिक आदि की प्राप्ति होती है।

5. शिल्प कला सिखने वाले, अध्यापकों से कितने कष्ट सहन करके भी स्थिर-बुद्धि से अभ्यास करने पर ही पारंगत होते हैं।

6. अतः मोक्षार्थी मुनि आचार्य-उपाध्याय के अनुशासन से कभी संत्रस्त न बने। तभी उसे अक्षय सुख-निधी परम-निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

7. एक भव के सुख के लक्ष्य वाले भी कितने सहनशील बनते हैं, तो मुनि को अनन्त भव भ्रमण मिटाकर परम सुखी होने के लिए पृथ्वी के समान महान सहनशील होकर संयम आराधन करना चाहिए।

8. आचार्यादि के प्रति कभी खिन्न नहीं बनना, किन्तु उनकी सभी प्रकार की विनय भक्ति सुश्रुषा से चित्त की आराधना करना। उनके इशारे या संकेत मात्र से समझ कर निर्देशानुसार प्रवृत्ति करना।

9. अविनीत की एवं अवगुणों को धारण करने वालों की मुक्ति नहीं होती है।

10. विनय से सम्पन्न शिष्य उत्तम गति को प्राप्त करता है।

तीसरा उद्देशक–

इस उद्देशक में ''पूज्य'' कौन होता है यह बताते हुए भिक्षु के अनेक गुणों का संग्रह किया जिसमें मुख्य विषय है-

1. विनय, 2. शुद्ध अज्ञात भिक्षा, 3. अल्प इच्छा, 4. वचन रुपी बाणों का अपना मुनि धर्म समझकर सहन करना, 5. भाषा विवेक 6. निन्दा का या विरोध भाव का त्याग, 7. लोलुपता रहित होना, 8. मंत्र तंत्र निमित्त कुतुहल से दूर रहना इत्यादि।

2. जिस प्रकार सुपुत्री को माता-पिता योग्य वर के साथ स्थापित करते हैं, उसी प्रकार योग्य शिष्य को गुरु आदि श्रेष्ठ श्रुतसम्पन्नता आदि गुणों से प्रतिष्ठित करते हैं एवं उच्च श्रेणी में पहुंचा देते हैं।

3. अतः गुरु की आज्ञा में रत रहने वाला मुनि सत्यरत, जितेन्द्रिय, कषाय मुक्त, जिनमत में निपुण होकर पूज्य हो जाता है और अंत में कर्म रज को पूर्ण नष्ट कर मुक्त हो जाता है।

चौथा उद्देशक-

मोक्ष प्राप्ति के लिए चार प्रकार की समाधि को मुनि धारण करे- 1. विनय, 2. श्रुत, 3. तप एवं 4. आचार।

1. विनय- हितकारी अनुशासन को स्वीकार करना, गुरु की सुश्रुषा करना और घमण्ड को सदा अलग रखना।

2. श्रुत- श्रुत ज्ञान की वृद्धि होगी, चित्त एकाग्र होगा, यह समझकर अध्ययन में लीन रहना। श्रुत-सम्पन्न मुनि स्वयं को और दूसरों को संयम में, धर्म में स्थिर रख सकता है, इसलिए सदा श्रुत का अध्ययन करते रहना चाहिए।

3. तप- इस लोक की किसी भी चाहनाओं को न रखते हुए एवं परलोक की भी कोई चाहना न रखते हुए, एकान्त कर्म-निर्जरा के लिए तप करना। तप से यश, कीर्ति की भी चाहना नहीं होना चाहिए। अर्थात् तप के साथ मोक्ष प्राप्ति के अतिरिक्त कोई संकल्प नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के तप में सदा लीन रहना चाहिए।

4. आचार- जिनाज्ञा को सदा प्रमुख रखते हुए एवं तिनतिनाट न करते हुए, महाव्रत, ब्रह्मचर्य, संयम समाचारी , परीषह -सहन आदि सभी का केवल मुक्ति हेतु एवं जिनाज्ञा की आराधना के हेतु से पालन करना चाहिए। जिनाज्ञा विपरीत अन्य कोई हेतु लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

इन चारों समाधि से विशुद्ध आत्मा विपुल, हितकारी, सुखकारी, कल्याणकारी, निर्वाण-पद को प्राप्त करता है अर्थात् नरकादि गतियों के जन्म मरण से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

दसवें अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में भिक्षु कौन रहोता है यह बताते हुए अनेक आचारों का, गुणों का निर्देश किया गया है।

1. मुनि नित्य चित्त को संयम समाधि में रखे, स्त्री के वश में न होवे। वमन किए विषयों की इच्छा न करे।

2. भूमि न खोदे, न खुदवावे। कच्चा पानी न पीये न पीने को कहे। अग्नि न जलावे, न जलवावे। पंखा न करे न करवावे। हरी का छेदन न करे। बीजों को वर्जन करता हुआ चले। सचिव कभी भी न खावें।

3. त्रस स्थावर प्राणियों की हिंसा होती है यह जानकर मुनि अपने उद्देश्य से बने आहार को न खावे एवं न स्वयं पकावे न अन्य से पकवावे।

4. छः काया को आत्मवत् समझे, पांच महाव्रत पूर्ण पाले, पांच आचार से सदा संवृत रहे।

5. चार कषाय का सदा वमन (त्याग) करे। जिनाज्ञा का दृढ़ता से पालन करे। गृहस्थ के कृत्य न करे।

6. शुद्ध समझ एवं चिन्तन युक्त सम्यक्त्व, ज्ञान, तप, संयम, धारण कर मन-वचन-काया से सुसंवृत बने।

7. आहार प्राप्त कर उसे बांटकर खावे, संग्रह न करें ।

8. कलह कदाग्रह से दूर रहे।

9. आक्रोश, प्रहार, तर्जनाओं को सहन कर सुख दुःख में एक समान रहे।

10. अनेक विकट तप एवं भयानक प्रतिमाओं को धारण करें और शरीर की आकांक्षा, ममत्व छोड़ दे।

11. सहनशीलता में प्रथ्वी के समान बने ।

12. जन्म मरण के महान भय को जानकर उससे अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए श्रामण्य एवं तप में लीन रहे।

13. हाथ, पांव, काया, इंद्रियों को पूर्ण संयत रखें एवं सूत्रार्थ ज्ञान की वृद्धि करे।

14. धर्म उपकरणों मे भी मूर्च्छाभाव, गृद्धि, भाव न रखें। शरीर का ममत्व छोड़कर अज्ञात भिक्षा लेवे अल्प एवं सामान्य आहार करें। क्रय-विक्रय से, संग्रह से निवृत्त रहे। एवं गृहस्थ-संसर्ग आसक्ति से भी मुक्त रहे।

15. लोलुपी और रसगृद्ध न बने। दोषों का सेवन ना करें और ऋद्धि सत्कार, पूजा ना चाहे।

16. दूसरों को यह कुशीलिया है इत्यादि न कहे और न ही ऐसा कुछ कहे जिस दूसरों को गुस्सा आवे। किंतु प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य, पाप पुरुषार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। यह चिंतन कर सम भाव मध्यस्थ भाव करुणा भाव रखें। परनिंदा एवं स्वयं की प्रशंसा ना करें ।

17. अपनी जाति, रूप, लाभ, ज्ञान आदि सभी प्रकार के मद को त्याग करना एवं धर्म ध्यान मैं सदा लीन रहना।

18. संयम धारण कर कुशीलता का त्याग करना। स्वयं संयम धर्म में स्थिर रहना, दूसरों को स्थिर करना। हास्य कुतुहल का त्याग करना ।

19. इस प्रकार मुनि नित्य आत्महित में स्थित होकर, देहावस्था का त्यागकर, देहातीत वनकर जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

चूलिका का सारांश

आचार्य एवं विनय संबंधी विषय के वर्णन को 10 अध्ययनों में कहने के बाद अतिरिक्त विषय को चूलिका के द्वारा कहा गया है।

1. संयम से चित्त चलित हो जाय और पुनः गृहस्थ जीवन स्वीकार करने के विचार उत्पन्न हो जाय तो उन विचारों को नियंत्रित करने, अंकुश लगाने के लिए रति वाक्य नामक प्रथम चूलिका है। इसमें संयम के प्रति रति रुचि उत्पन्न करने वाले वाक्य ''उपदेश वाक्य'' कहे गये है।

2. संयम में तो चित्त हो, किन्तु सामुहिक जीवन में शान्ति-समाधि, संयम आराधना में संतोष न हो और अन्य कोई योग्य समाधिकारक साथी न मिले तो अकेले ही विचरण कर आराधना करना। इसके स्पष्टीकरण के लिए विविक्त चर्या नामक दूसरी चूलिका है। विविक्त चर्या एकल विहार चर्या का ही पर्यायवाची शब्द है।

प्रथम चूलिका-

अस्थिर आत्मा वाले को इस प्रकार विचार करना चाहिए।

1. हे आत्मन्। इस दुस्समकाल-पांचवें आरे का जीवन ही दुःखमय है।

2. गृहस्थ लोगों के काम भोग अत्यल्प और अल्पकालीन है।

3. सम्पर्क में आने वाले लोग बहुत मायावी-स्वार्थी हैं।

4. यह उत्पन्न दुःख अधिक समय रहने वाला तो है नहीं।

5. गृहस्थ जीवन में कई सामान्य लोगों की आजीजी करनी पड़ती है।

6. गृहस्थ बनना वमन किए हुए को चाटना, पुनः खाना है।

7. निम्न स्तर में जाना है या दुर्गति की तैयारी है।

8. गृहस्थ जीवन में धर्म पालन अति कठिन होता है।

9-10. रोग एवं संयोग-वियोग के संकल्प आत्म सुखों का नाश करने वाले हैं।

11-12. गृहवास-क्लेश, कर्मबंध और पाप से परिपूर्ण है, किन्तु संयम क्लेश रहित, मोक्ष-रुप और पाप रहित है।

13. गृहस्थ केसुख-काम भोग अत्यन्त तुच्छ सामान्य है।

14. जीवों को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगने आवश्यक है।

15. मनुष्य जीवन ओस-बिन्दु के समान अस्थिर है।

16. हे आत्मन्। निश्चय ही पूर्व में बहुत पाप कर्म का संचय कर रखा है।

17. पूर्व संचित दुष्कृत का फल अवश्य भोगना होगा या तप से क्षय करना होगा, तभी मुक्ति हो सकती है।

18. कोई भी अस्थिरात्मा संयम को छोड़ने के बाद में पश्चाताप करता है। देवलोक के इन्द्र, देव, राजा, नगर सेठ आदि अपने स्थान से च्युत होकर निम्न स्थानों को प्राप्त करके पूर्व अवस्था का स्मरण करके खेद करते हैं। उसी प्रकार जवानी बीत जाने पर वृद्धावस्था में वह संयम त्यागने वाला खेद करता है।

19. जब कुटुम्ब परिवार की अनेक चिंताओं से चिंतित होता है, तब कीचड़ में फंसे हाथी के समान पश्चाताप करता है। उसे यह विचार आता है कि यदि साधु अवस्था में होता है तो आज बहुत बड़ा आचार्य, बहुश्रुत बनता।

20. वास्तव में ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर संयम तप में लीन बने तो संयम महान् सुखकर है एवं उच्च देवलोकों के समान आनन्दकर है। किन्तु संयम में अरुचि रखने वालों के लिए यही संयम महान नरक के समान दुःखकर हो जाता है।

21. यह जानकर सदा संयम में रमण करना चाहिए अर्थात् स्वाध्याय, ध्यान, तप में तल्लीन रहना चाहिए।

22. संयम च्युत की एवं भोगों में आसक्त की अपयश, अकीर्त्ति और दुर्गति होती है।

23. अतः मुनि विचार करे कि नरक के असंख्य वर्षों के दुःख के आगे ये संयम के मानसिक आदि दुःख अत्यन्त नगण्य है। यह दुःख, यह शरीर और ये भोग सभी अल्पकालीन है, क्षणिक है।

24. इस प्रकार अपनी आत्मा को अनुशासित कर हिताहित, हानि-लाभ का विचार कर संयम में स्थिर रहना चाहिए और मन वचन काया से जिनाज्ञा की आराधना करनी चाहिए।

दूसरी चूलिका-

1. संसार की समस्त वृत्तिएं अनुश्रोत= प्रवाह में चलने के समान है और संयम के समस्त आचार प्रतिश्रोत-प्रवाह के सामने चलने के समान है अर्थात् इच्छा-सुख, इन्द्रिय सुख एवं लोक प्रवाह के संयम के आचार नियम विपरीत या विलक्षण ही होते हैं। इंद्रियाभिमुख प्रवृत्ति और 18 पाप सेवन संसार (अनुश्रोत) है। इन्द्रियों से विरक्त (उदासीन) प्रवृत्ति और पाप त्याग प्रयत्न धर्म (प्रतिश्रोत गमन)है।

2. संयम चर्या, गुण, नियम आदि ये संवर एवं समाधि की मुख्यता वाले हैं।

3. अनियतवास अनेक घरों से आहार प्राप्ति, अज्ञात घरों से अल्प आहार ग्रहण, एकान्तवास, अल्प उपधि ये मुनि के प्रशस्त आचार है।

आकीर्ण=जनाकुल संखडी वर्जन, दृष्ट स्थान से दिया जाने वाला आहार ही ग्रहण करना, पश्चात् कर्म आदि दोष वर्जन, मद्य, मांस, मत्स्य आहार का त्याग, बारंबार कायोत्सर्ग एवं स्वाध्याय के योगों में ही प्रयत्नशील रहना ये भिक्षु के आवश्यक आचार हैं।

किसी भी शयनायन या ग्रामादि में ममत्व भाव नहीं करना, प्रतिबद्ध नहीं होना, गृहस्थ सेवा एवं उनका वंदन पूजन न करना, संक्लेशकारी साथियों के साथ नहीं रहना, संयम गुणों की हानि न हो इसका ध्यान रखना।

पुण्याभाव से सहयोगी शान्ति प्रदायक गुणवान साथी न मिले तो संयम छोड़ने का संकल्प न करके अकेले ही संयम पालन करना।

भिक्षु एकलविहार चर्या काल में अत्यन्त सावधान रहे। कामभागों में, इन्द्रिय विषयों में अनासक्त रहे।

उत्कृष्ट एक वर्ष तक पुनः उस क्षेत्र में जावे जहां उत्कृष्ट कल्प चातुर्मास रहा हो। अन्य भी सूत्राज्ञाओं का पूर्ण ध्यान रखे।

सदा सोते उठते आत्म निरक्षण, गवेषण करे। क्या पुरुषार्थ तप संयम में किया और क्या करना है? शक्ति होते हुए भी क्या नहीं कर रहा हूँ।

दूसरों को मेरे कौन-कौन से अवगुण दिखते हैं और मुझे कौन-कौन से दिखते हैं? कौन से दोषों को मैं जानते हुए भी नहीं छोड़ रहा हूँ।

इस प्रकार विचार करके एवं कोई भी दूषण लगे तो उसे शीघ्र दूर करके गुणों को धारण करे।

इस प्रकार के प्रयत्न वाला अकेला होते हुए भी सदा संयम जीवन से जीता है।

अतः लोग उसे आत्मार्थी, उच्च आत्मा दृष्टि से देखते हैं।

साधक को सभी इन्द्रियों को समाधि में रखते हुए कर्म बन्ध से आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। आत्म रक्षा नहीं करने वाला जन्म मरण बढ़ाता है। सच्चा आत्म रक्षक सर्व दुःखों का अन्त कर मोक्ष प्राप्त करता है।

।। दशवैकालिक सूत्र का सारांश समाप्त ।।

नोट- विस्तृत अध्ययन के लिए आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना एवंजैन विश्वभारती लाडनू से संपादित्त दशवैकालिक सूत्र के विवेचन का अध्ययन करना चाहिए।

परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट-1

अध्ययन-2

ब्रह्मचर्य की जानो शुद्धि- उपनियमों में जिसकी बुद्धि

1. दूध, घृत, मिष्ठान्न, मावा, मलाई, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करना, बादाम पिस्ता आदि मेवे के पदार्थों का भी त्याग करना।

2. ये पदार्थ कभी आवश्यक हो तो अल्प मात्रा का ध्यान रखना और निरंतर अनेक दिन तक सेवन नहीं करना।

3. महिने में कम से कम चार दिन आयंबिल या उपवासादि तपस्या अवश्य करना।

4. सदा उणोदरी करना अर्थात् किसी भी समय पूर्ण भोजन नहीं करना।

5. शाम के समय भोजन नहीं करना या अत्यल्प आहार करना।

6. स्वास्थ्य अनुकूल हो तो एक बार से अधिक भोजन नहीं करना अन्यथा यथा संभव कम खाना।

7. एक बार के भोजन में भी खाद्य पदार्थों की संख्या बहुत कम होना।

8. भोजन में मिर्च मसालों की मात्रा अत्यल्प होना आचार अथाणा आदि का सेवन नहीं करना।

9. तले हुए खाद्य पदार्थों का सेवन नहीं करना।

10. चूर्ण या खट्टे पदार्थों का सेवन नहीं करना।

11. रासायनिक औषधियों या उष्मा वर्द्धक औषधियों का सेवन नहीं करना। यथा संभव औषध का सेवन भी नहीं करना।

12. महिने में कम से कम 15 दिन रुक्ष या सामान्य आहार करना अर्थात् धार विगय त्याग करना।

13. स्त्रियों का निकट सम्पर्क या उनके मुख हाथ पांव स्तन एवं वस्त्राभूषण आदि को देखने की प्रवृत्ति नहीं करना।

14. दिन में नहीं सोना।

15. भोजन के अनंतर संकुचित पेट रखकर नहीं बैठना एवं नहीं सोना।

16. भिक्षु को विहार या भिक्षाचारी आदि श्रम कार्य अवश्य करना अथवा तपश्चर्या या खड़े- रहने की प्रवृत्ति रखना।

17. उत्तराध्ययन सूत्र, आचारांग सूत्र, सूयगडांग सूत्र एवं दशवैकालिक सूत्र की स्वाध्याय वाचना अनुप्रेक्षा आदि करते रहना।

18. नियमित भक्तामर स्त्रोत या प्रभू भक्ति एवं प्राणायाम अवश्य करना।

19. सोते समय और उठते समय कुछ आत्महित विचार अवश्य करना।

20. क्रोध के प्रसंग उपस्थित होने पर मौन करना, आवेश युक्त बोलने की प्रवृत्ति का त्यागकरना।

21. यथा समय स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग अवश्य करना।

परिशिष्ट-2

अध्ययन-4 एवं 6

रात्रि भोजन-

रात्रि भोजन करने से प्राणातिपात आदि मूलगुणों की विराधना होती है तथा छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत भी मूलगुण है, उसका भंग होता है। रात्रि में कुं थुए आदि सूक्ष्म प्राणी तथा फूलण आदि का शोधन होना अशक्य होता है। रात्रि में आहार की गवेषणा करने में एषणा समिति का पालन भी नहीं होता है। चूर्णिकार ने कहा-

जो प्रत्यक्ष ज्ञानी होते हैं वे आहारादि को विशुद्ध जानते हुए भी रात्रि में नहीं खाते, क्योंकि मूलगुण का भंग होता है। तीर्थंकर, गणधर और आचार्यों से यह रात्रि भोजन अनासेवित है, इससे छठे मूलगुण की विराधना होती है, अतः रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए।

आगमों में रात्रि भोजन का वर्णन-

1. दशवैकालिक सूत्र अ 3 में-रात्रि भोजन निर्ग्रन्थ के लिये अनाचरणीय कहा गया है।

2. दशवैकालिक सूत्र अ 6 में-रात्रि भोजन करने से निर्गंथ अवस्था से भ्रष्ट होना कहा है तथा रात्रि भोजन के दोषों का कथन भी किया है।

3. दशवैकालिक सूत्र अ 4 में-पांच महाव्रत के साथ रात्रि भोजन विरमण को छठा व्रत कहा है।

4. दशवैकालिक सूत्र अ 8 में-सूर्यास्त से सूर्यादय तक अर्थात् रात्रि में आहार की मन से भी चाहना करने का निषेध है।

5. उत्तराध्ययन अ 19 गा. 31 में-संयम की दुष्करता के वर्णन में चारों प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन करना अत्यंत दुष्कर कहा है।

6. बृहत्कल्प उ. 1 में-रात्रि या विकाल (संध्या) के समय चारों प्रकार के आहार ग्रहण करने का निषेध है।

7. बृहत्कल्प उ. 5 में-कहा गया है कि आहार करते समय ज्ञात हो जाय कि-सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो मुंह में रखा हुआ आहार भी निकाल कर परठ देना चाहिए। और वहां पर उसे खाने का प्रायश्चित्त कहा है तथा रात्रि में आहार पानी युक्त उद्गाल आ जाए तो उसे निगलने का भी प्रायश्चित कहा गया है।

8. दशा. द. 2 तथा समवायांग स. 21 में-रात्रि भोजन करना शबल दोष कहा है।

9. बृहत्कल्प उ. 4 में 5 रात्रि भोजन का अनुद्‌घातिक (गुरु)प्रायश्चित कहा है।

10. ठाणांग अ. 3 तथा अ 5 में- रात्रि भोजन का अनुद्‌घातिक प्रायश्चित कहा है।

11. सूयगडांग सूत्र श्रु.1 अ. 2 उ. 3 में-रात्रि भोजन त्याग सहित पांच महाव्रत परम रत्न कहे गये हैं। जिन्हे साधु धारण करते हैं, इस प्रकार यहां महाव्रत के तुल्य रात्रि भोजन विरमण का महत्व कहा गया है।

12. सूयगडांग सूत्र अ. 6 वीरस्तुति में-कहा गया है कि भगवान् महावीर स्वामी ने तप के लिए और दुःखों का नाश करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग किया था।

13. उत्तराध्ययन सूत्र अ.32 में-रात्रि भोजन के त्याग से जीव का आश्रव घटना एवं अनाश्रव होना कहा गया है।

14. निशीथ सूत्र उद्देशा 11 में-रात्रि भोजन करने का एवं उसकी प्रशंसा करने का गुरु चौमासी प्रायश्चित कहा है।

15. दशाश्रुतस्कंध सूत्र दशा 6 में-श्रावक को पांचवी पडिमा धारण करने में रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग करना आवश्यक कहा गया है। उसके पूर्व अवस्थाओं में भी श्रावक को रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए किन्तु वहां तक ऐच्छिक है और पांचवी प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक उसे रात्रि भोजन का त्याग करना आवश्यक हो जाता है।

अन्य ग्रंथों में-

कार्तिकेयानुप्रेक्षा 383 में - रात्रि भोजन त्याग को 6 महिने उपवास के तुल्य बताया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में - नरक में जाने के चार बोल कहे हैं जिनमें प्रथम बोल से रात्रि भोजन को नरक में जाने का कारण कहा है शेष तीन कारण नरक गमन के ये कहे हैं- 1. पर स्त्री गमन, 2. आचार अथाणा खाना, 3. कंद मूल भक्षण

3. वेद व्यास के योग शास्त्र अ. 3 में - कहा गया है कि रात्रि में खाने वाला मनुष्य - उल्लू, कौआ, बिल्ली, गीदड़, सूकर, सर्प बिच्छु आदि योनियों में जन्म धारण करता है।

4. मनुस्मृति में- कहा है कि रात्रि राक्षसी होती है अतः रात्रि के समय श्राद्ध नहीं करना।

5. योग शास्त्र अ. 3 में कहा गया है कि- नित्य रात्रि भोजन त्याग करने से अग्निहोत्र का फल मिलता है एवं तीर्थं यात्रा का फल मिलता है।

आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवता पूजन, दान एवं भोजन ये रात्रि में नहीं किए जाते।

कीट पतंग आदि अनेक सत्वों का घातक यह रात्रि भोजन अति निंदित है।

6. मार्कडेंय मुनि ने तो रात्रि में पानी पीना खून के समान और खाना मांस के तुल्य कह दिया।

7. बौद्ध मत के मज्झमनिकाय एवं लकु टिकोपम सुत में - रात्रि भोजन का निषेध किया है।

8. हेमचन्द्राचार्य ने-दिन में और रात्रि में बिना कुछ रोक-टोक के खाने वालों को बिना सिंग पूंछ वाला जानवर होना सूचित किया है।

जीवन शिक्षाएं-

1. रात्रि में कई छोटे बड़े जीव दिखते नहीं है वे खाने में आ जाय तो उससे कई प्रकार की बिमारियां हो जाती है।

2. अनेक पक्षी भी रात्रि को नहीं खाते हैं कहा भी है-

चिड़ी कमेड़ी कागला, रात चुगण नहीं जाय।
नरदेहधारी जीव तूं रात पड्या क्यों खाय।।

रात्रि में अंधकार होता है। अंधकार में यदि भोजन के साथ चींटी आ जाती है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है। यदि मक्खी भोजन में आ जाती है तो शीघ्र वमन हो जाता है। यदि भोजन में जूं चली जाती है तो जलोदर जैसा भयंकर रोग पैदा हो जाता है। यदि छिपकली चली जाय तो कु ष्ट जैसी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसके अलावा उच्च रक्तचाप, दमा, हृदय रोग, पाचन शक्ति की खराबी आदि बीमारियों की संभावना बनी रहती है।

सूर्यास्त के पूर्व भोजन करना पाचन की दृष्टि से सर्वोत्तम है। सोने के तीन घंटे पूर्व भोजन करना आरोग्यदायक है। ऐसा करने से भोजन को पचने के लिए समय मिल जाता है। रात को 9-10 बजे भोजन करने वाला भोजन करके सो जाता है जिससे वह न जल बराबर पी सकता है और न उसका भोजन बराबर पच पाता है।

सूर्य के प्रकाश की अपनी अलग ही विशेषता है। सूर्य के प्रकाश में हीरे जवाहरात आदि का जो परीक्षण किया जा सकता है, वह विद्युत के प्रकाश में नहीं। सूर्य की रोशनी में कमल खिलते हैं। सूर्योदय होते ही प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है। रात्रि में पाचन संस्थान भी बराबर कार्य नहीं करता। इसके अलावा कुछ सूक्ष्म जीव सूर्य की रोशनी में ही देखे जा सकते हैं, विद्युत के प्रकाश में नही।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए विद्युत के प्रकाश को सूर्य के प्रकाश के समकक्ष नहीं समझना चाहिए। दोनों में महान अंतर है जो स्वतः सिद्ध है।

इसलिए धर्मी पुरुषों को एवं विशेषकर साधु साध्वियों को रात्रि भोजन का पूर्णतः त्याग करना चाहिए। परिसिथतिवश श्रावक हीनाधिक रुप में भी इसका अभ्यास करते हुए पूर्ण त्याग का लक्ष्य रखता है। अंत में एक स्टेज में उसे भी रात्रि भोजन त्याग करना आवश्यक हो जाता है।

अतः गृह त्यागी को पूर्णतया और गृहस्थ को यथा शक्ति रात्रि भोजन का त्याग करके शरीर स्वास्थ्य लाभ एवं आत्मोन्नति लाभ प्राप्त करना चाहिए।

परिशिष्ट-5

चुनिंदा उपदेशी गाथाएं एवं अर्थ-

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो ।।1।।

धर्म उत्कृष्ट मंगलरुप है और वह अहिंसा, संयम और तप रुप है, जिसका मन धर्म में अनुरक्त रहता है उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

जे य कंते पिए भोए, लद्धेवि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ।।2.3।।

जो महापुरुष पूर्व पुण्य के उदय से प्राप्त हुए मनोहर भोगों और इष्ट शब्दादि विषयों को विविध वैराग्य भावना त्याग देते हैं, उनसे विमुख हो जाते हैं, और निरोग एवं समर्थ होते हुए भी समस्त भोगों को त्याग देते हैं, वे ही त्यागी कहलाते हैं।

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ।।2.5।।

आतापना रुप तपस्या कर, सुकुमारता को छोड़, इन्द्रिय विषयों में राग न करे। राग के त्याग से दुःखों का नाश हो ही जाता है। द्वेष के लेश भी रहने दें और राग को छोड दें। तो सहज ही संसार में सुखी अथवा परिषरह - उपसर्गों के संसार में विजयी होंगे।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूम केउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतय भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ।।2.6।।

गंधन और अगंधन दो प्रकार के सर्प होते हैं, जो मंत्रादि के वशीभूत होकर वमित विष को वापस चूस लेते हैं, ये गंधन और जो जलती हुई अग्नि शिखा में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु वमित विष को नहीं चूसते वे अगंधन सर्प कहलाते हैं।

थिरत्थु तेज जसोकामी, जो सं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।2.7।।

अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कु ले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ।।2.8।।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वाया विद्धुव्व हडो, अटिठ् अप्पा भविस्ससि ।।2.9।।

हे अपयश के अभिलाषी तुझे धिक्कार है। असंयम जीवन के सुख के लिए जो वमन किये को खाना चाहता है, इस प्रकार के जीवन से तो मर जाना ही अच्छा है। हे रथनेमि ! मैं भोगराज की पोती हूं और उग्रसेन की बेटी हूँ, तुम अंधक वृष्णि के पौत्र समुद्रविजय के बेटे हो, दोनों ही निर्मल कुलों में उत्पन्न हुए हैं, हमें गंधन कु लों में उत्पन्न सर्पो के समान नहीं होना चाहिए। अतः विषयादि को त्याग कर अनंत सुखों के कारण भूत निरतिचार संयम का पालन करो। यदि तुम जिस जिस स्त्री को देखोगे, उन सब पर यदि विकार भाव करोगे तो आंधी से उड़ाये गये हड़ वनस्पति या शैवाल की तरह अस्थिर हो जाओगे।

कहं चरे कहं चिट्ठे, कह मासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।।4.7।।

हे भगवान यदि ऐसा है तो मुनि कै से चले? कै से खड़ा रहे? कै से सोये? कै से भोजन करे? कै से भाषण करे? जिससे पाप कर्म का बंध न हो।

जयं चरे, जयं, चिट्ठे, जय मासे जयं सये।
जयं भुजंतों भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।।4.8।।

यतना से (ईर्या समिति युक्त होकर) चले, यतना से खड़े होवे, यतना से बैठे, यतना से सोवे, यतना से भोजन करे, यतना से भाषण करे, तो वह पाप कर्म को नहीं बाधता है।

सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधई ।।4.9।।

सभी प्राणियों में आत्म तुल्य बुद्धि रखने से, जीव स्वरुप समझने से, कर्मागमन रुप आश्रव निरोध करने से, एवं इन्द्रियों का दमन करने से पाप कर्म नहीं बंधता है।

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए।
अन्नाणि किं काही, किं वा नाहीइ छेय-पावगं ।।4.10।।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणई पावगं।
उभयंपि जाणई सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।4.11।।

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ।
जीवा जीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ।।4.13।।

दुल्लहाओ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं ।।5.1.100।।

प्रत्युपकार की बिना आशा रखे दान देने वाला दाता दुर्लभ है, बिना कुछ उपकार किए भिक्षा ग्रहण करने वाले साधु भी बिरले ही है, प्रत्युपकार की आशा न रखने वाला दाता और किसी का कार्य न करने वाले मुनि ये दोनों ही मोक्ष गति को प्राप्त करते है।

तव तेणे वय तेणे, रुव तेणे य जे नरे।
आयार भाव तेणेय, कुव्वई देव किव्विसं ।। 5.2.46।।

जो साधु तप के, व्रतों के, आचार के एवं भाव के चोर होते हैं, वे किल्विषि देवों में उत्पन्न होते हैं।

सव्वे जीवावि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंतिणं ।। 6.11।।

सब जीव जीने की इच्छा रखते हैं, कोई जीव मरना नहीं चाहता, इसलिए इनका व्यवरोपण (हिंसा) करना घोर दुःख दाता होने से भयंकर है, अतः निर्ग्रन्थ साधु इसका त्याग करते हैं। इसी प्रकार माया एवं मृषावाद का भी भिक्षु त्याग करे। अचोर्यव्रत पालन का निर्देश इस प्रकार हैं-

चित्त मंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंत सोहणमित्तं वि, उग्गहं सि अजाइया ।। 6.14।।

सचित एवं अचित अल्प या बहुमूल्य यहां तक कि दंत शोधन का तृण भी स्वामी की आज्ञा लिए बिना मुनि ग्रहण नहीं करते हैं।

मूल मेय महमस्स, महादोससभुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंतिणं ।।6.17।।

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, वध बंधादि महादोषों की खान है। इसलिए 18 पापों को पैदा करने वाले मैथुन स्त्री संसर्ग का निर्ग्रन्थ परित्याग करते हैं।

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इय वुत्तं महेसिणा ।।6.21।।

ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने निर्दोष वस्त्र आदि का ग्रहण करना परिग्रह नहीं बताया है, क्योंकि वस्त्रादि शरीर के पुष्टावलम्बन हैं, किन्तु उन में मूर्च्छा भाव को परिग्रह कहा है।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियटिट्ज्जभोगेसु, आउंपरिमियमप्पणो ।।8.34।।

जीवन अनित्य है विनश्वर है, ऐसा विचार कर रत्नत्रयी रुप मोक्ष मार्ग को जानकर, विषयों से विरक्त हो जावे, क्योंकि न जाने कब इस देह से संयोग छूट जाय, एक क्षण भी जीवित रहना निश्चय नहीं है।

जरा जाव न पीलेई, वाही जाव न वढ्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।8.36।।

जब तक बुढ़ापे के कारण शरीर में शिथिलता नहीं आती, शरीर को रोग नहीं आ घेरते, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास नहीं होता, तब तक श्रुत चारित्र रुप धर्म का खूब आचरण कर लेना चाहिए।

कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसाइं, इच्छंतो हियमप्पणो ।।8.37।।

आत्मा के विभाव परिणाम रुप क्रोध, दूसरों को हीन भान कराने वाला मान, छल, कपट, रुप माया, द्रव्यादि आकांक्षा रुप लोभ, ये चारों दोष चारित्र को दूषित करने वाले हैं अतः आत्मा के हितैषी साधक को इनका अवश्य ही त्याग करना चाहिए।

कोहो पीइं पणासेई, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोहो सव्व विणासणो ।।8.38।।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय गुण नष्ट करता है, माया मित्रता का नाश करती है, लोभ सर्व विनाशक है।

उव समेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जव भावेणं, लोहं संतोसओ जिणे ।।8.39।।

क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को जीतना चाहिए।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया व लोहो व पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ।।8.40।।

निग्रह नहीं किए हुए किंतु बढ़ते हुए क्रोध मान माया लोभ आदि ये चारों कषाय जन्म मरण की जड़ को सींचने वाले है।

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खधाहु पच्छा समुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ।।9-2.1।।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो। जेण कितिं सुअं सिगघं, नीसेसं चाभिगच्छइ ।।9-2.2।।

जैसे वृक्ष के मूल से स्कं ध की उत्पत्ति होती है, स्कंध से शाखाएं, शाखाओं से प्रशाखाएं और प्रशाखाओं से पत्ते उत्पन्न होते हैं इसके अनन्तर उस वृक्ष में फूल, फल और फल में रस आता है।

इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है एवं उसका परम फल मोक्ष है। विनय गुण से ही कीर्ति श्रुत श्लाघा आदि संपूर्ण गुणों की उपलब्धि होती है।

नाण मेगग्गचित्तो य, ठिओ य ठावई परं।
सुयाणिय अहिज्जित्ता, रओसुयसमाहिए ।।9-4.3।।

श्रुत समाधि के 4 प्रकार है- आचारांग आदि का श्रुत ज्ञान प्राप्त होगा इसलिए अध्ययन करना,

एकाग्रचित्त वाला होऊंगा, शास्त्र अध्ययन कर समझ कर आत्मा को मोक्ष मार्ग में लगाऊंगा, स्वयं स्थिर रहकर दूसरों को स्थिर करुंगा।

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
कित्तिवण्णसद्दसिलोगठयाए तवमहिट्ठिज्जा। नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।।9-4.4।।

तप समाधि के 4 भेद इहलोक संबंधी लब्धि की इच्छा से तप न करे, पर लोक स्वर्ग आदि कामनाओं से तप न करे, यश आदि की वांच्छा से तप न करे, केवल कर्मों का निर्जरा के अभिप्राय से तप करे। इस तरह ज्ञान दर्शन चारित्र का भी कर्म निर्जरा के लिये आसेवन करे।

।। पुष्प 3 दशवैकालिक सूत्र परिशिष्ट समाप्त ।।

आचारांग सूत्र

प्रस्तावना- जीव और जगत का संबंध अनादि काल से है, जहां प्राणी लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, निंदा, प्रशंसा, मान, अपमान, हर्ष, विषाद और इनकी स्थितियों एवं परिस्थितियों का विचित्र अनुभव करता है, तथा इन पर राग द्वेषादि करके जाने में या अनजाने में कर्मबंध कर जन्म मरण करता है, यह चक्र अनादिकाल से निरन्तर चला आ रहा है। भगवान महावीर समता के शास्ता थे उन्होने समता द्वारा विषमता के वातावरण से जीवन में परिवर्तन की दिशा प्रदर्शित की, एवं यह निरुपण किया कि आत्मा है, वह नित्य है, कर्त्ता है, भोक्ता है, उसके बंध भी है और मोक्ष भी है। सर्वथा राग द्वेष रहित, सर्वथा कर्म रहित होकर प्रत्येक भवी जीव मुक्त होता है, यह जैन दर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

सूत्र परिचय- भगवान महावीर ने आचार का निरुपण किया है, ज्ञान आचार, दर्शन आचार, चारित्र आचार, तप आचार और वीर्य आचार। यह मोक्ष का सम्यक् उपाय है। शरीर और कर्म का अनिवार्य योग है, राग और द्वेष से यह बंधन प्रगाढ़ होता जाता हैं। ऐसी स्थिति में कर्म बंधन से मुक्त या रहित किस प्रकार हुआ जाय, ताकि शरीर और उपाधियां भी छूट जाय, इसके लिए खेदज्ञ प्रभु महावीर ने आचार शास्त्र का सदुपदेश दिया जिसका यह प्रथम आचारांग सूत्र है। इसमें दो श्रुत स्कंध है। प्रथम श्रुत स्कंध में आत्मा का अस्तित्व, आश्रव- संवर, ज्ञान, अहिंसा, परिग्रह, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, संयम, सम्यक्त्व, ज्ञान तप, चारित्र, अप्रमाद, सत्य, विमोक्ष भावना और भगवान की चर्या को बताकर भव्यों को प्रतिबोध दिया है, प्रथम श्रुत स्कं ध में 9 अध्ययन है, प्रत्येक में अनेक उद्देशे हैं। इसमें सातवां महापरिज्ञा अध्ययन का विच्छेद हो गया है, निर्युक्तिकार के समय यह उपलब्ध रहा होगा, चूर्णिकार टीकाकार वृत्तिकार के समय विलुप्त हो गया होगा, या फिर मंत्रों का उल्लेख होने के कारण अध्ययन वर्जित कर दिया होगा, सत्य परंपरा अज्ञात है। द्वितीय श्रुत स्कं ध में 16 अध्ययन हैं, इसमें चार चूलिकाएं हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण आगम में 25 अध्ययन है। द्वादशांगी का प्रथम अंग आचारंग है, इसमें आचार संबंधित विस्तृत विवेचन है, साधु साध्वी की संयम यात्रा निर्दोष और निर्विघ्न पूरी हो, इसके लिए मर्यादा युक्त आचार का दिग्दर्शन कराया है, दीक्षा उपरांत साधु साध्वी को सर्व प्रथम आचारांग का अध्ययन कराया जाता है, फिर अन्य सूत्र की वांचना दी जाती है। आचारांग के दो श्रुतस्कंध 25 अध्ययन 85 उद्देशक एवं 18000 पद बताये हैं। वर्तमान में यह सूत्र 2100 श्लोक प्रमाण माना जाता है।

मुख्य विषय- इस प्रकार इस सूत्र के एक विभाग में संसार से विरक्ति, संयम पालन में उत्साह और कर्मों से लोहा लेने की क्षमता को बल देने वाले संक्षिप्त शिक्षा वचन एवं प्रेरणा वचन कहे गये हैं। नौवें अध्ययन में भगवान महावीर स्वामी का संयम पालन और कष्टमय छद्मस्थ काल का संक्षिप्त परिचय है। जो साधक के हृदय में विवेक एवं वीरता जागृत करने वाले आदर्श के रुप में उपस्थित किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में संयम आराधन करने में जीवन के आवश्यक पदार्थ आहार विहार शय्या उपधि आदि के विवेकों का विधान विधि निषेध के वाक्यों में किया गया। भाषा आदि अन्य विषयों का भी विवेक है। अंत में 25 भावना सहित महाव्रतों का स्वरुप बताने के साथ भगवान महावीर स्वामी का जन्म परिचय, परिवार परिचय, दीक्षा वर्णन एवं

केवल ज्ञान उत्पत्ति तक का संक्षिप्त वर्णन है। उसके बाद 12 गाथामय छोटा विमुक्ति नामक अध्ययन है जो उपमाओं से युक्त है।

इस प्रकार इस पूरे सूत्र के दोनों विभागों का विषय है- 1 संयम में उत्साहित करना।

और 2 उसके पालन में सार्वत्रिक विवेक जागृत करना।

साहित्य संस्करण- आचारांग की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं विविध टीकाएं मुद्रित उपलब्ध हैं। इसके साथ ही स्थानीय भाषाओं में हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी, कन्नड, बंगाली आदि भाषाओं में इस सूत्र का संपादन प्रकाशन हुआ है। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, जैन विश्व भारती लाडनू आदि से विवेचन सहित इस सूत्र का प्रकाशन हुआ है।

युग की नई पुकार के अनुसंधान में इस सारांश प्रावधान में 32 ही सूत्रों का संपादन किया गया है जिसमें यह ग्रंथ स्वाध्यायियों की सेवा में प्रस्तुत है।

संयोजक

विमल कुमार नवलखा सूरत

प्रथम अध्ययन

प्रथम उद्देशक-

1. पूर्व भव का स्मरण और आगे के भव की जानकारी तथा आत्मस्वरुप का ज्ञान अधिकांश जीवों में नहीं होता है। विशिष्ट ज्ञान होने पर या विशिष्ट ज्ञानी के माध्यम से किसी-किसी को उन अवस्थाओं का ज्ञान हो सकता है।
2. आत्मस्वरुप का ज्ञाता ही लोक स्वरुप, कर्म स्वरुप और क्रियाओं के स्वरुप का ज्ञाता होता है।
3. क्रियाएं तीन करण, तीन योग,और तीन काल के संयोग से 27 प्रकार की कही गई है।
4. कर्म बंध की कारण भूत क्रियाओं को जीव इन कारणों से करते हैं-

   1. जीवन निर्वाह करने के लिए
   2. यशकीर्ति, पूजा प्रतिष्ठा, मान सम्मान के लिए
   3. आई हुई आपत्ति दुःख व रोग का निवारण करने के लिए।
5. कई जीव मोक्ष प्राप्ति के लिए अर्थात् धर्म हेतु भी कर्म बन्ध की क्रियाएं करते है।
6. इन क्रियाओं का त्यागी ही वास्तव में मुनि है।

उद्देशक 2 से 7 तक-

इन छः उद्देशकों में क्रमशः पृथ्वीकाय आदि छः कायों का अस्तित्व एवं उनकी विराधना का स्वरुप और विराधना के त्याग की प्रतिज्ञा का कथन किया गया है जो दशवै अ. 4 में देखे। कुछ विशेष इस प्रकार है-

1. सांसारिक प्राणी उपरोक्त जीवन निर्वाह आदि कारणों से छः काय जीवों की आरम्भ जनक क्रियाएं करते हैं। वे सभी आरम्भ जनक क्रियाएं उनके अहितकर और अबोधि रुप फलदायक होती है अर्थात् धर्म हेतु भी इन छः कायों का विनाश करने से सुख की जगह अहित और अबोधि की ही प्राप्ति होती है। यह वाक्यांश सभी 7 उद्देशों में दुहराया गया है।
2. एकेन्द्रिय जीवों के दुःख को उपमा द्वारा समझाया गया है-

   क. अंधे एवं अंगोपांग हीन व्यक्ति को मारने पर

   ख. किसी व्यक्ति के अवयवों का छेदन-भेदन करने पर

   ग. किसी को एक ही प्रहार से मार देने पर, उन्हें वेदना होना जिस प्रकार हमारी आत्मा स्वीकार करती हैं, उसी प्रकार स्थावर जीवों को भी वेदना तो होती है किन्तु वे व्यक्त नहीं कर सकते।
3. अणगार सदा सरल-माया रहित स्वभाव एवं आचरण वाला होता है।

4. भिक्षु जिस उत्साह और लक्ष्य से संयम ग्रहण करे, तदनुसार ही जीवन पर्यन्त पालन करे। लक्ष्य परिवर्तन या उत्साह परिवर्तन रुप सभी बाधाओं को ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा विवेक के साथ दूर करते हुए साधना करे।
5. एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व की श्रद्धा करे किन्तु अपलाप न करे। इनका अपलाप करने पर स्वयं के अस्तित्व का अपलाप होता है जो कि स्पष्ट ही असत्य है।
6. बाह्य व्यवहार के अनेक चेतना लक्षण मनुष्य के समान ही वनस्पति में भी पाए जाते हैं जिसमें से नव समान धर्म पांचवे उद्देशक में कहे हैं।
7. त्रस जीवों के शरीर एवं अवयवों की अपेक्षा 18 पदार्थ प्राप्ति हेतु लोग उनकी हिंसा करते है और कई लोग केवल वैर भाव से या निरर्थक अथवा भय के कारण भी उनकी हिंसा करते हैं।
8. छः काय में वायुकाय ही हमारे लिए चक्षु ग्राह्य नहीं है अन्य कायों की अपेक्षा इसकी विराधना का सम्पूर्ण त्याग करना अत्यधिक दुःशक्य है इसीलिए इसका कथन अन्तिम उद्देशक में किया गया है।
9. इन छः कायों का उक्त स्वरुप समझकर जो इनकी विराधना का त्याग एवं उसका पालन नहीं करता है वह कर्म संग की वृद्धि करता है।

दूसरा अध्ययन

प्रथम उद्देशक-

1. शब्द रुप गन्ध रस और स्पर्श की चाहना, प्राप्ति और आसक्ति युक्त उपभोग ही संसार की जड़ हैं।
2. इनमें आसक्त जीव संसारिक संबंधियों के मोह की वृद्धि कर उनके लिए रात-दिन अनेक दुःखों से धन और कर्मों का उपार्जन कर संसार वृद्धि करता है।
3. शरीर की शक्ति, इन्द्रियों का तेज और पुण्य के क्षीण हो जाने पर अथवा वृद्धावस्था आ जाने पर इस जीव की बड़ी ही दुर्दशा होती है और वह स्वयं के कर्मों के अनुसार दुःखी हो जाता है।
4. धन-योवन अस्थिर है। सम्पूर्ण संसार के संग्रहित पदार्थ भी छोड़कर जाना पड़ेगा। उस समय ये पदार्थ दुःख व मौत से मुक्त नहीं करा सकेंगे।
5. अतः अवसर को समझकर इस मनुष्य भव में इन्द्रिय और शरीर की स्वस्थता रहते हुए ही जागृत होकर आत्म अर्थ की सिद्धि हस्तगत कर लेनी चाहिए।

द्वितीय उद्देशक-

1. साधना काल में परिषह, उपसर्ग, लोभ, कामनाएं आदि कई परिस्थितियां आती है, उसमें सम्भल कर रहना चाहिए। सदा सांसारिक जीवों की दुर्दशा के चिन्तन को आत्म भाव में उपस्थित रखना चाहिए।

2. सांसारिक जीव अनेक हेतुओं से एवं लोगों को अपना बनाने के लिए पाप करते रहते हैं किन्तु अन्त में वे असहाय होकर कर्म वश से दुर्गति प्राप्त कर उभय लोक बिगाड़ते हैं।

तृतीय उद्देशक-

1. सभी जीवात्मा समान है अतः कभी भी गोत्र आदि का गर्व नहीं करना तथा हर्ष एवं क्रोध भी नहीं करना चाहिए।
2. अन्धे, बहरे आदि जीवों के प्रति हीन भाव न करके आत्मसम व्यवहार करना।
3. कई प्राणी भोग विलास ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानते हैं। किन्तु इनके विपरीत कई आत्म-हितैषी अणगार जन्म मरण को और जीवन की क्षण भंगुरता को जानते हैं एवं प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं ऐसा भी वे समझते हैं।
4. अपने सुख के लिए प्राणियों का विनाश करना या धन का संग्रह करना आत्मा के लिए अहितकारी है।
5. प्राप्त धन के विनाश की भी अनेक (6) अवस्थाएं होती है।
6. धन संग्रही जीव संसार सागर को पार नहीं कर सकता। यह जानकर पण्डित पुरुष संयम को प्राप्त करे एवं उसकी भगवदाज्ञानुसार आराधना करे।

चतुर्थ उद्देशक-

1. रोगोत्पत्ति हो जाने पर धन एवं परिवार के होते हुए भी स्वयं का दुःख स्वयं को ही भुगतना पड़ता है।
2. आशाएं और स्वच्छंद बुद्धि के आचरण ही दुःख के मूल हैं। इनका त्यागकर कर्म शल्य से मुक्त होना चाहिए।
3. अधिकांश जीव स्त्री सेवन में आसक्त होकर उसी सुख को सब कुछ समझकर भव भ्रमण एवं दुःख परम्परा की वृद्धि करते हैं। भगवान कहते हैं कि यही जीवों को महामोहित करने का एक सांसारिक केन्द्र हैं।

पांचवा उद्देशक-

1. मुनि को छोटे-बड़े सभी दोषों से रहित आहारादि की गणेषणा करते हुए उदर पूर्ति करना चाहिए। अपने लिए क्रय-विक्रय किए पदार्थ नहीं लेना, न ही क्रय-विक्रय संबंधी गृहस्थ प्रवृत्ति में भाग लेना।
2. भिक्षार्थ जाने वाला भिक्षु योग्य गुणों से संपन्न होवे एवं लोभ आसक्ति से सदा रहित रहे।
3. रुप आदि में आसक्त न हो एवं काम भोगों के दारुण विपाक को समझकर सदा उन पर विजय प्राप्त करता हुआ विचरण करे।
4. अन्दर-बाहर एक स्वभाव से रहे और शरीर के बाहर या भीतर सभी अशुचि पदार्थ भरे हैं इस चिन्तन की उपस्थिति से सदा विषय भोगों से विरक्त रहे।

5. संसार के जीवों की माया, आसक्ति और आरम्भ प्रवृत्ति को तथा उसके परिणाम-विपाक में प्राप्त दशाओं को देखकर एवं चिंतन कर के मुनि संयम में लीन रहे।

षष्ठम उद्देशक–

1. संयम स्वीकार करने के बाद किसी भी प्रकार के पाप कर्म का सेवन नहीं करना चाहिए। सुखार्थी, लोलुप साधक कभी न कभी व्रतों की विराधना कर देता है एवं पश्चाताप और भव भ्रमण करता है।
2. मेरा, मेरा-पन रुप कहीं भी, किसी में भी, जो ममत्व भाव है, उसका त्याग करना संयम साधना में नितान्त आवश्यक है।
3. वीर साधक कभी भी रति अरति अर्थात् हर्ष-शोक नहीं करें।
4. इन्द्रिय विषयों के प्रति और जीवन के प्रति सदा निर्वेद भाव रखे।
5. जो अन्य को आत्मवत् देखता है वही महात्मा, परमात्मा बन सकता है।
6. मुनि गरीब या अमीर को समान भाव से अर्थात् रुचि पूर्वक धर्म कहे।
7. श्रोता के कषाय वृद्धि और कर्म बन्ध नहीं होकर गुण वृद्धि हो ऐसी विचक्षणता से धर्मोपदेश करना चाहिए।
8. साधक सदा लोकसंज्ञा का और हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग करें।

तीसरा अध्ययन

प्रथम उद्देशक–

1. मुनि सदा भावों से जागृत -सावधान रहता है।
2. शब्दादि इन्द्रिय विषयों का परित्याग करने वाला ही वास्तव में आत्मार्थी, ज्ञानी, शास्त्रज्ञ, धर्मी, ब्रह्मचारी, मुनि और धर्मज्ञ है। परिषह उपसर्ग सहने वाला और हर्ष-शोक नहीं करने वाला ही निर्ग्रन्थ है।
3. बुद्धिमान यह समझ ले कि सारे दुःख आरम्भ (पाप प्रवृत्ति) से ही उत्पन्न होते हैं। मायी (चार कषाय वाले) और प्रमादी (पाप सेवी) ही दुर्गति में जाते हैं।
4. शब्दादि विषयों में उपेक्षा भाव रखने वाला साधक मरण से मुक्त हो जाता है।
5. हिंसादि पाप का परिपूर्ण ज्ञाता ही वास्तव में संयम का ज्ञाता है।
6. संसार भ्रमण की सम्पूर्ण उपाधि, कर्मों से ही उत्पन्न होती है और कर्मों का मूल हिंसा है।
7. राग-द्वेष न करते हुए एवं लोकसंज्ञा (सांसारिक रुचि) का त्याग करते हुए संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक–

1. परम धर्म को समझकर सम्यक् दृष्टि पाप कर्मों का उपार्जन नहीं करता है।

2. काम भागों में गृद्ध जीव कर्म संग्रह कर संसार भ्रमण करते हैं।
3. कर्म विपाक का ज्ञाता मुनि पाप कर्म नहीं करता है।
4. सांसारिक प्राणी सुख के लिए जो पुरुषार्थ करते हैं वह चालणी को पानी से भरने के पुरुषार्थ के समान है।
5. मुनि भौतिक सुख और स्त्री से विरक्त रहे।
6. मुनि क्रोधादि कषायों और आश्रवों का त्यागी बने। मनुष्य भव रुपी अवसर प्राप्त कर हिंसा का सर्वथा त्याग करे।

तृतीय उद्देशक-

1. दूसरों की लज्जावश पाप कर्म नहीं करने में भाव संयम नहीं है। किंतु परमज्ञानी साधक कर्म सिद्धांत एवं भगवदाज्ञा को समझकर कभी प्रमाद न करे, वैराग्य के द्वारा उदासीन वृत्तिपूर्वक, अहिसंक बने।
2. तत्त्वों की शुद्ध श्रद्धा रखकर कर्म क्षय करने में तत्पर बने।
3. हास्य एवं हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करके गंभीर बने।
4. आत्म निग्रह कर एवं आत्मा को ही सच्चा मित्र समझकर सही पुरुषार्थ करने से दुःखमय संसार को पार किया जा सकता है।
5. ज्ञानी साधक कभी भी मान, पूजा, सत्कार का इच्छुक न बने और दुःख के पहाड़ आ जाने पर भी प्रसन्न मन रहे।

चतुर्थ उद्देशक-

1. सर्वज्ञ भगवान् का कथन है कि चारों कषायों का वमन कर देना चाहिए।
2. प्रमादी को सर्वत्र भय रहता है अप्रमादी ही निर्भय रहता है।
3. सांसारिक प्राणियों के दुःखों का अनुभव करके वीर पुरुष सदा संयम में आगे ही बढ़ते है।
4. एक-एक पाप का या अवगुण का सर्वथा त्याग करते रहने वाला पूर्ण त्यागी बन सकता है।
5. क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष एवं मोह का त्याग करना ही वास्तव में गर्भ, जन्म, नरक एवं तिर्यंच के दुःखों का त्याग करना है।
6. वीतराग वाणी के अनुभव से जो सम्यग् दृष्टा बन जाता है उसके कोई उपाधि नही रहती है।

चौथा अध्ययन

प्रथम उद्देशक-

1. धर्म का सार यही है कि किसी भी छोटे-बड़े प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख पीड़ा कष्ट नहीं देना-यह सर्वज्ञों की आज्ञा है।
2. मनुष्य भव में भी यह ज्ञान और विवेक नहीं आया तो अन्यत्र तो आना सम्भव कैसे होगा?
3. अतः धीर साधक अप्रमाद भाव से सदा यतना पूर्वक आचरण करे।

द्वितीय उद्देशक-

1. व्यक्ति के विवेक के द्वारा कर्म बंध के क्षण और कर्म बंध के कार्य भी संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के हेतु भूत बन सकते हैं। इसी अपेक्षा से यह कहा जाता है कि विवेक में धर्म है।
2. प्रत्येक प्राणी की मृत्यु निश्चित है। फिर भी इच्छाओं के वशीभूत हो असदाचार द्वारा अज्ञानी जीव कर्मों का संचय करते हैं। क्रूर कर्मों से वे महादुःखी बन जाते हैं।
3. कुछ मिथ्यावादी हिंसा में ही धर्म मानते हैं।
4. ज्ञानी उन्हें कहते हैं कि जब तुम्हें सुख अच्छा लगता है, दुःख अच्छा नहीं लगता है, तो दूसरे प्राणियों की भी यही मनोदशा है, यह स्पष्ट है। सभी जीव सुखी रहना चाहते हैं, दुःख सबके लिए महा भय प्रद है, तो अपने सुख के लिए दूसरों को दुःखी करना यह कभी भी धर्म नहीं हो सकता ।

तृतीय उद्देशक

1. जो संसारी लोगों की रुचियां-प्रवाह है, ज्ञानी उसकी उपेक्षा ही करता है अर्थात् स्वयं वैसा नहीं बनता है।
2. दुःखों का मूल हिंसा या आरम्भ प्रवृत्ति ही है।
3. भगवदाज्ञा पालक मुनि एकत्व भाव में लीन बनकर कर्म क्षय करने में पुरुषार्थ करे।
4. कर्म रुपी जीर्ण काष्ट को तप संयम रुपी अग्नि में शीघ्र भस्म कर देना चाहिए।
5. साधक को प्रत्येक धर्माचरण या तपाचरण में आत्म समाधि की सुरक्षा का प्रमुख ध्यान रखना चाहिए।
6. क्षण भंगुर जीवन को जानकर और समस्त प्राणियों के दुःखों का अनुभव करके पंडित साधक कषायों और पापों का सवथा त्याग कर दे।

चतुर्थ उद्देशक-

1. संयम और तप का आराधन सरल नहीं है। आत्म समाधि के साथ-साथ शरीर की सर्वस्व आहुति करने पर ही लक्ष्य की पुष्टि होती है। अतः साधक हर अवस्था में प्रसन्न रहना सीखे और शरीर के प्रति ममत्व-भाव का त्याग भी करे।
2. संयम में लीन रहकर खून मांस को सुखा डाले अर्थात् शरीर को कृश कर कर्मों की समाप्ति करे। वही वीर मुमुक्षु साधक है।
3. कर्मों का विचित्र फल जानकर उनमें मुक्त होने का सदा प्रयास करे।
4. सदा ऐसे ही त्यागी वीर पुरुषों का आदर्श सामने रख कर आत्म विकास करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

पांचवां अध्ययन

प्रथम उद्देशक–

1. सांसारिक प्राणी प्रयोजन से या बिना प्रयोजन के भी जीवों का घात करके फिर उसी योनियों में जाते हैं।
2. कामभोग जीव को भारी कर्मा बनाकर संसार के जन्म मरण में रखते है और मुक्ति से दूर करते हैं। वे प्राणी मोह से मूढ़ बन जाते हैं।
3. चतुर कुशल पुरुष (साधक) विषय-भोगों का सेवन नहीं करते ।
4. रुपों में आसक्त बने कई जीव बारम्बार कष्ट पाते हैं।
5. कई जीव आरंभ समारंभ में रमण करते हैं उसे ही शरण भूत समझते हैं। किन्तु वास्तव में वह अशरण भूत ही है।
6. कई साधक स्वयं के कषायों एवं दुष्प्रवृत्ति के कारण एकल विहारी होकर कपट आदि अवगुणों से मूढ़ बनकर धर्म से च्युत होजाते हैं।

द्वितीय उद्देशक–

1. कई साधक मनुष्य भव को अमूल्य अवसर जानकर आरम्भ के त्यागी बनते हैं और सर्व शक्ति से संयम तप में तल्लीन बन जाते हैं।
2. सर्वज्ञों का यही उपदेश है कि उठो! प्रमाद न करो। जीवों के सुख-दुःख को देखों और अहिंसक बनकर स्वयं की आपत्ति को धैर्य से पार करो।
3. साधक यह सोचे कि पहले या पीछे कभी भी बंधे हुए कर्मों का कर्ज तो चुकाना ही होगा और शरीर भी तो एक दिन छोड़ना ही होगा।
4. ऐसे आत्मार्थी चिन्तनशील ज्ञानी के लिए संसार मार्ग नहीं रहता है।
5. परिग्रह महाभय दायक है, कर्म का बंध कराने वाला है, यह जानकर साधक सदा अपने भावों को परिग्रह एवं आरम्भ से मुक्त रखे।
6. बंध और मोक्ष, भावों की प्रमुखता से ही होते हैं। अतः जीवन पर्यन्त अप्रमत्त भावों से संयम की आराधना करे।

तृतीय उद्देशक–

1. अनुपम अवसर प्राप्त हो जाने पर साधना काल में कभी भी अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। संयम तप में वृद्धि ही करना किन्तु हानि कभी भी नहीं करना चाहिए।
2. जिनाज्ञा का पालन करने वाला साधक इस संसार में कहीं भी स्नेह न करे और युद्ध भी करे तो कर्मों से आभ्यन्तर युद्ध करे। कर्मों से युद्ध करने का यहीं अवसर है अन्य भव में नहीं।
3. कई साधक और इन्द्रिय विषयों में आसक्त व्यक्तियों से संयम आराधना शक्य नहीं हैं।

अतः संयम लेकर जो मुनि रुक्ष एवं सामान्य आहार का सेवन करते हैं वे ही कर्मों को परास्त कर मुक्त और तीर्ण होते हैं।

चतुर्थ उद्देशक–

1. व्यक्त (अयोग्य) भिक्षुओं का एकल विहार असफल हो जाता है क्योंकि उनमें से कई साधक बारम्बार क्रोध और घमण्ड के वशीभूत बन जाते हैं और वे अनेक बाधाओं को पार करने में अक्षम होकर महादुःखी बन जाते हैं।
2. ऐसे अपरिपक्क साधकों को सदा गुरु सान्निध्य से संयम गुणों का एवं आत्म शक्ति का विकास करना चाहिए।
3. शुद्ध संयम भावों के साथ विवेक युक्त प्रवृत्ति में भी कभी हिंसादि हो जाए तो अल्प कर्म संग्रह होता है जो शीघ्र ही क्षय हो जाता हैं।
4. साधक स्त्री परीषह से सदा सावधान रहे और कभी किसी कारण से ब्रह्मचर्य घातक परिणाम उत्पन्न हो जाए तो उसे आहार त्याग या विहार आदि सूत्रोक्त क्रमिक उपायों से आत्मा के उन दुष्परिणामों को दूर कर देना चाहिए।
5. ये कामभोग आगे-पीछे अशान्ति- क्लेश के जनक है।
6. संयम की सावधानी हेतु साधक को संयमी जीवन में विकथाएं, चक्षु इन्द्रिय के पोषण, गृहस्थ के प्रपंच, वाचालता आदि से दूर रहना चाहिए।

पंचम उद्देशक–

1. सर्वत्र से सुरक्षित निर्मल परिपूर्ण जल वाले ह्रद द्रह के समान ही लोक में मुनि होते हैं।
2. उत्पन्न हुए संदेहों को जिन वचनों की श्रद्धा के द्वारा दूर कर देना चाहिए।
3. ''जिनेश्वर भाषित तत्व सदा सत्य एवं निःशंक है'' ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।
4. सम्यग् अनुप्रेक्षण करने वाले के सभी प्रसंग सम्यक् हो जाते हैं।
5. किसी को कष्ट देने के समय यह सोचना चाहिए कि ''इस जगह यदि मैं होऊं तो कैसा अनुभव होगा'', यह सोचकर तीनों करण से अहिंसक बने।
6. आत्मा ही विज्ञाता और परमात्मा है। यह समझने वाला और सम्यक् आचरण करने वाला ही सच्चा आत्मवादी और सम्यक् संयमी है।

षष्ठ उद्देशक–

1. जिनाज्ञा में ही सदा प्रवृत्त होना चाहिए।
2. मोक्षार्थी साधक इन्द्रियों से गुप्त होकर आगामानुसार ही पुरुषार्थ करे।
3. संसार में सर्वत्र कर्म बंध के एवं भव भ्रमण के स्थान है। इन्हें आवर्त्त (चक्कर) जाने और इस जन्म मरण के चक्राकार मार्ग को पार कर ले।

4. परमात्म सिद्ध अवस्था स्वर, तर्क और मति से ग्राह्य नहीं है। वहां आकार, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी नहीं है और स्त्री पुरुष आदि भी नहीं अवस्था है। कर्म बंध भी नहीं है। केवल ज्ञाता दृष्टा अवस्था है। अतः उसकी कोई उपमा भी नहीं है।

छठा अध्ययन

1. जिसे ये सर्व जन्म-मरण के स्थान समझ में आ जाते हैं, वही अनुपम ज्ञानी हो सकता है एवं मुक्ति मार्ग का प्ररूपक हो सकता है।
2. पलाश-पात्र आच्छादित जल में से कई अल्प सत्व वाले प्राणी बाहर नहीं आ सकते है। वृक्ष अपने स्थान से हट नहीं सकते, उसी प्रकार कई जीव संसार में फंसे रहते हैं, कर्मों से मुक्त नहीं होते हैं।
3. संसार में कई प्राणी बड़े-बड़े राज रोगों से दुःखी होते हैं।
4. कर्मों का विपाक विचित्र है, उससे ही लोक के प्राणी विभिन्न दुःखों से व्याप्त है।

ऐसी अवस्था हमें प्राप्त न हो इसके लिए किसी भी प्राणी को किंचित भी दुःख नहीं देना चाहिए एवं पापों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

यह जानकर कई प्राणी अनुक्रम से महामुनि बन जाते हैं। पारिवारिक लोग उन्हें संसार में फंसाने की कोशिश करते हैं किन्तु वह उन्हें शरण भूत नहीं समझता है और ज्ञान में रमण करता है।

द्वितीय उद्देशक-

1. कई साधक संयम स्वीकार करके भी परीषह उपसर्गों से घबरा जाते हैं, विषय लोलुप बन जाते हैं, संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं फिर भी वे अन्तराय कर्म के कारण इच्छित भोगों से वंचित होकर दुःखी हो जाते हैं।
2. कई साधक वैराग्य तथा ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण आसक्तियों को दूर करते हुए यतना पूर्वक संयमाराधन करते हैं। आक्रोश, वध आदि को सम्यक् सहन करते हैं, वे ही वास्तव में मुनि हैं और संसार भ्रमण से मुक्त होते हैं।
3. संयम साधकों को सदा जिनाज्ञा की आराधना को ही धर्म समझकर पुरुषार्थ करना चाहिए।
4. कई एकल विहार चर्या वाले साधक भी जिनाज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए शुद्ध गवेषणा से जीवन निर्वाह करते हैं एवं परीषह उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करते हैं, वे मेधावी है अर्थात् प्रशस्त एकल विहारी है।

तृतीय उद्देशक-

1. संयम के साथ अचेल (वस्त्र रहित) अवस्था में रहने वाले मुनियों को वस्त्र सीवन आदि संबंधी क्रियाएं, चिन्ताएं नहीं होती है।
2. शीत, उष्ण, तृण-स्पर्श आदि कष्टों को समभाव से सहन करने पर उनके कर्मों की महा निर्जरा होती है।
3. ऐसे वीर पुरुषों के संयम और शरीर को देखकर अपनी आत्मा को भी शिक्षित एवं उत्साहित करना चाहिए।

4. समुद्र के बीच उच्च स्थान पर आए हुऐ असंदीन (नहीं डूबने वाले) द्वीप के समान धीर वीर साधक को अरति आदि बाधाएं कुछ भी नहीं कर सकती है।

5. वे महामुनि शिष्यों को भी इसी प्रकार शिक्षण देकर संयम में दृढ़ करते हैं।

चतुर्थ उद्देशक-

1. कई साधक शिक्षाप्रद प्रेरणा के वचनों को सहन नहीं कर पाते। वे गुरु से या संयम से विमुख हो जाते हैं और कई तो श्रद्धा से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐहिक इच्छाओं के कारण भ्रष्ट बने उनका संयम ग्रहण करना निरर्थक हो जाता है।

2. वे सामान्य जन के निन्दा-पात्र बनते हैं, जन्म मरण बढ़ाते है।

3. उन्नत वैराग्य से दीक्षित होकर भी कई इच्छाओं और विषयों के वशीभूत होकर पुनः संयम त्याग देते हैं उनकी सम्पूर्ण यश कीर्ति धूमिल हो जाती है।

4. इन सब अवस्थाओं को विचार कर मोक्षार्थी साधक सदा आगमानुसार ही संयम में पराक्रम करे।

पंचम उद्देशक-

1. ग्रामादिक किसी भी स्थल पर कोई भी कष्ट आवे तो मुनि उसे समभाव से सहन करे।

2. मुनि की सेवा में उपस्थित व्यक्तियों को वह उनकी योग्यता का विचार करके तथा किसी की भी अशातना, विराधना न हो इस तरह अहिंसा, क्षमा, शान्ति, आदि का उपदेश दें, महाव्रत का व्रत का स्वरूप समझावे।

3. संयम में अबहिर्लेशी अर्थात् असंयमी विचारों एवं व्यवहारों का त्याग करता रहे, संयम नाशक तत्त्वों से दूर रहे।

4. आरंभ-परिग्रह काम भोग और क्रोधादि कषायों का विवेक पूर्वक त्याग करने वाला कर्मों का क्षय कर मुक्त होता है।

5. अन्तिम समय में शरीर का त्याग करना, यह कर्म संग्राम का शीर्ष है, अर्थात् प्रमुख अवसर है, उस समय पादपोपगमन आदि संथारा कर लेना चाहिए।

सातवां अध्ययन उपलब्ध नहीं है, व्यवच्छिन्न है-

आठवां अध्ययन

1. अन्य तीर्थिक सन्यासी या अन्य सम्भोगिक जैन श्रमण के साथ आहार आदि का आदान प्रदान एवं नियंत्रण नहीं करना।

2. अन्य तीर्थिक विभिन्न प्रकार से प्ररुपण और प्रवृत्ति करते हैं। उनका धर्म प्ररुपण भी सत्य नहीं है।

3. सभी धर्मों में किसी न किसी रुप में पाप सेवन को भी स्वीकार किया गया है। इस कारण वे पूर्ण शुद्ध धर्म नहीं है।

4. ग्राम हो या नगर हो अथवा जंगल हो, कहीं पर भी हो और प्रथम मध्यम या अन्तिम किसी भी वय में बोध प्राप्त करके जो संयम धारण करे और हिंसादि पापों का सर्वथा परित्याग कर दे, वह मुक्त होता है।

5. सर्वत्र लोकगत जीव हिंसादि में लगे हैं, उन्हें देख मुनि त्रिकरण योग से हिंसा दण्ड का सेवन न करें।

द्वितीय उद्देशक-

1. आधाकर्मी आहार को मुनि मृत्यु दण्ड तक भी स्वीकार नहीं करे किन्तु शक्य हो तो आग्रह करने वाले दाता को धर्म समझावे।
2. असमान संयमी भिक्षुओं के साथ आहार आदान-प्रदान व्यवहार न करे किन्तु समान संयमी भिक्षुओं के साथ आहार-व्यवहार करे।

तृतीय उद्देशक-

1. मध्यम वय में भी कई मुमुक्षु उन्नत संयमी बन जाते है एवं शुद्ध आराधन करते हैं, वे महा निर्ग्रन्थ हैं।
2. शरीर के ममत्व का त्याग कर वे अनेक गुण सम्पन्न हो जाते हैं।
3. असह्य सर्दी से कांपते हुए उन्हें देखकर कोई अग्नि से तापने को प्रेरित करे तो भी मन से भी वांच्छा न करें।

चतुर्थ उद्देशक-

1. मुनि तीन वस्त्र (चद्दर) धारण करने की विशेष प्रतिज्ञा (आठ मास तक) धारण करे वह वस्त्रों को धोवे नहीं। जीर्ण हो जाए तो नया लेवे नहीं किन्तु जीर्ण को परठ दे। सभी जीर्ण हो जाए तो निर्वस्त्र हो जावे।
2. भिक्षु कभी स्त्री परीषह से पराजित हो जाए तो अन्त में स्वयं ही मृत्यु स्वीकार कर ले किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत भंग नहीं करे। व्रत रक्षा हेतु उसका स्वतः वेहानस एवं गृद्ध स्पृष्ट मरण से मरना भी कल्याणकारी है।

पंचम उद्देशक-

1. भिक्षु दो वस्त्र धारण (आठ मास तक) की प्रतिज्ञा करे उन वस्त्रों का परिकर्म न करें। जीर्ण हो जाने पर उनका परिष्ठापन कर अचेल रहे, परिषह आदि सम्यग् सहे।
2. किसी रोग से कभी स्वयं गोचरी जाने में असमर्थ हो तो भी दूसरों से (गृहस्थों से) न मंगवावे न इनसे ले। आहार के सिवाय अन्य भी कोई वस्तु न ले। स्वस्थ होने पर स्वयं लावें।
3. वैयावृत्य नहीं कराने संबंधी भी भिक्षु अभिग्रह धारण कर सकता है। यह वैयावृत्य पारस्परिक व्यवहार संबंधी है। रोगांतक आदि में स्वयं सेवा कराने का त्याग किया जा सकता है किन्तु अन्य रूग्ण की सेवा का त्याग नहीं किया जाता है।
4. जिनाज्ञा अनुसार एवं अपनी समाधि अनुसार ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का सम्यग् आराधन करे एवं मृत्यु निकट जानकर भक्त प्रत्याख्यान पण्डित मरण स्वीकार करें।

छठा उद्देशक-

1. भिक्षु एक वस्त्र (आठ मास तक) धारण करने की प्रतिज्ञा करे जीर्ण हो जाने पर निर्वस्त्र रहे।
2. अकेला भिक्षु सदा एकत्व भाव में रमण करे।
3. भिक्षु आहार के प्रति रसास्वादन वृत्ति न रखे।
4. श्रमण जब शरीर की दुर्बलता जान ले कि यह संयम पालन के अक्षम हो रहा है तो तृण आदि की याचना कर योग्य स्थान में इंगित मरण संथारा ग्रहण करे एवं उसकी विधिपूर्वक आराधना करे।

सातवां उद्देशक-

1. भिक्षु अचेल होने की प्रतिज्ञा धारण करे अथवा लज्जा निवारणार्थ एक चोलपट्टक (कटिबंधनक) धारण करें। शीत उष्ण कष्ट सम्यग् सहे। उसके जीर्ण हो जाने पर अचेल भी रहे।
2. आहार सम्भोग के त्याग करने की विभिन्न प्रतिज्ञा धारण करे।
3. अन्त में यथा विधि पादपोपगमन पण्डित मरण स्वीकार करे।

आठवां उद्देशक-

1. भक्त प्रत्याख्यान- कषाय पतले करे, आहार घटावे, फिर आहार त्याग करे, जीवन मरण की चाहना न करें, निर्जरा प्रेक्षी होकर शुद्ध अध्यवसाय रखे। आयु समाप्ति निकट जान आत्मा को शिक्षित करे। योग्य निर्जीव भूमि में विधिपूर्वक संथारा करे। कष्ट परीषह में धैर्य रखे। छोटे-बड़े जीवों के द्वारा उत्पन्न उपद्रव में सहनशीलता के साथ शुद्ध परिणाम रखे।

2. इंगित मरण- अन्य किसी के द्वारा कोई भी सहकार सहयोग परिकर्म स्वीकार न करे किन्तु आवश्यक होने पर स्वयं शरीर की परिचर्या (दबाना आदि) कर सकता है।

3. पादपोपगमन- वृक्ष की टूट कर गिरी हुई शाखा के समान स्थिरकाय होकर एक स्थान पर ही रहे। परीषह उपसर्ग दृढ़ता के साथ सहन करे। शरीर पर ही कोई चले या शरीर को कु चल दे तो भी धैर्य से सहन करे किन्तु वहां से न हटे। मल-मूत्र त्यागने हेतु उठ सकता है।

जीवन पर्यन्त इस तरह सहन करे। सहनशीलता को ही परम धर्म समझे।

नवमां अध्ययन

प्रथम उद्देशक-

1. श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने हेमंत ऋतु में संयम स्वीकार किया।
2. वे सम्पूर्ण संयम विधियों का यथावत पालन करते अर्थात् 5 महाव्रत 5 समिति में किसी प्रकार की स्खलना या प्रमाद का आचरण नहीं करते।

3. वे सर्दी से घबराते नहीं और कभी कमरे से बाहर आकर शीत सहन करते।
4. प्रभु ने एक वर्ष और एक मास बीत जाने पर इन्द्र प्रदत्त वस्त्र का परित्याग कर उसे वोसिरा दिया।
5. संयम लेने से पूर्व भी भगवान ने दो वर्ष तक सचित्त जल त्याग आदि नियमों को धारण किया था।
6. प्रभु महावीर एकाग्र दृष्टि से चलते, इधर-उधर नहीं देखते। खाज भी नहीं खुजलाते।

द्वितीय उद्देशक-

1. प्रभु महावीर ने छद्मस्थ काल में अनेक प्रकार के स्थानों में निवास किया था। यथा-धर्मशाला, सभास्थल, प्याऊ, दुकान, खण्डहर, तृण-कुटीर (झोंपड़ी), बगीचा, विश्रामगृह, ग्राम, नगर, श्मशान, शून्यगृह, वृक्ष के नीचे इत्यादि।
2. भगवान ने कभी भी शयन नहीं किया, निद्रा नहीं लेते थे, प्रमाद की संभावना जानते तो चंक्रमण कर निद्रा को हटा देते।
3. जीव जन्तुओं और कोतवाल आदि आरक्षकों के अनेक कष्ट प्रभु ने सहन किए।
4. देव आदि के अनुकूल प्रतिकूल भयानक कष्टों में भी हर्ष शोक का त्याग कर प्रभु ने उन्हें सहन किया।

तृतीय उद्देशक-

1. प्रभु महावीर कुछ समय के लिए अनार्य देश में गये, वहाँ लोगों का आहार-व्यवहार अत्यन्त रूक्ष था।
2. वहाँ कुत्तों का कष्ट भी अत्यधिक रहा था। वहाँ के लोग प्रेरणा करके (छु-छु) करके कुत्तों से भगवान को कटवाते थे, किन्तु भगवान ने उनसे बचने की भी कभी कोशिश नहीं की।
3. कईं लोग गालियां देते, चिढ़ाते, पत्थर मारते, धूल फैंकते, पीछे से धक्का देकर गिरा देते, या उठाकर पटक देते।
4. कईं लोग दण्ड, मुष्ठि भाले से प्रहार करते, कोई गांव में प्रवेश करने से पूर्व ही निकाल देते ''**हमारे गांव में मत आओ।**'' ऐसे कईं भयानक कष्ट वहाँ प्रभु ने सहन किये।

चौथा उद्देशक-

1. प्रभु महावीर निरोग होते हुए भी अल्प आहार करते और रोग आने पर भी कभी औषध चिकित्सा नहीं करते।
2. कभी भी शरीर परिकर्म नहीं करते । सर्दी गर्मी की आतापना लेते एवं उपवास से लेकर 6 मास तक की अनेक तपस्या करते ही रहते थे।
3. संयम में, गवेषणा में कभी कोई भी दोष नहीं लगाते। मार्ग में अन्य आहारार्थी पशु-पक्षी या मनुष्य होते तो भगवान् भिक्षार्थ नहीं जाते अथवा उनको अन्तराय न हो ऐसे विवेक से जाते।
4. एक बार आठ मास तक निरंतर भात, बोर-कूटा और उड़द इन तीन वस्तु के सिवाय कोई आहार प्रभु ने नहीं लिया।
5. कभी सांस्कारित, असंस्कारित, सूखा, ठण्डा, बासी, पुराणा, नीरस, जैसा भी आहार मिल जाता अथवा कभी नहीं मिलता उसी में सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहते थे।

6. भगवान् कषाय रहित, विगयो की गृद्धि रहित एवं शब्दादि की आसक्ति से रहित होकर सदा ध्यान में लीन रहते। कभी ऊर्ध्व लोक आदि के स्वरुप में, कभी आत्म स्वरुप में अवलम्बन लेकर ध्यान करते थे।

7. भगवान ने छद्मस्थ काल में संयम आराधन करते हुए भी प्रमादाचरण (दोष अतिचार) का सेवन नहीं किया था।

।। प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ।।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

प्रथम अध्ययन

इस अध्ययन में आहार-पानी की गवेषणा विधि का कथन विभिन्न प्रकारों से ग्यारह उद्देशों में किया गया है।

प्रथम उद्देशक-

1. हरित, बीज, फूलण और सूक्ष्म त्रस जीव युक्त आहार नहीं लेना, भूल से आ जाए तो शोधन करना, शोधन न हो सके तो परठ देना।

2. सूखे धान्य बीज, मूंगफली आदि अखण्ड न हो या अग्नि पक्व हो तो कल्पनीय है।

3. कच्चे धान्य आदि के सिट्टे, कंबिया आदि अग्नि पर सामान्य सिके हुए हों तो आग्रह्य है, परिपूर्ण सिके हो तो ग्राह्य है।

4. अन्य भिक्षाचर या पारिहारिक साधु के साथ-साथ आवागमन नहीं करना।

5. साधु-साध्वी के उद्देश्य से बनाया, खरीदा, उधार लिया, किसी से छीना हुआ, सामने लाया हुआ आहार अकल्पनीय है।

6. सामान्य रुप से शाक्यादि सभी श्रमणों के लिए गिन-गिन कर बनाया आहार भी भिक्षु को अग्राह्य है।

7. किसी को भी गिने बिना सामान्य रुप से भिक्षाचारों के लिए बना आहार पुरुषांतरकृत होने पर (उद्देश्य किए भिक्षाचरों या गृहस्थजनों द्वारा ग्रहण और उपभोग किए जाने पर) लेना कल्पता है।

8. जहां जितना आहार केवल दान के लिए ही निर्धारित कर बनाया जाता हो ऐसे दान कुलों में उस आहार को नहीं लेना।

दूसरा उद्देशक-

1. महोत्सवों में जीमनवार के समय आहार ग्रहण नहीं करना। वही आहार पुरुषांतरकृ त होने पर अर्थात् भोजनोपरांत कल्पता है। दो कोष के आगे जीमनवार में भिक्षार्थ नहीं जाना। वहां जाने पर अनेक दोषों की सम्भावना रहती है।

2. क्षत्रिय, वणिक, ग्वाला, जुलाहा, आरक्षक, नाई, सुनार, लुहार, दर्जी, बढ़ई आदि घरों से एवं अन्य भी ऐसे लोक व्यवहार में जो अजुगुप्सित, अनिन्दित कुल हो वहां से आहार लेना कल्पता है।

तीसरा उद्देशक-

1. जीमनवार (बहुत बड़ा भोज) वाले ग्रामादि के लिए उस आहार ग्रहण के प्रयोजन से विहार करके भी नहीं जावें।
2. उपाश्रय से अन्यत्र कहीं जाना हो तो सर्व उपकरण युक्त जाना।
3. राजा एवं उसके स्वजन परिजन का आहार नहीं लेना।

चौथा उद्देशक-

1. विशिष्ट भोज वाले गृह में लोगों का आवागमन अधिक हो रहा हो तो उस समय भिक्षार्थ नहीं जाना। शांति के समय विवेक-पूर्वक जाना कल्पता है।
2. दूध दुहा जा रहा हो या आहार निष्पन्न हो रहा हो तो ऐसा जानकर भिक्षार्थ प्रवेश नहीं करना और आवश्यक व्यक्ति को दिए जाने के बाद लेना।
3. आगन्तुक पाहुणे साधुओं के साथ भिक्षा के संबंध में मायापूर्ण व्यवहार नहीं करना किन्तु आसक्ति भाव दूर कर उदार वृत्ति से व्यवहार करना।

पांचवा अद्देशक-

1. किसी आहार की शीघ्र प्राप्ति हेतु उतावल से नहीं जाना एवं छल छद्म करके भी नहीं जाना।
2. आपत्तिकारक बाधाजनक मार्गों से भिक्षार्थ न जाना।
3. अपरिचित अभावित घरों का छोटा या बड़ा दरवाजा या बन्द मार्ग, बिना आज्ञा नहीं खोलना।
4. अनेक भिक्षाचरों या असंभोगिक साधुओं के लिए दाता ने सामुहिक आहार दिया हो तो समविभाग कर अपना विभाग ही लेना तथा साधर्मिकों के साथ खाना हो तो भी अपने विभाग से अधिक खाने का प्रत्यन नहीं करना।
5. घर के बाहर कोई भिक्षाचर खड़े हों तो उस घर में भिक्षार्थ न जाना। उनके भिक्षा लेकर निवृत हो जाने पर जाना कल्पता है।

छठा उद्देशक-

1. मार्ग में कबूतर आदि प्राणी आहार कर रहे हों तो अन्य मार्ग से भिक्षार्थ जाना।
2. गृहस्थ के घर में उचित स्थान पर एवं विवेक युक्त खड़े रहना। चक्षु -इन्द्रिय को नियंत्रित या वश में रखना।
3. पूर्व कर्म दोष युक्त अथवा सचित पानी, पृथ्वी, वनस्पति से लिप्त (खरड़े) हाथ या कुड़छी से भिक्षा नहीं लेना।
4. सचित या अचित कोई भी वस्तु साधु के लिए कू ट-पीस कर या झटक-फटक कर देवे तो उसे नहीं लेना।
5. अग्नि पर रखी वस्तु नहीं लेना।

सातवां उद्देशक-

1. मालोपहृत दोष युक्त (निसरणी आदि लगाकर दे वैसी) वस्तु नहीं लेना तथा कठिनाई से निकाल कर या लेकर दे वैसी वस्तु भी नहीं लेना।
2. बंद ढ़क्कन खोलने में पहले या पीछे विराधना हो तो उसे खुलवाकर नहीं लेना।
3. सचित पृथ्वी पानी वनस्पति के ऊपर रखे पदार्थ नहीं लेना।
4. पंखे आदि से हवा करके गर्म पदार्थ शीतल करके देवे तो नहीं लेना।
5. धोवण के अचित बने जल को कुछ समय (20-30 मिनिट) तक नहीं लेना।
6. कभी दाता देने योग्य स्थिति में न हो विराधना संभव हो तो भिक्षु आज्ञा प्राप्त करके स्वयं उसी बर्तन से उलीच कर अथवा लोटे गिलास या अपने पात्र से गृहस्वामी की स्वीकृति अनुसार ले सकता है।
7. सचित स्थानों के अत्यन्त निकट रखे हुए या सचित्त पदार्थों के ऊपर या नीचे रखे हुए अचित्त जल को अथवा सचित्त जल लेने के बर्तन से अचित्त जल दे तो नहीं लेना।

आठवां उद्देशक-

1. बीज गुठली आदि से युक्त अचित्त जल हो और उसे छानकर दे तो भी नहीं लेना।
2. कहीं से भी सुगन्ध आ रही हो तो उसमें आसक्त नहीं होना।
3. शुष्क या हरी वनस्पति के बीज अथवा फल, पत्र, तरकारी आदि पूर्ण शस्त्रपरिणत या अचित्त होने के पूर्व नहीं लेना।
4. किसी पदार्थ में रसज आदि त्रस जीव उत्पन्न हुए हों तो उस पदार्थ को शस्त्र परिणत या अचित्त होने के पूर्व नहीं लेना।
5. कुंभी पक्व-फल अशस्त्र परिणत एवं अप्रासुक होते हैं, ऐसा जानकर उन्हें नहीं लेना।

नवमां उद्देशक-

1. साधु को आहार देकर अन्य आहार बनावे, ऐसा ज्ञात होने पर या संभव लगे तो भी नहीं लेना।
2. भक्ति सम्पन्न या अपने पारिवारिक घरों में आहार निष्पन्न होने के पूर्व जाकर फिर पुनः जाना नहीं कल्पता है। क्योंकि वहां दोष लगने की संभावना अधिक रहती है।
3. अच्छा-अच्छा (सरस -स्वादिष्ट) आहार-पानी खाना-पानी और खराब (अमनोज्ञ रुक्ष नीरस) को परठ देना, ऐसा करना नहीं कल्पता है।
4. अधिक आहार आ जाय तो अन्य साधुओं को निमंत्रण किये बिना नहीं परठना।
5. किसी की निश्रा के आहार को या निमित्त किये गये आहार को उसे पूछे बिना अन्य दाता द्वारा नहीं लेना।

दशवां अद्देशक-

1. भिक्षा से प्राप्त सामान्य आहार में से किसी को देने में अपनी मन-मानी नहीं करना किन्तु उन भिक्षुओं की आज्ञा लेकर के ही किसी को देना।
2. व्यक्तिगत गोचरी हो तो आहार दिखाने में निष्कपट भाव रखना।
3. इक्षु आदि बहुउज्झित धर्मा (जिसमें बहुत भाग फेंका जाता है ऐसे) पदार्थ नहीं लेना।
4. भूल से कोई अचित पदार्थ ग्रहण किया गया हो तो पुनः दाता की आज्ञा प्राप्त करके उसको खाना। यदि अनुपयोगी हो तो लौटा देना।

ग्यारहवां उद्देशक-

1. किसी रुग्ण भिक्षु के लिए भेजे गये आहार में स्वार्थ वृत्ति नहीं रखना, निःस्वार्थ सेवा करना।
2. भोजन संबंधी 7 अभिग्रह (पिंडेषणा) है-

   1. सलेप हाथ आदि से लेना। 2. अलेप हाथ आदि से लेना

   3. मूल बर्तन से लेना। 4. अलेप्य पदार्थ लेना

   5. अन्य परोसने के बर्तन से लेना 6. खाने के थाली आदि बर्तन से लेना।

   7. फैंकने योग्य आहार लेना। ऐसी ही सात पाणेषणा जानना।

दूसरा अध्ययन

इस अध्ययन में उपाश्रय संबंधी वर्णन है।

1. हरी घास, बीज, अग्नि एवं जल तथा त्रस जीव, कीड़ी, मकड़ी आदि से युक्त स्थान में नहीं ठहरना।
2. जैन साधुओं के उद्देश्य या गणना युक्त उद्देशक वाले स्थान में नहीं ठहरना।
3. क्रीत दोष एवं छोटे बड़े परिकर्म (सुधार-संस्कार) कार्य साधु के लिए किए हों उस स्थान में नहीं ठहरना।

   पुरुषांतर कृत हो जाने पर (गृहस्थ के उपयोग में आ जाने पर) ये क्रीत परिकर्म युक्त सभी उपाश्रय कल्पनीय कहे गये हैं।
4. भूमि से अधिक ऊंचे एवं चौतरफ खुले आकाश वाले (अंतरिक्षजात) स्थानों में नहीं ठहरना।
5. परिवार युक्त गृहस्थ के मकान में या धन सम्पत्ति युक्त स्थानों में नहीं ठहरना।
6. गृहस्थ के रहने के स्थान की और साधु के ठहरने के स्थान की छत एवं भित्ति दोनों संलग्न हो, उसे द्रव्य प्रतिबद्ध उपाश्रय कहते हैं और जहां स्त्री और साधु के बैठने व पैशाब करने के स्थान एक हो जहां से सहज स्त्री के रुप दिखते हों, शब्द सुनाई देते हों, वह भाव प्रतिबद्ध उपाश्रय है। ऐसे प्रतिबद्ध उपाश्रय में नही ठहरना।

7. भिक्षु अस्नान धर्म का पालन करने वाला होता है एवं समय समय पर कई कार्यों में लघुनीत (मूत्र) का उपयोग करने वाला होता है। अतः भिक्षु के शरीर की गंध या दुर्गन्ध आदि भी गृहस्थों को प्रतिकूल एवं अमनोज्ञ हो सकती है। अतः परिवार युक्त गृहस्थ के घर में ठहरने की जिनाज्ञा नहीं है।

8. यदि कभी छोटा और अनेक वस्तुओं से व्याप्त स्थान मिला हो तो अंधेरे में गमनागमन करते समय पहले हाथ से देखकर अनुमान करके फिर चलना चाहिए।

9. अधिक चित्रों या लेखों युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरना।

10. पाट या घास भी जीव रहित, हल्का, प्रत्यर्पणीय एवं सुयोग्य हो तो ग्रहण करना। इन्हें लौटाते समय प्रतिलेखन करके आवश्यक हो तो धूप लगाकर जीव रहित होने पर देना।

11. सोने बैठने की जगह और पाट आदि दीक्षा पर्याय के क्रम से ग्रहण करना एवं आचार्य आदि पूज्य पुरुषों तथा रुग्ण, तपस्वी आदि के ग्रहण करने के बाद ग्रहण करना।

12. मल-मूत्र परठने की भूमि आसपास में हो ऐसे स्थान में ही ठहरना।

13. शरीर एवं शय्या का प्रमार्जन करके परस्पर किसी के हाथ-पांव न लगे ऐसे यतना पूर्वक शयन करना।
    खांसी, छींक, उबासी, वायुनिसर्ग आदि हो तो मुंह को या गुदा भाग को हाथ से ढक कर उक्त प्रवृत्तियां करना।

14. अनुकूल प्रतिकूल शय्या में समभाव पूर्वक समय व्यतीत करना।

तीसरा अध्ययन

इस अध्ययन में विचरण संबंधी वर्णन है।

1. वर्षा हो जाने पर एवं हरी घास व त्रस जीवों की उत्पति अधिक हो जाने पर या विराधना रहित मार्गों के अनुपलब्ध हो जाने पर, आषाढ़ी पूर्णिमा के पूर्व भी चातुर्मास के लिए ठहर जाना चाहिए।

2. जहां आहार, पानी, मकान, परठने की भूमि, स्वाध्याय भूमि आदि सुलभ हों ऐसे क्षेत्र में चातुर्मास करना।

3. चातुर्मास समाप्ति के बाद मार्ग जीव विराधना रहित हो जाय तब विहार करना।

4. जीव रक्षा एवं यतना करते हुए, पांव एवं शरीर को संभालते हुए चलना। विवेकपूर्वक विराधना रहित मार्गों से जाने का निर्णय करना।

5. अनार्य प्रकृति के लोगों की बस्ती वाले क्षेत्रों या मार्गों में विहार नहीं करना।

6. जन रहित अत्यधिक लंबे मार्गों में विहार नहीं करना।

7. परिस्थिति उपस्थित होने पर सूत्रोक्त विवेक और विधियों के साथ नौका विहार करना कल्पता हैं।

8. नदी में फेंक देने पर यतना पूर्वक तैर कर उसे पार करना कल्पता है।

9. शरीर जल की स्निग्धता से रहित होवे तब तक नदी के किनारे खड़े रहना फिर विराधना वाले मार्ग का अन्वेषण कर विहार करना।

10. विहार करते वक्त किसी के साथ वार्तालाप करते हुए नहीं चलना।
11. घुटने के नीचे तक पानी हो ऐसे नदी नाले मार्ग में आ जाय और अन्य मार्ग आस-पास में न दीखे तो पानी का मंथन न हो इस तरह तथा अन्य भी सूत्रोक्त विवेक रखकर उसे चलकर पार करना कल्पता है।
12. अत्यधिक विषम या असमाधिकारक मार्गों से नहीं चलना।
13. ग्रामादि की शुभाशुभता के परिचय संबंधी राहगीरों के प्रश्न का उत्तर नहीं देना और न ही ऐसे प्रश्न पूछना।
14. चलते समय मार्ग में अनेक स्थानों, जलाशयों और जीवों को, आसक्ति युक्त देखना नहीं एवं दिखाना भी नहीं।
15. आचार्य या रत्नाधिक साधुओं के साथ विनय एवं विवेक के साथ चलना एवं बोलने का भी विवेक रखना।
16. प्रतिपथिक के द्वारा जानवर, अग्नि, जल के संबंध में, या मार्ग की लम्बाई आदि के संबंध में पूछने पर उत्तर न देते हुए, मौनपूर्वक उपेक्षा भाव से गमन करना।
17. मार्ग में चोर लुटेरे श्वापद आदि से भयभीत होकर घबराकर भागदौड़ नहीं करना। धैर्य एवं विवेक के साथ गमन करना।

चौथा अध्ययन

इस अध्ययन में भाषा संबंधी वर्णन है।

1. क्रोध, मान, माया और लोभ युक्त वचन बोलना, जानकर या अनजान से कठोर वचन बोलना, ये सभी सावध भाषा है। ऐसी भाषा नहीं बोलना।
2. निश्चयकारी भाषा नहीं बोलना एवं अशुद्ध उच्चारण न करके विचारपूर्वक शुद्ध स्पष्ट भाषा बोलना।
3. सत्य और व्यवहार दो प्रकार की भाषा बोलना। वह भी सावध, सक्रिय, कर्कश, कठोर, निष्ठुर, छेदकारी, भेदकारी न हो ऐसी भाषा बोलना।
4. एक बार या अनेक बार बुलाने पर भी कोई न बोले तो भी उसके लिए हीन एवं अशुभ शब्द प्रयोग नहीं करना अपितु उच्च शब्द एवं संबोधन का प्रयोग करना।
5. अतिशयोक्ति युक्त वचन नहीं बोलना।
6. वर्षा, सर्दी, गर्मी, हवा, सुकाल, दुष्काल, रात्रि, दिन आदि प्राकृतिक प्रवृत्तियों के संबंध में होने या न होने के संकल्प अथवा वचन प्रयोग नहीं करना।
7. अन्य कटुक वचन या संबोधन (कोढ़ी, रोगी, अंधे आदि) नहीं बोलना। शुभ संबोधन वचन (यशस्वी भाग्यशाली आदि) कहना।
8. रमणीय आहार, पशुपक्षी, आदि की सुन्दरता की प्रशंसा नहीं करना तथा अन्य भी पशुपक्षी धान्यादि के संबंध में अनावश्यक सावद्य या पीड़ाकारी वचन नहीं बोलना।
9. शब्द रुप आदि के विषय में राग या द्वेष भाव युक्त प्रशंसा या निन्दा न करना।

इस प्रकार कषाय भावों से रहित, विचारपूर्वक, उतावल रहित, विवेक के साथ आवश्यक एवं असावद्य वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

पांचवां अध्ययन

इस अध्ययन में वस्त्र संबंधी वर्णन है।

1. (1) त्रस जीवों (विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय) के लार या केशों से बने वस्त्र

   (2) अलसी बांस आदि से निष्पन्न वस्त्र (3) सण आदि से निष्पन्न वस्त्र

   (4) ताड़ आदि के पत्रों से निष्पन्न वस्त्र (5) कपास रुई से बने वस्त्र

   (6) आक आदि की रुई से बने वस्त्र।

इनमें से स्वस्थ भिक्षु को किसी भी एक प्रकार के वस्त्रधारण करना कल्पता है। व्याख्याकारों ने कपास के वस्त्र को प्राथकिता दी है तदनन्तर ऊनी वस्त्र को ग्राह्य कहा है। इन दोनों प्रकार के वस्त्रों के उपलब्ध होने पर अन्य जाति के वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्देश दिया है।

2. दो कोष से आगे वस्त्र याचना करने नहीं जाना।
3. औद्देशिक दोष युक्त वस्त्र नहीं लेना।
4. क्रीत आदि दोष युक्त वस्त्र नहीं लेना किन्तु भिक्षु के लक्ष्य के बिना गृहस्थ के उपयोग में आ जाने पर उसे लेना कल्पता है।
5. सामान्यजन अपरिभोग्य बहुमूल्य वस्त्र नहीं लेना।
6. 1. संकल्पित, 2. सामने दिखने वाला, 3. कुछ उपयोग मेंआए या 4. पूर्ण रुप से गृहस्थ के उपयोग रहित बने वस्त्रों को ग्रहण करने की विशिष्ट प्रतिज्ञा- अभिग्रह करना।
7. गृहस्थ वस्त्र के लिए बाद में आने का समय देकर बुलावे तो स्वीकार नहीं करना एवं उसी समय बिना किसी प्रकार की प्रक्रिया (वस्त्र को धोना, सुवासित करना) किए बिना दे तो लेना।
8. वस्त्र में से सचित्त पदार्थ खाली करके दे तो नहीं लेना।
9. पूर्ण निर्दोष वस्त्र को वहां पर ही पूरा खोलकर देखना फिर लेना।
10. जीव रहित एवं उपयोग में आने योग्य वस्त्र लेना।
11. वस्त्र लेने के बाद तुरन्त ही धोना आदि कार्य न करना पड़े वैसा ही वस्त्र लेना।
12. कभी वस्त्र धोकर सुखाना हो तो जीव विराधना युक्त स्थान में या चौतरफ खुले आकाश वाले ऊंचे स्थान में नही सुखाना।

13. वस्त्र के संबंध में माया-छल प्रवृत्ति नहीं करना एवं फाड़ना सीना अदल-बदल करना आदि निरर्थक प्रवृतिएं भी नहीं करना।

छठा अध्ययन

इस अध्ययन में पात्र संबंधी वर्णन है।

1. लकड़ी-तुम्बा मिट्टी इन तीन जाति के पात्र लेना कल्पता है।
2. स्वस्थ भिक्षु इनमें से किसी एक जाति का ही पात्र धारण करे।
3. सोना, चाँदी, लोहा आदि धातु के एवं कांच, मणि, दांत, वस्त्र, पत्थर, चर्म आदि के पात्र लेना भिक्षु को नहीं कल्पता है।

शेष वर्णन वस्त्र के समान पात्र के लिए समझ लेना।

सातवां अध्ययन

इस अध्ययन में अवग्रह (आज्ञा लेने) संबंधी वर्णन है।

1. भिक्षु को कोई भी वस्तु अदत्त ग्रहण नहीं करना। देने पर या आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।
2. साधर्मिक सहचारी श्रमणों के उपकरण भी बिना आज्ञा लेना नहीं कल्पता है।
3. मकान के स्वामी की या उसने जिसे सुपर्द किया है उसकी अथवा जिसकी आज्ञा लेना उसे सम्मत हो उसकी आज्ञा लेना।
4. मकान की सीमा, परिष्ठापन, भूमि समय की मर्यादा का स्पष्टीकरण भी करना।

   सांभोगिक साधु आये हो तो उन्हें स्थान, संस्तारक, आहार-पानी देना, निमंत्रण करना।
6. अन्य सांभोगिक साधु आ जावे तो उन्हें स्थान संस्तारक पाट आदि देना, निमंत्रण करना।
7. यदि श्रमण ब्राह्मण युक्त उपाश्रय या कमरा मिला हो तो उनको किसी भी प्रकार से अप्रीति, विरोध भाव उत्पन्न न हो उस तरह विवेक पूर्वक रहना।
8. लहसुन, इक्षु, आम की बहुलता वाले स्थान में भिक्षु ठहरा हो और कभी वे पदार्थ ग्रहण करने हो तो अचित्त और दोष रहित होने पर उन्हें ग्रहण करना कल्पता है।
9. व्यक्ति की अपेक्षा आज्ञा पांच प्रकार की है- 1. देवेन्द्र की, 2. राजा की, 3. शय्यातर की, 4. गृहस्थ की, 5. साधर्मिक साधु की।

आठवां अध्ययन

1. इस अध्ययन में खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा संबंधी वर्णन है। उसी के लिए योग्य स्थान ग्रहण करने का सम्पूर्ण वर्णन दूसरे अध्ययन के समान है।

2. इस प्रतिज्ञा वाला आलंबन लेकर खड़ा हो सकता है। हाथ-पांव का संचालन कर सकता है। मर्यादित भूमि में संचरण भी कर सकता है एवं पूर्ण निश्चल आलम्बन रहित कायोत्सर्ग भी यथा समय करता है किन्तु बैठता नहीं एवं सोता भी नहीं।

नवमां अध्ययन

इस अध्ययन में बैठने संबंधी या स्वाध्याय संबंधी चर्या का कथन है। योग्य स्थान की याचना विधि पूर्ववत् है।

दशवां अध्ययन

इस अध्ययन में मल त्यागने एवं परठने संबंधी वर्णन है।

1. उच्चार- प्रस्त्रवण (मलोत्सर्ग) की बाधा होने पर, मलद्वार पोंछने का वस्त्र खण्ड स्वयं के पास न हो तो अन्य साधु से लेवें।
2. जीव रहित अचित निर्दोष भूमि में जावे।
3. स्वयं को असुविधाकारी या अन्य को अमनोज्ञ लगे ऐसे स्थान पर नहीं जाना।
4. मनोरंजन के या उपभोग में आने के अथवा फल धान्य संग्रह के स्थानों में या उनके आसपास भी नहीं जाना।
5. भिक्षु जहां ठहरा हो वहां या उसके आसपास की भूमि में उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना मलोत्सर्ग नहीं करना।
6. आवश्यक होने पर स्वयं के या अन्य भिक्षु के उच्चार मात्रक को लेकर उपाश्रय के किसी एकान्त स्थान में बैठकर उस पात्र में मलोत्सर्ग करना फिर योग्य भूमि में परिष्ठापन करना।

ग्यारहवां अध्ययन

इस अध्ययन में शब्द श्रवण संबंधी वर्णन है।

1. तत्, वितत, घन, झूसिर इन चार प्रकार के वाद्यों की आवाज सुनने नहीं जाना। अन्य भी अनेक स्थानों, व्यक्तियों एवं पशुओं की आवाज सुनने नहीं जाना।
2. स्वाभाविक ही जो शब्द सुनाई दे तो उसमें आसक्ति भाव नहीं लाना।

बारहवां अध्ययन

1. इस अध्ययन में रुप देखने के लिए जाने का निषेध पूर्व अध्ययन के समान है।
2. स्वाभाविक ही जो पदार्थ दृष्टिगोचर हो तो उसमें आसक्ति भाव नहीं करना।

तेरहवां अध्ययन

इस अध्ययन में किरिया संबंधी वर्णन है।

1. कोई भी गृहस्थ साधु के शरीर पर सुश्रुषा-परिचर्या प्रवृत्ति करे तो उसे मना कर देना तथा स्वयं भी कहकर नहीं करना।

2. इसी प्रकार शल्य चिकित्सा, मैल निवारण, केस रोम कर्तन, जूं लीख निष्कासन आदि प्रवृत्ति के विषय में भी समझ लेना।

3. इसी प्रकार कोई गृहस्थ अशुद्ध या शुद्ध मंत्र से चिकित्सा करे अथवा सचित कंदादि से चिकित्सा करे तो भी निषेध कर देना।

4. प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों को उपार्जित कर फिर उसके विपाक-फल (परिणाम) अनुसार वेदना वेदते हैं। यह जानकर समभाव से सहन करना एवं संयम तप में सम्यक् प्रकार से रमण करना चाहिए।

चौदहवां अध्ययन

साधु परस्पर भी शरीर परिकर्म आदि क्रियाएं न करें। जिनका वर्णन तेरहवें अध्ययन के समान है।

पन्द्रहवां अध्ययन

इस अध्ययन में प्रभु महावीर के पारिवारिक जीवन का जन्म से लेकर दीक्षा तक का संक्षिप्त परिचय है। दीक्षा महोत्सव का भी वर्णन है। (सम्भवतः यह वर्णन पर्यूषणा कल्प सूत्र से यहां कभी प्रक्षिप्त हुआ है। क्योंकि आचार वर्णनों के साथ यह अप्रासंगिक है तथा इस विषय पर व्याख्याएं भी नहीं की गई है। अन्यत्र विस्तृत वर्णन होने से यहां अनावयक भी है।) केवलज्ञान प्राप्ति के बाद पांच महाव्रत के स्वरुप एवं भावनाओं के कथन तक संबंध जोड़ा गया है।

प्रथम पांच महाव्रत की भावना–

1. ईर्ष्या समिति युक्त होना
2. प्रशस्त मन रखना
3. प्रशस्त वचन, सत्य वचन और असावद्य वचन प्रयोग करना
4. किसी भी पदार्थ को ग्रहण करना, रखना-छोड़ना आदि प्रवृत्तिएं यतना पूर्वक करना
5. आहार पानी को अच्छी तरह अवलोकन कर खाना-पीना।

दूसरे महाव्रत की पांच भावना–

1. अच्छी तरह सोच विचार कर शांति से रागद्वेष रहित भाषा बोलना।
2. क्रोध का निग्रह करना
3. लोभ का निग्रह करना (उपलक्षण से मान, माया का भी निग्रह करना)।
4. भय का त्यागकर निर्भय होने का अभ्यास करना।
5. हास्य प्रकृति का परिवर्तन कर गंभीर स्वभाव होना।

तीसरे महाव्रत की पांच भावना–

1. उपाश्रय की सभी बातों के विचार सहित आज्ञा लेना।
2. गुरुजन या आचार्य की आज्ञा लेकर ही आहार करना या किसी वस्तु का आस्वादन करना।

3. बड़े स्थान में या अनेक विभाग युक्त स्थान में क्षेत्र सीमा स्पष्ट कर के आज्ञा लेना या शय्यादाता जितने स्थान की आज्ञा दे उतने स्थान का ही उपयोग करना।
4. प्रत्येक आवश्यक वस्तुओं की यथा समय पुनः आज्ञा लेने की प्रवृत्ति एवं अभ्यास होना।
5. सहचारी साधुओं के उपकरणादि की भी आज्ञा लेकर फिर ग्रहण करना।

चौथे महाव्रत की पांच भावना–

1. स्त्री संबंधी रागजनक वार्ता न करना।
2. स्त्री के मनोहर अंगों का राग भाव से अवलोकन नहीं करना।
3. पूर्व के भोगों का, ऐश-आराम का स्मरण चिन्तन न करना।
4. अति भोजन या सरस भोजन नहीं करना।
5. स्त्री, पशु आदि रहित उपाश्रय में रहना।

पाँचवें महाव्रत की पांच भावना–

1. शब्द, 2. रुप, 3. गंध, 4. रस, 5. स्पर्श, इन पांचों विषयों का संयोग नहीं जुटाना और स्वाभाविक संयोग होने पर राग भाव या आसक्ति भाव नहीं करना।

सोलहवां अध्ययन

यह विमुक्ति नामक अंतिम अध्ययन है। इसमें मोक्ष प्राप्ति की प्रेरणा एवं उसके उपाय सूचित किए हैं।

1. भिक्षु अनित्य भावना से भावित होकर आरंभ परिग्रह का त्याग करे।
2. हीलना वचन आदि परुष शब्दो रुपी तीरों को संग्राम शीर्ष हस्ति के समान सहन करना।
3. तृष्णा रहित बन कर ध्यान करना जिससे तप, प्रज्ञा, यश की वृद्धि होती है।
4. क्षेमकारी महाव्रतों का यथावत् पालन करना।
5. कहीं पर भी स्नेह भाव नहीं करना, स्त्रियों में आसक्ति नहीं करना। पूजा प्रतिष्ठा की चाह का त्याग करना।
6. ऐसे साधक के कर्म मैल अग्नि से चांदी के मैल के समान साफ हो जाते हैं।
7. आशाओं का त्याग करना। सर्प के जीर्ण त्वचा त्याग के समान ममतादि का त्याग करने वाला, दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।
8. दुस्तर समुद्र के समान संसार सागर को मुनि तर जाते हैं।
9. बंध विमोक्ष के स्वरुप को जानकर मुनि मुक्त होते हैं।
10. जिनका इस लोक परलोक में राग भाव का बंधन किंचित भी नहीं है वे संसार प्रपंच से मुक्त हो जाते हैं।

उपसंहार–

लिपि काल में हुए अनेक प्रकार के ठाणांग, समवायांग सूत्र संबंधी संपादनों के कारण एवं ऐतिहासिक भ्रम पूर्ण कल्पित उल्लेखों के कारण और अनेक इतिहासज्ञों के व्यक्तिगत चिंतन के प्रचार से इस सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कंध के मौलिक स्वरुप के विषय में अनेक विकल्प एवं प्रश्न चिन्ह हैं किन्तु बिना किसी आगम प्रमाण के केवल बौद्धिक कल्पना को महत्व देने में कोई लाभ नहीं है। हजारों वर्ष के लंबे काल में संपादन या स्वार्थपूर्ण ऐच्छिक परिवर्तन-परिवर्धन सूत्रों में समय-समय पर अवश्य हुए है किन्तु वे विद्वानों के लिए मननीय है। सामान्य जन तो आत्म संयम के हितकर विषयों के अध्ययनों से युक्त इस श्रुतस्कंध का श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय करें यही पर्याप्त है।

परिशिष्ट

उपदेशी चुनिंदा सूत्र एवं अर्थ–

खणं जाणाहि पंडिए (2-1-24) हे पण्डित तू क्षण को जान।

इणमेव णावकं खंति, जे जणा धुव चारिणो।
जाइ मरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढ़े।। (2-3-61)

जो पुरुष मोक्ष की ओर गतिशील है, वे (विपर्यासपूर्ण जीवन) जीने की इच्छा नहीं करते, जन्म मरण को जानकर वे मोक्ष के सेतु पर दृढ़ता पूर्वक चले।

णत्थि कालस्स णागमो (2-3-62) मृत्यु के लिये कोई भी क्षण अनवसर नहीं है।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसया दुक्खपड़िकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा (2-3-63)। सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, वे सुख का आस्वाद करना चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, वे जीवित रहना चाहते हैं। सव्वेसिं जीवियं पियं (2-3-64) सब प्राणियों को जीवन प्रिय है।

परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा (2-5 -117) परिग्रह से अपने आपको दूर रखें। परिग्रह में लुप्त न हो।

कामादुरतिक्कमा (2-5-121) काम भोग दुर्लध्य है अर्थात् काम वासना से मुक्त रह जाना अति कठिन है।

जीवियं दुप्पडिवूहणं (2-5-122) जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता।

कडेण मूढ़े पुणो तं करेइ लोभं (2-5-134) अपने ही कृ त कर्मों से मूढ़ होकर जीव पुनः काम सामग्री पाने को ललचाता है।

अमरायइ महासड्ढ़ी (2-5-137) वह जीव अमर की भांति आचरण करता है अर्थात् संसारी अज्ञानी जीव जीवित रहने की महान श्रद्धा रखते हुए कर्त्तव्य करते रहते हैं मरने का विश्वास नहीं करते ।

अपरिण्णाए कंदति (1-5-139) त्याग नहीं करने वाला क्रंदन करता है।

तम्हा पावंकम्मं णेव कुज्जा न कारवे (2-6-149) इसलिए स्वयं पापकर्म का संग्रह न करे, न दूसरों से करवाए।

जे ममाइय मइं जहाइ से चयइ ममाइयं जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है।

अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के- वीर पुरुष जो अरति को मन से निकाल देते है वें क्षण भर में मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् सदा हर परिस्थिति में प्रसन्न वदन रहते हैं कभी भी ग्लान नहीं बनते हैं वे आत्माएं शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

मुणी मोणं समादाय धुणे कम्म सरीरगं (2-5-163) मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म शरीर को प्रकम्पित करे। जो नीरस और रुक्ष आहारादि का सेवन करते है, ऐसे मुनि संसार सागर से तिर जाते हैं।

जे अणण्णारामे से अणण्णंदसी (2-6-173) जो अनन्य (स्वयं) को देखता है वह अनन्य में रमण करता है, जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है अर्थात् जो आत्म भाव में रमण करता है वही आत्मा भाव स्वभाव को प्राप्त कर सकता है।

माई पमाई पुणरेइ गब्भं (3-1-14) मायी और प्रमादी बार बार जन्म लेता है।

लोयंसीपरमदंसी विवित्तजीवी उवसंते।

समिते सहिते सया जए काल कंखी परिव्वए (3-2-38)

जो लोक मे परम तत्व को देखता है अर्थात् कर्म से मुक्त होने का सदा लक्ष्य रखता है वह विविक्त जीवन जीता है, उपशांत बनता है, सम्यग् आचरण एवं ज्ञानादि से युक्त होता है। वह सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अंतिम क्षण तक मोक्ष के प्रति गति करता है।

बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं सच्चम्मि पकुव्वहा (3 -2-39) इस जीव ने अतीत में बहुत पाप कर्म किये हैं, अतः मुमुक्षु प्राणी सत्य में धृति करे अर्थात् अब संयम तप में स्थिर होकर कर्म क्षय करने चाहिए।

णिस्सारं पासिय णाणी उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे- ज्ञानी तू देख कि विषय निस्सार है, जन्म जरा निश्चत है, हे अहिंसक तू अनन्य (मोक्ष मार्ग) का आचरण कर।

णिव्विंद णंदि अरते पयासु- (3-2-47) - काम भोग से उदासीन बन, स्त्रियों में अनुरक्त मत बन।

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ।
तम्हाहि वीरे विरते वहाओ, छिन्देज्ज सोयं लहुभूयगामी। (3-2-49)

वीर पुरुष कषाय (क्रोध और मान) को नष्ट करे, लोभ को महान् नरक रुप देखे, वायु की भांति अप्रतिबद्ध विहार करने वाला वीर साधक हिंसादि पापों से वरित होकर स्त्रोतों (कामनाओं)को छिन्न कर डाले।

गंथं परिण्णाय इहज्ज वीरे, सोयं परिण्णाय चरेज्ज दंते।

उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि (3-2-50)

इन्द्रिय जयी वीर परिग्रह और कामनाओं को तत्काल छोड़कर विचरण करे, इस मनुष्य जन्म में ही संसार सिंधु से निस्तार हो सकता है, मुनि प्राणियों के प्राणों का समारंभ न करे।

आगतिं गतिं परिण्णाय, दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे।

से ण छिज्जइ ण भिज्झइ, ण हम्मइ कं चणं सव्व लोए। (3-3-58)

आगति और गति अर्थात् जन्म मरण को जानकर जो (रागद्वेष) दोनों (अंतो) से दूर रहता है, वह लोक के किसी भी कोने में छेदा, भेदा, जलाया और मारा नहीं जाता है अर्थात कही भी दुःखी नहीं होता है।

अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहई पुरित्तए।

चंचल चित्त वाले प्राणी का पुरुषार्थ चालणी को पानी से भरने के समान निष्फल होता है।

पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि (3-3-62) पुरुष तु ही तेरा मित्र है, फिर बाहर मित्र क्यों खोजता है?

पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि (3-3-64) पुरुष आत्मा का ही निग्रह कर, ऐसा करने से ही तूँ दुःख से मुक्त हो जाएगा।

पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि- (3-3-65) - तू सत्य संयम का ही अनुशीलन कर। सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय को प्राप्त करता है।

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं से एगं जाणइ (3-4-74)

जो एक को अच्छी तरह जानता है आत्मा वह सर्वलोक स्वरुप को जान लेता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

सव्वतो पमत्तस्स अत्थिभयं सव्वतो अपमत्तस्स नत्थिभयं-(3-4-75)

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा- (4-1-1) किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए।

एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्चं लोयं खेयण्णेहिं पवेइए-(4-1-2)

यह (अहिंसा) धर्म शुद्ध नित्य और शाश्वत है खेदज्ञ अरिहंत प्रभू ने लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया।

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा जे अपरिस्सवा ते अणासवा- एव पए संबुज्झमाणे, लोयं च अणाए अभिसमेच्चा पुढ़ों पवेइयं (4-2-12) - जो आश्रव (कर्म बंध) के स्थान हैं वे ही परिस्त्रव कर्म मोक्ष के कारण बन जाते हैं। जो परिस्त्रव हैं वे ही आश्रव हो जाते हैं, जो अनाश्रव है वे ही अपरिस्त्रव हो जाते हैं, जो अपस्त्रिव हैं वे ही अनास्त्रव हो जाते हैं। इन भंगों को समझने वाला विस्तार से प्रतिपादित लोक को जानकर आश्रव न करे अर्थात् सभी संयोगों में विवेक वर्तन से आश्रव रुक सकता है एवं निर्जरा हो सकती है।

कम्मुणा सफलं दट्ठुं तओ णिज्जाइ वेयवी (4-4-51)

कर्म अपना फल देते हैं, यह देख कर ज्ञानी मनुष्य कर्म संचय से निवृत होते हैं।

से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे बंध पमोक्खो अज्झत्थेव (5-2-36) - मैने सुना है, मैने अनुभव किया है- बंध और मोक्ष आत्मा में ही है।

इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ? (5-3-45) इस (कर्म शरीर) के साथ युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ?

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं- (5-3-46) -युद्ध के योग्य सामग्री मनुष्यत्व आदि निश्चित ही दुर्लभ है।

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं त्ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं त्ति मन्नसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं त्ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्देयव्वं त्ति मन्निसि- (5-5-101)- जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही तो है? जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही तो है? जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है वह तू ही तो है? जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही तो है? जिसे तू मारने योग्य मानता है वह तू ही तो है? ज्ञानी हन्तव्य और घातक की एकता को समझ कर जीता है, न हनन करता है न करवाता है। अपना किया कर्म अपने को ही भुगतान पड़ता है इसलिए हनन की इच्छा मत करो।

जे आया से विण्णा या, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आया- (5-5-104)- जो आत्मा है वह ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही आत्मा है, क्योंकि जानने के लक्षण वाला ही आत्मा होता है। जानता है इसलिए आत्मा है।

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए।
दुहतोवि ण सज्जज्जा जीविए मरणे तहा। (8-8-4)

मोक्षार्थी साधक जीवन की आकांक्षा न करे, मरण की इच्छा न करे, जीवन मरण दोनों में आसक्त न बने अर्थात् जीवन मरण में सम परिणामी होकर वर्तमान भाव में ही शुभ परिणाम रखे।

।। परिशिष्ट समाप्त।।

सूत्रकृतांग सूत्र

प्रस्तावना

धर्म और दर्शन दो अलग अलग शब्द है, दोनों के अपने विषय, क्षेत्र और लक्ष्य अलग अलग है। भारतीय दर्शनों में चाहे वैदिक दर्शन (सांख्य-योग वैशेषिक, न्याय, मीमांसा वेदान्त) हो, या अवैदिक (जैन, बौद्ध, चार्वाक) हो, मुख्य तीन आधार तत्त्व नजर आते हैं।

1. आत्मत्व (आत्म स्वरुप) की विचारणा।

2. ईश्वर सत्ता विषयक धारणा

3. जगत स्वरुप (लोक सत्ता) की विचारणा।

आत्मा के सुख दुःख का चिंतन आत्म स्वरुप की विचारणा में अवश्य किया जाता है। आत्मा स्वतंत्र है या परतंत्र, आत्मा किसके अधीन है? ईश्वर के या कर्म के? वह अधीन क्यों है? क्या वह हमेशा परतंत्र ही रहेगी या स्वतंत्र अस्तित्व भी है? स्वतंत्र अस्तित्व है तो कब और कै से? अस्तित्व का स्वरुप है या निराकार? जगत का स्वरुप कै सा है? लोक क्या है? कै सा है? संचालन कर्त्ता कौन है? व्यवस्था कैसे चलती है? लोक का अस्तित्व कहां तक है? ईश्वर और लोक सत्ता, ईश्वर और आत्मा, जीव और जगत इन संबंधों की विस्तृत चर्चा एवं विचारणा दर्शन का कार्य है।

दर्शन शास्त्र द्वारा चिन्तन किये, विवेचन किये तत्त्वों पर आचरण करना, प्रयोग में लाना धर्म का क्षेत्र है। सुख दुःख के मुक्ति के कारणों की खोज किये विषयों पर चिंतन, मनन कर दुःख मुक्ति और सुख प्राप्ति के उपायों पर प्रयत्न करना धर्म का क्षेत्र है।

सूत्र परिचय-

प्रस्तुत आगम का नाम सूत्र कृतांग है। यह गणधर रचित दूसरा अंग शास्त्र है। इस आगम में स्व समय (जैन सिद्धान्त) और पर समय (अन्य मतावलम्बियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों) की चर्चा विचारणा खंडन और प्रस्तोति है।

इस आगम के दो श्रुत स्कंध है, प्रथम श्रुत स्कंध पद्यमय है, इसमें 16 अध्ययन है दूसरे श्रुत स्कंध में 7 अध्ययन है, जिसमें पांचवा एवं छठा अध्ययन पद्यमय है शेष 5 अध्ययन गद्यमय है।

प्रथम अध्ययन में भिन्न-भिन्न मान्यताओं की चर्चा है। शेष पन्द्रह अध्ययन संयम-तप की प्रेरणा एवं साध्वाचार के विषय की प्रधानता वाले हैं, जिसमें पांचवां अध्ययन नरक वर्णन और छठा अध्ययन भगवान स्वामी की स्तुति रुप है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सातों अध्ययनों में एक-एक स्वतंत्र विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इस सूत्र के नाम में या अध्ययनों में कोई ऐतिहासिक भिन्नता के विकल्प नहीं है।

साहित्य संस्करण- इस सूत्र पर निर्युक्ति भाष्य चूर्णि टीकाएं उपलब्ध है। प्राचीन टीका श्री शीलांकाचार्य की है। अन्य भी अनेक संस्कृत हिन्दी गुजराती प्रकाशन इस सूत्र के हुए हैं। जवाहिराचार्य के संपादन में इस सूत्र की छाया टीकानुवाद प्रकाश में आया है। आचार्य श्री घासीलालजी म.सा. ने भी इस पर विस्तृत संस्कृत टीका रचना की है। अर्थ विवेचन सहित यह आगम अनेक जगह से प्रकाशित है। ब्यावर आगम प्रकाशन समिति से अभी अभी सुन्दर विवेचन के साथ प्रकाशित हुआ। आचार्य तुलसी ने भी इस सूत्र का टिप्पण युक्त संपादन किया है।

संयोजक

विमल कु मार नवलखा सूरत

प्रथम श्रुतस्कन्ध

प्रथम अध्ययन का सारांश

प्रथम उद्देशक–

1. संसार में परिग्रह (धन-परिवार) का संग्रह एवं ममत्व तथा प्राणिवध (जीव हिंसा) ये कर्म बंध के कारण हैं। इन्हें अशरण भूत जानकर इनका त्याग करना चाहिए।

2. (1) पांच महाभूत (पृथ्वी आदि) से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाले (2) सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा मानने वाले (3) जीव और शरीर को एक ही मानने वाले (4) आत्मा को कर्मों का अकर्त्ता मानने वाले (5) आत्मा सहित पांच भूत (कुल छः तत्त्व) मानने वाले (6) चार धातु (पृथ्वी आदि) मानने वाले। (7) आत्मा को क्षणिक मानने वाले ये सभी एकान्तवादी एवं मिथ्या मति हैं। अज्ञानवश कर्म उपार्जन करके ये नाना योनियों में जन्म मरण करते हैं।

दूसरा उद्देशक–

1. नियति वादी सुख, दुःख का कर्त्ता न स्वयं को मानते न किसी अन्य को किन्तु केवल नियति से ही सब कुछ होना मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी वे दुःख से नहीं छूट सकते।

2. अज्ञानवादी भोले मृग के समान हैं। वे भ्रम जाल में फंस कर कर्म बंध के भागी बन, संसार भ्रमण करते हैं।

3. वन में दिशा मूढ बना व्यक्ति जिस प्रकार अपना या अन्य का मार्ग निश्चित नहीं कर सकता तथा अन्धा व्यक्ति अन्धों को मार्ग पर नहीं लगा सकता, वैसे ही ये अज्ञानवादी भटकते रहते हैं।

4. तीनों योग हों तो ही कर्म बंध होता है अथवा द्वेष भाव के बिना किसी को मार कर मांस खाने से भी पाप बंध नहीं होता है ऐसा कहने वाले मिथ्यावादी छिद्रों वाली नाव के समान संसार में डूब जाते हैं।

तीसरा उद्देशक–

1. जो साधु आधाकर्मी और आधाकर्मी के अंश मात्र से भी मिश्रित आहार-पानी का सेवन करने वाले हैं वे पानी के बाहर पड़ी हुई, पक्षियों से खाई जाने वाली मछली के समान घात को प्राप्त करते हैं, वे दो पक्ष का (गृहस्थ एवं साधु जीवन का) सेवन करते हैं अर्थात् वेष से साधु हैं गुण से असाधु हैं।

2. देव, ब्रह्मा, ईश्वर, स्वयंभू के द्वारा जगत की रचना मानने वाले अथवा अण्डे से पृथ्वी उत्पन्न होना मानने वाले, संवर धर्म को नहीं समझ सकते।

3. केवल क्रीड़ा के हेतु अवतार मानने वाले भी दोष -पात्र हैं। क्योंकि ऐसा मानने वालों के लिए पापों का त्यागना आवश्यक नहीं होता है और उनके पाप सेवन से दुःख परम्परा ही बढ़ती है।

चौथा उद्देशक–

1. ये पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक लोग गृह त्याग करके भी अशरणभूत सावद्य कृत्यों का उपदेश देते हैं। यह जानकर मुनि सदा आरम्भ और परिग्रह युक्त सावद्य कृत्यों से दूर रहे एवं निर्दोष भिक्षा वृत्ति से जीवन व्यतीत करे।

2. ज्ञान का सार ही यह है कि संसार के समस्त चराचर प्राणी स्वयं ही दुःखी हैं ऐसा जानकर उनके प्रति पूर्ण अहिंसक बने।

3. मुनि आसक्ति का त्याग करे। यतना पूर्वक चले, बैठे, सोवे, खावे, पीवे, बोले, रत्नत्रयी का संरक्षण करे और कषायों को दूर कर मोह रहित बने।

दूसरे अध्ययन का सारांश

प्रथम उद्देशक–

1. बीता हुआ समय फिर नहीं आता एवं मनुष्य जीवन दुर्लभ है, आयु क्षणभंगुर है। अतः परिवार और परिग्रह एवं आरम्भ से निवृत्त बनो। इन्हें भय (दुःख) कारी जानो।

2. जीव स्वयं कर्म करके और उसके फल को प्राप्त करके दुःखी होते हैं। फिर भी अपनी हीन या उच्च अवस्था में भी वे जीव मरना कोई भी नहीं चाहते।

3. बहुश्रुत ज्ञानी और संयमी होकर भी जो कषाय भावों में लीन रहता है वह भी तीव्र कर्मों से दुःखी होता है। निरन्तर मास खमण की तपस्या करके भी कषायों का त्याग न करे, वह बार-बार जन्म मरण करता है।

4. दुःख आने पर यह सोचे कि मैं ही अकेला दुःखी नहीं हूं, संसार में अन्य प्राणी भी विविध दुःखों से दुःखी है, यह सोच धैर्य रख सहनशील बने।

5. स्थिर चित्त धैर्यवान को कोई भी व्यक्ति या परिस्थित संयम एवं आत्मशक्ति से विचलित नहीं कर सकती है।

दूसरा उद्देशक–

1. किसी प्रकार का अभिमान और दूसरों की निन्दा कल्याणकारी नहीं है अपितु दूसरों के प्रति गिरावट की भावना तिस्कार की भावना एवं निंदा व्यवहार, महान् संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। अतः मुनि पर निन्दा, पर तिरस्कार को पापकारी जानकर त्याग दे।

2. अपने कष्टों को सहन करे एवं सब प्राणियों को अपने समान समझे।

3. इस लोक में जितनी भी पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान है, उसे महान् कीचड़ के समान समझे। इसमें फूलना या इसकी चाहना करना यह आत्मा के लिए सूक्ष्म शल्य रुप है।

4. योग्यता वृद्धि एवं अभ्यास करके मुनि एकत्व चर्या धारण कर विशिष्ट साधना से कर्म क्षय करे, परिषह उपसर्ग सहे किन्तु कहीं भी भयभीत न बने।

5. भिक्षु कलह से सदा दूर रहे क्योंकि इससे संयम का अत्यधिक नाश हो जाता है।

6. षट्काय रक्षक सर्वज्ञ भगवंतों के इस अणुत्तर धर्म को स्वीकार कर स्वेच्छाओं का त्याग कर गुरु आज्ञा का पालन कर अनंत प्राणी संसार से पार पहुंच गये अर्थात् मुक्त हो गये हैं।

तीसरा उद्देशक–

1. संयम धारण करके पुनः जो कहीं भी मूर्छित नहीं होता है वह संसार से तीर्ण के समान ही है।

2. जिस प्रकार वणिकों के द्वारा लाये गये श्रेष्ठ पदार्थों को भेंट दिये जाने पर राजा धारण करता है, उसी प्रकार प्रभु द्वारा प्रदत्त पांच महाव्रत और छठे रात्रि भोजन व्रत को मुनि धारण करते हैं।

3. अपनी आत्मा को सदा सम्यग् अनुशासित रखे ताकि वह कभी भी संयम से च्युत न हो जावे। क्योंकि संयम त्यागने वाला बाद में अत्यधिक पश्चाताप या विलाप करता है।

4. जीवन क्षणभंगुर है यह स्पष्ट होते हुए भी कई प्राणी वर्तमान में ही तल्लीन रहते हैं भविष्य का विचार नहीं करते। उल्टा ऐसा बोलते हैं कि परलोक किसने देखा है?

5. वे बाल जीव धन को अपना शरण भूत मानते हैं किन्तु जब आपत्ति या मौत के मुख में जाते हैं तब विलाप करते हुए दुःखी होकर अकेले ही दुर्गति में चले जाते हैं।

6. मुनि इस अमूल्य अवसर को जानकर आरम्भ परिग्रह एवं कषायों का त्याग करके महान संसार समुद्र को पार कर, मुक्त हो जाते हैं।

तीसरे अध्ययन का सारांश

प्रथम उद्देशक–

1. कई साधकअपने को शूरवीर मानते हैं किन्तु सर्दी,गर्मी, भिक्षा, अलाभ, आक्रोश, मारपीट, डांस-मच्छर आदि परीषह के उत्पन्न होने पर या लोच करने के समय कायर बनकर विशाद को प्राप्त करते हैं।

किन्तु मोक्षार्थी साधक को संग्राम शीर्ष हाथी के समान सभी परीषह उपसर्ग धैर्य से सहन करने चाहिए।

दूसरा उद्देशक–

1. प्रतिकूल परीषहों की अपेक्षा अनुकूल परीषह सूक्ष्म और दुस्तर होते हैं। अतः भिक्षु किसी के मोह चक्कर में न फंसे।

2. स्त्री, परिवार और पूजा सत्कार की संगत महापाताल के समान है। मुनि सदा इनसे सावधान रहे।

3. राजा आदि ऋद्धि सम्पन्न लोगों के आदर एवं निमंत्रण से भी सदा सावधान रहे।

तीसरा उद्देशक-

1. संग्राम में गया हुआ कायर पुरुष छिपने के स्थान या भागने के मार्ग पहले से ही देख रखता है। वैसे ही संयम में हीन पुरुषार्थी आत्माएं अपनी आजीविका की विद्याएं एवं निवास के साधन खोजते हैं।

2. कई वीर पुरुष शूरवीर योद्धा के समान मृत्युपर्यन्त संयम से विमुख नहीं होते हैं।

3. सेवा एवं सहयोग में ममत्व भाव नहीं होना चाहिए। गृहस्थ की अपेक्षा साधु का सहयोग-सेवा लेना ही श्रेयष्कर है। जो अन्य मतावलंबी साधुओं के सेवा सहयोग को ममत्व कहते हैं और गृहस्थों से सावद्य सहयोग लेते हैं, उनका कथन महत्त्वहीन एवं मिथ्यात्व से अभिभूत है।

4. भिक्षु आत्म समाधि रखते हुए गुणों का विकास करे किसी के लिए कुछ भी हितकर कृ त्य न करे एवं ग्लान भिक्षुओं की रुचि पूर्वक सेवा करे।

चौथा उद्देशक-

1. कई लोग केवल जल (सचित) सेवन से ही सिद्धी मानते हैं। कोई केवल बीजों के सेवन से एवं कोई हरी वनस्पति के सेवन से सिद्धि मानते हैं किन्तु ये हिंसा आदि से मुक्त न होने से संसार भ्रमण करते हैं।

2. कई कहते हैं कि सुख से ही सुख मिलता है। अतः खाओ-पिओ मौज करो। आगे के लिए वर्तमान सुख को मत छोड़ो। ये लोग धन गंवाने वाले जुआरी के समान या लोह वणिक के समान दुःखी होकर भविष्य में आयु और योवन के क्षय होने पर विलाप करते हैं। अतः भविष्य का एवं परिणाम का विचार कर के योग्य परिवर्तन करने वाला ही सुखी होता है, यह समझना चाहिए।

3. संयम साधक कभी भी वर्तमान सुख के चक्कर में न आवे। स्त्रियों के संयोग को वैतरणी नदी के समान समझ कर उनसे पूर्ण सावधान रहे। हिंसा, झूठ, अदत्त का पूर्ण त्याग करे एवं अग्लान भाव से सेवा धर्म का पालन करे।

चौथे अध्ययन का सारांश

इसमें दो उद्देशक हैं। संपूर्ण अध्ययन में स्त्री परीषह जीतने का एवं स्त्री संसर्ग न करने का एवं स्त्रियों से सदा सावधान रहने का अनेक प्रकार के दुष्परिणाम बताकर उपदेश दिया गया है। माता-पिता धन एवं सुख के त्याग करने वाले अणगार को सदा स्त्रियों से विरक्त रहना चाहिए।

पांचवे अध्ययन का सारांश

इसमें दो उद्देशक हैं एवं संपूर्ण अध्ययन में नरक में जाने के कार्य एवं नरक के दुःखों का विस्तृत वर्णन किया गया है। अंत में कहा गया है कि- जीव जैसे कर्म करता है तदनुसार अकेला की फल भोगता है।

यह जानकर धीर, वीर पुरुष हिंसादि पापों का त्याग करे एकत्व एवं अपरिग्रह भाव में रहे तथा संसार प्रवाह में न जावे।

छठे अध्ययन का सारांश

इसमें भगवान स्वामी का स्तुतियुक्त वर्णन है।

1. प्रभु वीर आसुप्रज्ञ, कुशल, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है।

2. उन्होंने समस्त लोक के चराचर प्राणियों को और नित्यानित्य पदार्थों को जानकर द्वीप के समान त्राण भूत अहिंसा धर्म कहा।

3. वे ग्रंथातीत, निर्भय एवं अनियतवासी थे। देवों में इन्द्र के समान, मनुष्यों के धर्म नेता थे।

4. उनकी प्रज्ञा समुद्र के समान अपार थी। वे इन्द्र के समान द्युतिमान थे।

5. प्रतिपूर्ण शक्ति सम्पन्न, सुदर्शन मेरु के समान श्रेष्ठ एवं अनेक गुणों के धारक थे। सूर्य के समान प्रकाशमान थे अर्थात् ज्ञान प्रकाशदाता थे।

6. अणुत्तर धर्म का प्ररुपण कर अनुत्तर परम शुक्ल ध्यान के द्वारा संपूर्ण कर्म क्षय कर ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना कर प्रभु महावीर ने सिद्ध गति को प्राप्त किया।

7. वे भगवान नंदनवन के समान श्रेष्ठ आनन्दकारी थे। तारों में चन्द्र और सुगन्ध में चन्दन के समान उत्तम थे।

8. स्वयंभूरमण समुद्र, धरणेन्द्र, इक्षुरस के समान प्रधान तपस्वी मुनि थे। ऐरावत हाथी, सिंह गरुड़ के समान मोक्षार्थियों में प्रधान थे।

9. पुष्पों में कमल, दान में अभयदान, तप में ब्रह्मचर्य के समान लोक में उत्तम थे। सुधर्मा-सभा और लव सत्तम देव के समान सर्वश्रेष्ठ थे। पृथ्वी के समान सहनशील थे। वे आसक्ति रहित होकर संग्रह वृत्ति से दूर रहते थे।

10. क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों आध्यात्म दोषों का प्रभु ने वमन (सर्वथा त्याग) कर दिया था। अन्य पापों का सेवन भी वे कभी नहीं करते एवं न कराते।

11. स्त्री एवं रात्रि भोजन का पूर्णतः वर्जन करते हुए दुःख के मूलभूत कर्मों का क्षय करने हेतु विकट तप करते थे।

12. ऐसे अरिहंत भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट शुद्ध धर्म पर श्रद्धा आचरण करने वाले परम पद को प्राप्त करेंगे।

सातवें अध्ययन का सारांश

1. पृथ्वी आदि स्थावर एवं अण्डज, रसज आदि त्रस प्राणी की हिंसा करने वाला क्रूर व्यक्ति इन्हीं योनियों में भ्रमण करता रहता है।

2. माता पितादि का त्याग करके भी जो सुख के लिए महाशस्त्र भूत अग्नि का आरम्भ करते हैं वे बारंबार गर्भ धारण करते हैं।

3. कई अज्ञानी नमक के त्यागने मात्र से या जल के उपयोग, परिभोग एवं शुद्धि से मोक्ष कहते हैं, किन्तु वे मद्य मांस लहसुन आदि खाकर संसार वृद्धि करते हैं।

4. प्रातः स्नान या जल स्पर्श से मुक्ति हो तो सभी जलचरों को मोक्ष हो जाय, तब तो बिना पुरुषार्थ के इच्छा मात्र से सभी मुक्त हो जाय और जलचर जीवों का घात वालों को भी भी सहज ही मोक्ष मिल जाय, किन्तु ऐसा संभव नहीं है। अतः यह केवल असत्य प्रलाप है।

5. कई अग्नि के स्पर्श से मुक्ति की कल्पना करते हैं किन्तु यदि ऐसा हो तो कुंभकार, लुहार, स्वर्णकारों की सहज ही मुक्ति हो जाएगी। तब तो धर्म, परुषार्थ और सन्यास ग्रहण आदि सभी क्रिया कलाप व्यर्थ सिद्ध होंगे। अतः ये अपरीक्षित मिथ्या सिद्धान्त है।

6. मुमुक्षु संयमी साधक बीज, हरी, जल, अग्नि, कंद-मूल आदि के नाश को कर्म बंध कराने वाला जानकर इनका सेवन न करता हुआ स्नानादि विभूषा कर्म एवं स्त्री आदि से दूर रहे।

7. संयम धारण करके भी जो स्नान, विभूषा स्वादिष्ट आहार में आसक्ति रखता है, आहारादि के लिये दीनता धारण करता है, वह कुशील पार्श्वस्थ बन कर संयम को निःस्सार कर देता है।

8. अतः साधक को संयम यात्रा के निर्वाह हेतु अज्ञात भिक्षा से दोष रहित आहार प्राप्त कर इन्द्रिय विषयों में आसक्त न होते हुए, तप संयम से पूजा सत्कार की चाहना न करते हुए, सम्पूर्ण कर्मबन्ध के कारणों से अलग होकर, कष्टों को काष्ठ फलक के समान बनकर सहन करना चाहिए। इस प्रकार आराधना करने वाला कर्मक्षय कर संसार भ्रमण से मुक्त हो जाता है।

आठवें अध्ययन का सारांश

1. वीर्य दो प्रकार का होता है- 1. कर्म वीर्य, 2. अकर्म वीर्य। इसे ही क्रमशः बाल वीर्य और पण्डित वीर्य कहा जाता है। प्रमाद की प्रवृत्ति कर्म वीर्य (बाल वीर्य) है और अप्रमाद की प्रवृत्ति अकर्म वीर्य (पण्डित वीर्य) है।

2. कर्म वीर्य- प्राण वध कारी शस्त्रों की शिक्षा, हिंसक मंत्रों का अध्ययन, कामभोग, छेदन-भेदन, आरम्भ-समारम्भ की समस्त प्रवृत्तियों के द्वारा राग द्वेष में लीन प्राणी पाप कर्मों का बंध करता है। अतः यह सकर्म वीर्य है।

3. अकर्म वीर्य- स्वयं बोध पाकर या अन्य से प्रबुद्ध होकर सम्पूर्ण स्नेह बन्धनों का त्याग कर संयम स्वीकार करना, पापों का निरोध करना, संसार के समस्त शुभ- अशुभ संयोगों को अस्थिर समझकर आसक्ति एवं राग द्वेष से मुक्त होना।

4. आयु का अन्त जानकर आत्मा को शिक्षित कर संलेखना करना।

5. कछुए की भांति इन्द्रियों का गोपन करना। हिंसा, असत्य, अदत्त का तीन करण, तीन योग से त्याग कर आत्म गुप्त, जितेन्द्रिय होना।

6. समत्वदर्शी होना, तप से यश की आकांक्षा न कर गुप्त तपस्या करना। खाना, पीना, बोलना आदि अत्यल्प एवं मर्यादित करना। इस प्रकार क्षांत, दांत, शान्त निस्पृह साधना तथा ध्यान एवं योग का समाचरण कर काया के ममत्व का सम्पूर्ण त्याग कर कष्ट सहिष्णुता धारण कर कर्मों से मुक्त होना ये सब अकर्म वीर्य है।

नवमें अध्ययन का सारांश

1. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चांडाल, जुलाहा, कृषक, वणिक भिक्षाचर आदि जो भी आरम्भ समारम्भ एवं काम भोगों तथा परिग्रह में संलग्न हैं वे दुःख से नहीं छूट सकते ।

2. पारिवारिक जन भी कर्मों से उत्पन्न दुःख में त्राण शरण भूत नहीं होते। किन्तु मरण के बाद वे ही देह को जलाकर धन के स्वामी बन जाते हैं।

3. अतः भिक्षु, धन, पुत्र, परिवार का त्याग कर ममत्व एवं अहंकार रहित होकर जिनाज्ञानुसार संयमाराधन करे।

4. हिंसादि का एवं क्रोधादि का सर्वथा त्याग करे।

5. धोना, रंगना, वस्तीकर्म (एनिमा), विरेचन, वमन, अन्जन, सुगंधित पदार्थ, माला, स्नान, दन्त प्रक्षालन आदि संयम नाशक कार्यों का त्याग करे।

6. परिग्रह (संग्रह वृत्ति) एवं स्त्री कर्म (स्त्री सहवास) का वर्जन करे।

7. औद्देशिक आदि एषणा दोषों का वर्जन करे।

8. रसायन भस्मों का सेवन, शब्दादि में आसक्ति, अंगोपांग, प्रक्षालन, उबटन, शय्यातरपिण्ड, अष्टापद, शतरंज आदि खेल , हस्तकर्म, जूते, छत्र आदि का त्याग करे।

9. गृहस्थ के कार्य, प्रत्युपकार, ज्योतिष प्रश्नोत्तर न करे एवं अन्यान्य परस्पर क्रिया का वर्जन करे।

10 हरी वनस्पति एवं अन्य जीवाकुल या सचित पृथ्वी पर मल मूत्र न करे एवं वहां शरीर की शुचि भी न करे।

11. गृहस्थ के वस्त्र, पात्र, पलंग आदि का उपयोग न करे एवं यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन, पूजन आदि इच्छाओं का त्याग करे।

12. असत्य एवं मिश्र भाषा तथा मर्मकारी, कर्कश आदि अमनोज्ञ भाषा का सर्वथा त्याग करे।

13. कुशील आचरण वालों का संसर्ग न करे, अकारण गृहस्थ के घर में न बैठे एवं मनोज्ञ पदार्थों में आसक्त न बने।

14. अनुकूल, प्रतिकूल कष्ट उपसर्गों में आसक्ति एवं द्वेष न करता हुआ मान, माया एवं गर्वों का त्याग कर निर्वाण प्राप्ति की साधना करे।

दसवें अध्ययन का सारांश

1. सन्देह रहित तीर्थंकर भाषित संयम धर्म को प्राप्त कर भिक्षु समस्त प्राणियों की रक्षा करता हुआ संयम योग्य क्षेत्रों में अप्रतिज्ञ एवं सरलात्मा होकर विचरण करे। संग्रह वृत्ति न करे तथा समस्त राग बंधनों से मुक्त होकर इन्द्रिय विषयों से विरक्त रहे।

2. संसार के समस्त प्राणी विभिन्न पापों में संलग्न हैं। कई भिक्षाचार भी पाप करते रहते हैं। किन्तु समाधि आत्म शान्ति का इच्छुक भिक्षु स्थिरात्मा होकर हिंसादि पापों से विरत रहे और सभी प्राणियों को आत्मवत् देखें।

3. सोच विचार कर हिंसादि की प्रेरणा रहित भाषा बोले।

4. आधाकर्मी आहार- पानी की, स्त्री एवं परिग्रह की चाहना भी न करे और ऐसा करने वालों के साथ भी न रहे। संयम समाधि के लिए आवश्यक हो जाने पर अकेला ही रहकर सत्यनिष्ठ एवं तप में लीन बन कर संयम का आराधन करे ऐसा करने से भी निस्सन्देह कर्मों से मोक्ष हो सकता है।

5. भिक्षु रति-अरति भाव (हर्ष-शोक भाव) का त्याग कर सभी परिषहों को पार करे और कर्मों का नाश करे। इस प्रकार उक्त आचरणों द्वारा निश्चय ही समाधि की प्राप्ति होती है।

6. इस लोक में विभिन्न अभिप्रायों, मान्यताओं वाले लोग होते हैं। उनसे दूर ही रहना चाहिए। वे लोग समाधि का केवल दिखावा करते हैं किन्तु संयम तप में प्रयत्नशील होकर आत्म निग्रह नहीं करते। इसलिए वे अन्त में अतुल असमाधि एवं भव भ्रमण प्राप्त करते हैं।

7. समस्त दुःख, हिंसा, झूठ आदि पापों से उत्पन्न होने वाले हैं। ज्ञानी इनका त्याग कर सदा शुद्ध संयम में रत रहे। आकांक्षाओं का एवं आसक्ति का निवारण करे तथा शरीर का ममत्व त्याग कर जीवन- मरण की आकांक्षा से मुक्त बन जावे।

इस प्रकार से आत्म समाधि को प्राप्त कर भिक्षु संसार चक्र से मुक्त हो जाता है।

ग्यारहवें अध्ययन का सारांश

1. किसी जीव को दुःख नहीं देना, किसी के प्रति विपरीत आचरण या विरोध भाव नहीं करना। समस्त प्राणियों को दुःख से आक्रांत जानकर अत्यन्त अनुकम्पा भाव रखना यह अहिंसा भाव ही ज्ञान का सार है।

2. अहिंसा भाव की सुरक्षा हेतु ही ऐषणा के दोष- औद्देशिक, पूर्तिकर्म आदि से रहित आहार की गवेषणा करना चाहिए।

3. अहिंसा के पूर्णतया पालन में भाषा का भी विवेक आवश्यक है। सूक्ष्म दृष्टि से भिक्षु जहां दया, दान के भावों की प्रवृत्ति में हिंसा सम्भव हो, ऐसे मिश्र प्रसंगों में कुछ भी एकांत प्ररुपण या प्रेरणा न करे किन्तु मौन रहे या मध्यस्थ एवं अनाग्रह भाव रखे।

4. दानादि में कई जीवों की हिंसा होती है और कई जीवों को शाता पहुंचती है। ऐसी प्रवृत्तियों के निषेध में अन्तराय दोष लगता है एवं प्रेरणा में हिंसा दोष लगता है। अतः भिक्षु भाषा एवं भावों का अत्यधिक विवेक रखे।

5. इस प्रकार अहिंसा का पालन करने वाला ऐषणा का एवं भाषा के प्ररुपण का विवेक रखते हुए तपाचरण करने वाला एवं कषाय त्याग करने वाला, महाप्रज्ञावान भिक्षु मोक्ष मार्ग की आराधना करता है।

बारहवें अध्ययन का सारांश

1. भूमण्डल में चार प्रमुख धर्मवाद होते हैं- 1. क्रिया से मुक्ति, 2. अक्रिया से मुक्ति, 3. अज्ञान से मुक्ति, 4. विनय से मुक्ति। ये एकान्तवाद होने से मिथ्या है।

2. वास्तव में अनादि परिचित अभ्यस्त पाप त्याग के लिए धर्म क्रिया आवश्यक है, पूर्ण आश्रव रहित होने के लिए अन्त में योगों से अक्रिय भी होना आवश्यक है, विनय जो साधना का प्राण भूत आवश्यक गुण है अतः ये तीनों सापेक्ष हैं। अज्ञानवाद तो अन्धों के अन्धे खिवैया होने के समान है। अतः भिक्षु इन एकांतवादों से बचकर सापेक्ष स्याद्वादमय सिद्धान्त की आस्था रखे।

3. कई लोग अष्टांग निमित का अध्ययन करके लोगों को भविष्य बताते हैं। ये निमित्त कभी सत्य होते हैं, कभी असत्य भी निकल जाते है अतः मुनि इनसे दूर रहे।

4. संसार में जीव अपने ही किये कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं, उन कर्मों की शान्ति पाप कार्यों से नहीं हो सकती। संतोष धारण करके एवं लोक स्वरुप जानकर, जीवों को आत्मवत् समझ कर हिंसा परिग्रह का त्याग करना ही शान्तिदायक है।

5. जो आत्म स्वरुप को समझ लेता है साथ ही लोक अलोक, गति-अगति को, शाश्वत-अशाश्वत तत्त्वों को, आश्रव संवर, दुःख और निर्जरा स्वरुप को समझ लेता है, वही मोक्ष मार्ग का दूसरों को कथन कर सकता है।

6. शब्द रुप गंध रस स्पर्श में आसक्ति या द्वेष का त्याग करने वाला संसार वलय (चक्र) से छूट सकता है।

तेरहवें अध्ययन का सारांश

1. सदाचरण वाले को शान्ति एवं असदाचरण वाले को अशान्ति प्राप्त होती है।

2. संयम धारण करके भी कई साधक अनुशास्ता से विपरीत बुद्धि रखते हैं, परुष (कठोर) भाषण करते हैं, क्रोध करते हैं, पूछने पर कपट युक्त बोलते हैं, कलह की उदीरणा करते हैं, वे गुणों के अपात्र होते हैं और पगडण्डी ग्रहण करने वाले अन्धे के समान भटक कर अनन्त घात को प्राप्त करते हैं।

3. जो गुरु सानिध्य में रहकर उनके कठोर अनुशासन में भी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है। मृदुभाषी, अमायाचारी, चतुर, विवेकी होता है वह अशान्ति से दूर रहता है।

4. जो अपने को ही सब कुछ समझता है, अन्य का तिरस्कार करता हैं, और उन्हें कुछ भी नहीं गिनता है, वह मानी संयम में स्थिर नहीं रह सकता।

5. ज्ञान और चरित्र के सिवाय अन्य घमण्ड आदि अवगुण कोइ भी जीव को त्राणभूत नहीं हो सकते। अतः भिक्षु अकिंचन होकर रहे, गर्व श्लाघा प्रशंसा से मुक्त बने। सुसाधु भाषी बने। किसी का अपलाप खिंसना न करे। अपनी प्रज्ञा, तप, गौत्र आदि का मद न करे। ऐसा करने से वह उच्च अगौत्र-गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

6. मुनि कभी अनेक के साथ रहे और कभी अकेला हो जाय तो भी हर्ष- शोक नहीं करे। एकान्त में मौन रहे और विचार करे कि जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जाएगा।

7. पूजा श्लाघा की चाहना से किसी का प्रिय और किसी का अप्रिय नहीं करे। इन्हें अनर्थ के कारण समझकर त्याग दे।

चवदहवें अध्ययन का सारांश

1. धन परिवार रूपी बाह्य ग्रंथों का त्याग कर संयम की शिक्षा प्राप्त करते हुए ब्रह्मचर्य में भलिभांति स्थिर होवें। प्रमाद त्याग कर विनय भाव से गुरु आज्ञा शिरोधार्य करें।

2. पंख परिपक्क नहीं होने तक पक्षी को अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिए वैसे ही साधु को शैक्ष अवस्था (तीन वर्ष) तक गुरुकुलवास में ही रहना चाहिए।

3. परिपक्क होने के लिए निम्न गुणों की वृद्धि करें-

1. गुरुकुल में रहते हुए समाधि की इच्छा करे, क्योंकि जो प्रारम्भ में गुरुकुलवास नहीं करता है, वह कर्मों का अन्त करने वाला नहीं हो सकता। अतः गुरुकुलवास से बाहर न निकले। इसका कारण यह है कि प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अध्ययन आदि योग्य गुरु के सानिध्य में होने से ही सुन्दर एवं सफल जीवन का निर्माण होता है।

2. खड़े रहने, बैठने, सोने आदि का विवेक, समिति गुप्तियों का यथार्थ अभ्यास, अत्यन्त अमनोज्ञ शब्दों में भी समता भाव, अनाश्रव परिणाम, निद्रा प्रमाद की अल्पता, छोटे, बड़े, रत्नाधिक, समवयस्क के द्वारा गलती बताने या उपालंभ देने, दिलवाने पर शुभ परिणामों का अभ्यास करना।

3. गृहस्थ या दास, दासी के द्वारा भी स्खलना के प्रति सावधान करने पर प्रसन्नचित्त से स्वीकार करना, उन पर गुस्सा नहीं करना, उनका तिरस्कार नहीं करना किन्तु उपकारी समझना एवं आदर देना।

4. राहगीर अंधकार में मार्ग नहीं देख सकता और प्रकाश होने पर स्पष्ट देखता है, उसी प्रकार अपुष्टधर्मा नव दीक्षित भी गुरु सानिध्य से जिनमत में कोविद होने के पश्चात् स्वयं निर्णायक बन सकता है।

5. गुरु सानिध्य में निवास करने वाला उत्तम साधु का आचार और जीवादि मोक्ष पर्यन्त तत्त्वों को जानकर बुद्धिमान वक्ता हो जाता है। वह संयम प्राप्त कर शुद्ध आचार या शुद्ध आहार के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है।

6. ऐसा साधक दूसरों को सम्यक् उपदेश द्वारा धर्म में जोड़ता हुआ शंकाओं का सम्यग् समाधान करके उन्हें धर्म में स्थिर करता है।

7. इस प्रकार धर्माराधान एवं धर्म प्रभावना करते हुए भी साधक निम्न बातों का ध्यान रखे-

* कभी भी स्वार्थवश सूत्र सिद्धान्त के वास्तविक अर्थ को न छिपाए।
* यह भी अभिमान न करे कि मैं बहुत बड़ा विद्वान, तपस्वी क्रियाकांडी (क्रियावान) हूं।
* कोई श्रोता न समझे तो उसकी खिल्ली न उड़ावे और किसी पर तुष्ट होकर आशीर्वाद भी न दे।
* विद्यामंत्र का प्रयोग न करे।
* जनता से किसी प्रकार की भेंट चढ़ाने की आशा न करे किन्तु आवश्यक पदार्थों को भिक्षा के समय निर्दोष विधि से ग्रहण करे।
* हंसी-मजाक न करे।
* सावद्य प्रवृत्तियों की प्रेरणा न करे।
* किसी को कठोर वचन न बोले।
* पूजा सत्कार पाकर गर्व न करे।
* स्वयं की प्रशंसा न करे।
* व्याख्यान आदि में अत्यन्त विनम्र होकर स्याद्वादमय वचन बोले।
* सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करे, निर्धन, धनिक को समभाव एवं रुचिपूर्वक धर्म कहे।
* धर्म तत्त्वों का या प्रेरणा का उल्टा अर्थ समझने वालों को भी मधुर शब्दों में दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न करे किन्तु झिड़ककर अनादर करते हुए वचनों से उनको ठेस न पहुंचावे।

* प्रश्नकर्त्ता की भाषा की मजाक न उड़ावे, ताने या व्यंग न कसे।
* जो छोटी सी बात हो तो उसे शब्दाडंबर से विस्तृत न करे।
* थोड़े में कहने पर जो बात श्रोता के समझ में न आवे, वैसी हो तो विस्तार से समझावे।
* गुरु से सूत्र का यथार्थ अर्थ प्राप्त करे, तदनुसार ही सूत्रों की व्याख्या करे।
* अल्पभाषी बने।
* सम्यक्त्व की सुरक्षा करना समझे, समझावे।
* शिक्षा दाता एवं गुरुजनों की सेवा भक्ति करे तथा भाषा एवं भावों से उनके प्रति आदर रखे।

8. इस प्रकार शुद्ध अध्ययन, व्याख्या, प्ररुपणा, तपश्चरण करने वाला उत्सर्ग की जगह उत्सर्ग, अपवाद की जगह अपवाद धर्म को स्वीकार करने वाला, बिना विचार किए कार्य न करने वाला भिक्षु आदेय वचन वाला बनता है एवं वही सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है और वही सर्वज्ञोक्त समाधि को प्राप्त कर सकता है।

पन्द्रहवें अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में पूर्व के विषय को एवं गाथा के अन्तिम शब्द को प्रायः संबंधित करते हुए वर्णन किया गया है। अर्थात् इस अध्ययन में विलक्षण अलंकारिक रचना शैली है।

1. सभी तीर्थकरों ने सर्वप्रथम दर्शनावरणीय (दर्शन मोह) कर्म का क्षय करना आवश्यक माना है।
2. दर्शनावरणीय के क्षय से सन्देह नष्ट हो जाता है।
3. सन्देह रहित साधक को अनुपम ज्ञान होता है।
4. अनुपम ज्ञाता व आख्याता यत्र-तत्र नहीं भटकता है।
5. आगमों में यत्र-तत्र सत्य तत्त्वों का कथन है।
6. सत्य संयम से सम्पन्न व्यक्ति सभी प्राणियों में मैत्रीभाव रखता है।
7. प्राणियों के साथ वैर, विरोधभाव न करना यह तीर्थंकर भाषित धर्म है।
8. तीर्थंकर भाषित धर्म से जगत के स्वरुप को जानकर जीवन के लिए समाधिकारक भावना करे।
9. भावना योग से विशुद्ध आत्मा जिस प्रकार जल में नौका पार हो जाती, उसी के समान दुःखों से छूट जाती है।
10. पाप कर्म के दूट जाने से जीव नये कर्म नहीं करता।
11. नये कर्म संग्रह के अभाव में जन्म मरण नहीं होता है।

इस प्रकार संबंध जोड़ते हुए आगे से आगे और भी वर्णन है।

12. जो स्त्रियों का सेवन नहीं करते हैं वे शीघ्र मोक्ष गामी है।

13. यह मनुष्य जीवन रुपी अवसर मिलना दुर्लभ है और इसी में धर्म की (संयम धर्म की) आराधना की जा सकती है। इस अवसर को गंवा देने के बाद पुनः जन्म जन्मांतर में बोधि प्राप्त होना भी दुर्लभ है।

14. पण्डित पुरुष उत्तम अवसर एवं संयम प्राप्त कर कर्मों को धुन डालते है और अन्त में संसार सागर से तिर जाते हैं।

सोलहवे अध्ययन का सारांश

1. अठारह पापों से विरत, समिति युक्त, ज्ञान सम्पन्न, सदा यत्न या यतना करने वाला एवं गुस्सा, घमण्ड नहीं करने वाला ब्राह्मण कहा जाता है।

2. किसी के आश्रित न रहने वाला, निदान न करने वाला, इन्द्रिय विषयों से एवं सभी आश्रव स्थानों से पूर्ण रुप से निवृत्त, दमितात्मा, ज्ञानी एवं शरीर के ममत्व का त्यागी श्रमण कहा जाता है।

3. आत्म उत्कर्ष (घमण्ड) एवं अपकर्ष (दीनता) न करने वाला, नम्र, दमितात्मा, ज्ञानी, व्युत्सृष्ट काय, परीषह उपसर्ग विजेता, शुद्ध आध्यात्म योग में उपस्थित, स्थिरात्मा, विचारशील, परदत्त भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाला भिक्षु कहा जाता है।

4. जो द्रव्य और भाव से अकेला, एकत्व समाधि का ज्ञाता, बोध प्राप्त, आश्रवों का निरोध करने वाला, सुसंगत, सुसमित, समभाव सम्पन्न, आत्मानुभवी, शास्त्र वेत्ता, रागद्वेष विजेता, पूजा सत्कार लाभ की इच्छाओं से परे, धर्मार्थी, धर्मज्ञ, मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होकर सम्यक् आचरण करने वाला, दमितात्मा, ज्ञानी एवं व्युत्सृष्ट काय है वह निर्ग्रन्थ कहा जाता है।

अपेक्षा से ये चारों पर्यायवाची शब्द है। अतः चारों लक्षणों में कहे गये गुण संयमी साधु से ही संबंधित हैं।

दूसरा श्रुतस्कन्ध

प्रथम अध्ययन का सारांश

1. इस अध्ययन में एक रुपक कल्पित किया गया है। यथा- एक पुष्करणी हैं, उसमें अनेक कमल हैं और उनके बीच में एक बहुत बड़ा श्वेत कमल है। वहां चारों दिशाओं में क्रमशः एकःएक पुरुष आता है और उस कमल को बाहर लाने के लिए पुष्करणी के अन्दर जाता है किन्तु कीचड़ में फंस जाता है, उसे न कमल मिलता है, न पुनः किनारे आ पाता है, बीच में ही फंस जाता है।

2. पांचवां पुरुष किनारे पर ही बैठता है, अपने वचन बल से उस कमल को बाहर निकाल देता है।

3. चार पुरुषों के समान भिन्न-भिन्न मान्यता वाले लोग काम भोग या आरम्भ परिग्रह का त्याग नहीं कर सकते किन्तु उनमें अधिकाधिक फंसते जाते हैं।

4. पांचवें पुरुष के समान वह भिक्षु है जो सम्पूर्ण सावद्य कार्यों का, आश्रवों का, काम भोगों का एवं धन परिग्रह का त्यागी होता है। संसार प्रवाह रुपी किसी भी प्रकार के कीचड़ में नहीं उतरता है। संसार के किनारे रह कर ही आत्मशक्ति का विकास कर स्वयं संसार से मुक्त होता है एवं भव्य जनोंको निस्पृह भाव से संसार कीचड़ से निकालने का बोध देता है।

5. इस वर्णन के साथ-साथ अन्य वादियों के सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा है। अन्त में विरक्तात्मा के विविध प्रकार के बोध (ज्ञान) का, संयम के नियमोपनियमों का, दयाभाव एवं समभाव का, धर्म पराक्रम का स्वरुप बताया गया है।

6. अंत में कहा है कि वह भिक्षु अपने पास में आए हुए ज्ञानी, अज्ञानी, जिज्ञासुओं को तत्त्वों का स्वरुप, विरति - (पाप-त्याग), कषायों की उपशान्ति, आत्म शान्ति, भावों की निर्मलता या पवित्रता, सरलता, नम्रता और समस्त छोटे-बड़े चराचर प्राणियों की रक्षा रुप अहिंसा का उपदेश देवे।

7. वह उपदेश भी निस्वार्थ भाव से और रुचिपूर्वक दे।

8. ऐसे भिक्षु के अनेक नाम है यथा- 1. श्रमण 2. ब्राह्मण 3. क्षमाशील 4. दमितात्मा 5. गुप्त 6. मुक्त 7. महर्षि 8. मुनि 9. सुकृति (यति) 10. विद्वान 11. भिक्षु 12. रुक्ष (संसार से उदासीन) 13. मोक्षार्थी 14. चरण करण पारवेत्ता।

यही पूर्वोक्त पांच पुरुषों में योग्य सर्वश्रेष्ठ पुरुष है।

दूसरे अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में कर्म बंध की समस्त क्रियाओं को तेरह स्थानों में संकलित किया गया है।

1. किसी भी प्रयोजन से की गई हिंसा आदि की प्रवृत्ति।
2. इच्छा मात्र से या मनारंजन के लिए निरर्थक ही प्राणियों का वध करना, आग लगाना आदि।
3. वैर या बदले से किसी की संकल्प पूर्वक हिंसा करना।
4. बिना संकल्प अकस्मात बीच में ही किसी की मर जाना।
5. दृष्टि भ्रम से किसी के बदले अन्य की हिंसा करना।
6. झूठ बोलना।
7. चोरी -डकै ती करना।
8. मन में ही आर्त्त-रौद्र, संकल्प- विकल्प करना।
9. जाति, धन, प्रज्ञा आदि का घमण्ड करना, दूसरों का तिरस्कार करना या निन्दा हँसी करना।

10. मन में कुछ और वचन में कुछ अन्य, कहना कुछ और करना कुछ, अन्दर कुछ और बाहर दिखावा कुछ अन्य, इस प्रकार माया कपट धूर्त्तता करना।

11. द्वेष वश अत्यधिक क्रूर दण्ड देना।

12. लोभ लालसा एवं विषय भोगों की आसक्ति रखना।

13 वीतरागी की गमनागमन आदि योग प्रवृत्ति।

इसके बाद अधर्म, धर्म और मिश्र-पक्ष इन तीन विकल्पों का विस्तृत वर्णन है।

- ✲ प्रथम अधर्म विकल्प में हिंसक, क्रूर भोगशक्ति, धर्म द्वेषी व्यक्ति के आचार-विचार व्यवहारों का कथन है।
- ✲ द्वितीय धर्म विकल्प में शुद्ध संयमी या धर्मी का कथन है।
- ✲ तृतीय मिश्र विकल्प में अज्ञान तपस्वी, कन्द मूल भक्षण करने वाले इत्यादि मिथ्या साधना वालों का कथन है।

पुनः अधर्म धर्म और मिश्र-पक्ष इन तीन विकल्पों का विस्तार किया है-

- ✲ पहले अधर्म विकल्प में ऊपर कहे गये प्रथम और तृतीय विकल्प को समाविष्ट करके कथन किया है।
- ✲ दूसरे धर्म पक्ष में संयम जीवन का विस्तार है।
- ✲ तीसरे मिश्र पक्ष में श्रमणोपासक जीवन का वर्णन है।

अन्त में इस दूसरे और तीसरे स्थान को सम्यक् कहकर मोक्ष प्राप्त करने वाला कहा है।

पुनः उक्त द्विविध तीनों स्थानों को धर्म अधर्म दो विकल्पों में कहा गया है। 363 पाखण्डों को अधर्म पक्ष में कहा है। अन्त में धर्म, अधर्म पक्ष की अग्नि परीक्षा का दृष्टान्त देकर अहिंसा प्रधान धर्म की युक्तिपूर्वक पुष्टि की है। जिसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि परमत या स्वमत में जहां कही भी हिंसा है, त्रस स्थावर प्राणियों का पीड़न है वह अधर्म है। सारांश यह है कि-

जहां होत हिंसा, नहीं संशय, अधर्म वहीं पहिचानिए।
सब जीव रक्षा, यही परीक्षा, धर्म उसको जानिए।

तीसरे अध्ययन का सारांश

1. वनस्पति जीव पृथ्वी के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हैं। बाद में यथा अवसर छः ही काया के जीवों के शरीर को अचित बना कर उनका आहार करते हैं।

2. उस वृक्ष की निश्रा में उत्पन्न होने वाले जीव पृथ्वी स्नेह के स्थान पर वृक्ष स्नेह का प्रथम आहार करते हैं, बाद में छः काया का आहार करते हैं।

3. उस वृक्ष में कलम करने पर अन्य वृक्ष एवं लताएं भी उपजती हैं वे भी उस वृक्ष के स्नेह का प्रथम आहार करते हैं, बाद में छः काया का आहार करते हैं।

4. जल योनिक वनस्पति जीव पृथ्वी की जगह जल के स्नेह का प्रथम आहार करते हैं। बाद में छः काया का आहार करते है।

5. इन सभी वनस्पतियों के मूल- कंदादि बीज पर्यन्त दसों विभाग होते हैं और वे वृक्ष स्नेह का प्रथम आहार करते हैं। प्रथम आहार के बाद सभी वनस्पति के यथायोग्य छः ही काया का आहार होता हैं।

6. मनुष्य माता-पिता के शुक्र शोषित के मिश्रण के स्नेह का सर्व प्रथम आहार करता है। बाद में माता के आहार से उत्पन्न रस के ओज का आहार करता है। गर्भ से बाहर आने पर स्तनपान से माता के दूध और स्नेह (घी) का आहार करता है। अनुक्रम से बड़ा होने पर नाना प्रकार के आहार एवं छः काया का आहार करता है।

7. इसी प्रकार तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के विषय में समझना, किन्तु कुछ विशेषता है यथा-

- जलचर जीव गर्भ के बाहर आने पर स्तनपान नहीं करते किन्तु जल के स्नेह का आहार करते हैं, अनुक्रम से वृद्धि पाने के बाद छः काया का आहार करते हैं।
- पक्षी भी स्तनपान नहीं करते किन्तु प्ररम्भ में वे माता के गात्र (शरीर) के स्नेह का आहर करते हैं।
- उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प प्रारम्भ में वायुकाय केस्नेह का आहार करते हैं।

8. विकलेन्द्रिय जीव त्रस स्थावर प्राणियों के सचित या अचित शरीर में उत्पन्न होते हैं और उस शरीर के स्नेह का प्रथम आहार लेते हैं। अर्थात् जो जीव जहां उत्पन्न होते हैं उसी के स्नेह का प्रथम आहार करते हैं। ऐसा सर्वत्र- समझना।

9. अपकाय के जीव- जहां पोलार, वायु हो वहां उत्पन्न होते हैं, फिर उसमें अन्य अपकाय के जीव और त्रस जीव उत्पन्न होते हैं।

10. अग्निकाय के जीव भी त्रस सथावर जीवों के सचित अचित शरीर में उत्पन्न होते हैं और उनके स्नेह का प्रथम आहार करते हैं, फिर उस अग्नि में अन्य अग्निकाय एवं त्रस काय के जीव उत्पन्न होते हैं। वे अग्नि के स्नेह का प्रथम आहार करते हैं।

11. इसी प्रकार वायुकाय और पृथ्वी काय का आहार भी समझना।

इसी प्रकार सभी जीव नाना योनियों में भ्रमण कर विभिन्न आहार करते हैं, यह जानकर भिक्षु आहार में गुप्त होकर अर्थात् अल्पतम आवश्यक आहार करके रत्नत्रय की आराधना करे।

चौथे अध्ययन का सारांश

1. जिसने अठारह पापों का त्याग नहीं किया है मिथ्यात्व से भावित है वह मन, वचन, काया से पाप क्रिया न करता हुआ भी अप्रत्याख्यान से संबंधित पाप कर्म का बन्ध करता रहता है चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो।

2. किसी राजा आदि की हिंसा करने का संकल्पबद्ध व्यक्ति सभी अवस्था में उनका वैरी-वधक ही माना जाता है। जब वह विचार परिर्वतन से उस संकल्प का त्याग कर दे तो फिर शत्रु नहीं माना जाता है।

3. संसार सभी के प्राणी सन्नी-असन्नी अवस्थाओं में जन्म मरण करते हैं। अतः हिंसा जन्य प्रवृत्तियों, संकल्पों की परम्परा जीव के साथ संलग्न रहती है, जब तक कि वह अविरत रहता है। जैसे कि कोई मनुष्य असत्यवादी है और कभी कर्म संयोग से मूक हो जाय तो सत्यवादी नहीं कहा जा सकता, असत्य वचन का त्यागी भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो जीव अविरत होते हैं उन्हें पाप क्रिया (अप्रत्याख्यान रुप में) लगती रहती है।

4. जो सर्वथा हिंसादि पापों को दुःखकारी जानकर उनसे विरत हो जाता है, शुद्ध संयम का पालन करता है वह भिक्षु क्रिया रहित, हिंसा रहित, क्रोध, मान, माया, लोभ रहित, उपशान्त एवं पाप के बंध से रहित होता है। उसे एकान्त पण्डित कहा जाता है।

पांचवे अध्ययन का सारांश

1. किसी भी विषय में आग्रह युक्त एकान्त कथन नहीं करना चाहिए किन्तु आग्रह रहित नययुक्त (किसी अपेक्षा से) कथन किया जा सकता है। उदाहरण के रुप में सूत्रोक्त विषय इस प्रकार है- 1. लोक नित्य है, 2. लोक अनित्य है, 3. सभी भव्य जीव भवोच्छेद कर देंगे, 4. सभी जीव एकान्त विसदृश हैं, 5. छोटे बड़े किसी प्राणी की हिंसा से क्रिया समान ही लगती है, 6. आधाकर्मी दाता एवं भोक्ता एकान्त रुप से पाप कर्मों से लिप्त होते ही है या नहीं होते हैं, 7. सभी जीव सदा कर्मबंध करते ही रहेंगे इत्यादि।

2. निम्न विषयों में आस्तिक्य भाव की श्रद्धा रखनी चाहिए यथा लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान, माया-लोभ, राग-द्वेष, चतुर्गति संसार, देव-देवी, मुक्ति-अमुक्ति, जीव का निज स्थान सिद्धि हैं, साधु और असाधु होते हैं। किन्तु इनके नास्तित्व की बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

3. यह एकान्त पुण्यवान है या पापी है, साधु लोग धूर्त होते हैं, अमुक को दान देने से लाभ होगा, अमुक को देने से लाभ नहीं होगा ऐसे एकान्त कथन एवं दृष्टि भी नहीं रखना चाहिए।

इन सब विषयों में या अन्य भी ऐसे विषयों में दृष्टि (बुद्धि) और भाषा का विवेक रखकर संयम में पराक्रम करना चाहिए।

छठे अध्ययन का सारांश

1. इस अध्ययन मेंआक्षेप युक्त चर्चा (प्रश्नोत्तर) का संकलन है।

1. प्रश्न– भगवान महावीर पहले एकान्त में मौन एवं तपस्वी जीवन व्यतीत करते थे किन्तु अब विशाल जन समुदाय में रहते हैं, उपदेश देते हैं, यह उनका अस्थिर सिद्धान्त एवं चंचल स्वभाव है?

उत्तर- पहले भगवान घाति कर्मों के क्षय हेतु एकान्त वास, मौन, तपस्वी जीवन से रहते थे और अब अघाति कर्म एवं जिन (तीर्थंकर) नाम कर्म के क्षय हेतु भव्य जीवों को बोध देकर मोक्ष मार्ग में लगाते हैं। वे अब भी राग, द्वेष, मोह रहित होने से अकेले ही हैं। जब जो लाभ का कारण समझते हैं, वैसा प्रवर्त्तन करते हैं किन्तु कहीं पर भी ममता, मूर्च्छा, आसक्ति भाव नहीं होने से उन पर दोषारोपण करना मिथ्या है, वे यश कीर्ति आजीविका के लिए धर्मोपदेश नहीं देते किन्तु वे जीवों के कल्याण हेतु प्रवचन करते हैं।

कृत– कृत्य वीतराग प्रभु को स्वार्थ साधन से कोई प्रयोजन ही नहीं है।

2. शंका– सचित जल, बीज, आधाकर्मी आहार और स्त्रियों का सेवन करते हुए भी जो यदि एकान्त में विचरण कर तपस्वी जीवन व्यतीत करता है उसे पाप नहीं लगता है।

समाधान– उक्त प्रवृत्तियां करने वाला तो गृहस्थ ही है, अणगार नहीं। धन कमाने के लिये गृहस्थ भी परदेश में अकेले घूमते रहते हैं। अतः उक्त आचरण वाले आत्म-साधक नहीं अपितु जीव हिंसा एवं काम भोगों में आसक्त होकर संसार भ्रमण करते हैं।

3. शंका– ऐसा कथन करने से दूसरों की निन्दा का पाप लगता है।

समाधान– किसी व्यक्ति विशेष की निन्दा नहीं करके गलत दृष्टिकोण को जानकर यथार्थ, वस्तुस्वरुप को स्पष्ट करना, निन्दा या पाप नहीं है। आंखो से खड्डे कांटे, कीड़े, सांप आदि को देखकर उससे अपने को बचावे और दूसरों को भी बताकर उनका हित करे तो इसमें कौन सी निंदा है? इसी प्रकार हिंसा एवं कुशील के समर्थक कोई भी सिद्धान्त या मार्ग कल्याण कारक नहीं है ऐसा स्वरुप बताना भी निन्दा नहीं है।

4. शंका– बहुत जनों के आवागमन के स्थानों में जहां अनेक विद्वान लोग भी आते हैं किन्तु महावीर चर्चा में निरुत्तर होने के भय से ऐसे स्थानों में नहीं ठहरते।

समाधान– भगवान् बिना कारण या बिना विचारे कोई कार्य नहीं करते। वे राजा के भय से भी कुछ नहीं करते, न देव-दानव के भय से। किन्तु जब जहां लाभ देखते है वैसा प्रवर्त्तन करते हैं।

5. शंका– तब तो भगवान एक वणिक के समान ही हैं जो अपने लाभ के लिए जन सम्पर्क करते हैं?

समाधान– भगवान मोक्ष साधना की अपेक्षा लाभार्थी हैं किन्तु वणिक तो प्राणियों का आरम्भ करते, धन-परिवार में ममत्व रखते, मैथुन में आसक्त रहते हैं और अनेक प्रकार के कर्म बंधकर के आत्मा की अवनति करते हैं किन्तु भगवान ऐसे नहीं हैं। भगवान का लाभ तो निर्जरा एवं मोक्ष रुप है। सर्वथा हिंसा से रहित, आत्म धर्म में स्थिर वीतराग सर्वज्ञ महापुरुष को वणिक तो आप ही कह सकते है।

6. शंका– खल पिण्ड को मनुष्य और तुम्बे को बालक समझ कर कोई पकाकर खावे तो वह पाप से लिप्त होता है और कोई मनुष्य को खल पिण्ड और बालक को तुम्बा मानकर पकाकर खावे तो पाप लिप्त नहीं होता। ऐसा हमारा मन्तव्य है।

समाधान– इस प्रकार का वचन प्रयोग करना और सुनना और मानना दोनों ही श्रमण जीवन के अयोग्य हैं। श्रमण तो सूक्ष्म त्रस स्थावर जीव की आशंका से सदा विवेक जागृति युक्त प्रवृत्ति करता है। उक्त खल बुद्धि और तुम्बा की बुद्धि तो कोई मूर्ख भी नहीं कर सकता। अतः ऐसी विपरित बुद्धि वाला तो अनार्य होता है। जिस वचन प्रयोग से पाप उपार्जन को प्रेरणा मिले ऐसा बोलना भी योग्य नहीं है। संयती मुनि सम्यक् चिन्तन पूर्वक दोष रहित भिक्षा ग्रहण करते हैं, वे ऐसे माया मय वचन प्रयोग नहीं कर सकते।

इसी प्रकार अन्य तत्त्व चर्चाएं हैं। जिसका सार यह है-

- मांस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है।
- पाप से आजीविका करने वालों को भोजन कराने मात्र से पुण्य वृद्धि होकर देव लोक मिलना भी कल्पना मात्र है।
- निंद्य आचरण करने वाले और उत्तम आचरण करने वाले दोनों कभी समान नहीं हो सकते है।
- हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता जीवों की संख्या पर आधारित नहीं है, किन्तु उनकी चेतना इन्द्रियां, मन, शरीर आदि का विकास एवं मारने वाले के तीव्र मन्द भावना पर आधारित है।

भिक्षु को अनेक वादियों के कुतर्कों से दूर रह कर सम्यक् श्रद्धा युक्त आचरण करने में सावधान रहना चाहिए।

इस अध्ययन में गोशालक, बौद्ध, वेदवादी, सांख्य मत वादी एवं हस्तीतापस के साथ हुई आर्द्र कुमार की चर्चा है। ऐसा व्याख्याकारों का मंतव्य है।

सातवें अध्ययन का सारांश

इस अध्ययन में पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के श्रमण उदकपेढाल पुत्र और गौतम स्वामी की चर्चा है।

1. उदक श्रमण का तर्क है कि– श्रावक के त्रस जीव की हिंसा के प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है क्योंकि प्रत्याख्यान के समय जो जीव त्रस है वे कभी स्थावर हो जाते, जो स्थावर हैं वे त्रस हो जाते है। गौतम स्वामी का समाधान है- कि प्रत्याख्यान का आशय त्रस नामकर्म के उदय वाले जीवों की अपेक्षा है। अतः सुप्रत्याख्यान है। किसी ने

श्रमण की हिंसा न करने का व्रत लिया उसके बाद कोई श्रमण उदय कर्म से गृहस्थ बन जाय तो उसकी हिंसा करने से उस प्रत्याख्यानी की प्रतिज्ञा भंग नहीं होती है, उसी प्रकार श्रावक के त्रस जीव की हिंसा का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

दूसरा तर्क है कि त्रस का प्रत्याख्यान कराने पर स्थावर की हिंसा का समर्थन होता है। इसके समाधान हेतु छः पुत्रों के फांसी की सजा में से एक को छुड़ाने का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि असमर्थता के कारण श्रावक से जितना बन सके उतना ही त्याग कराया जाता है जैसे- सेठ अपने पांच पुत्रों की फांसी का समर्थन नहीं करता है वैसे ही साधु भी गृहस्थ के किसी भी छूट आगार का समर्थन नहीं करता है।

इस प्रकार अनेक तर्क प्रति तर्कों का दृष्टांत आदि द्वारा समाधान किया गया है अन्त में उदक श्रमण स्वसमर्पण कर पंच महाव्रत धर्म स्वीकार कर लेते हैं।

नोट- विस्तृत जानकारी केलिए श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर के सूत्रकृ तांग सूत्र, भाग 1-2 का अध्ययन करें।

3. एकल विहार संबंधी अन्य विधान-

1. आचा. श्रु. 1 अ. 5 उ. 4 में- अव्यक्त एवं अशान्त स्वभाव वाले को एकल विहार का निषेध किया है एवं उसका अहितकारक परिणाम बताया है।

ज्ञान से बहुश्रुत न हो वह अव्यक्त है।

वय से सोलह वर्ष से पूर्व अव्यक्त है।

संयम पर्याय से तीन वर्ष के पूर्व अव्यक्त है।

2. सुयग. श्रु. 1 अ. 4 में- वर्णन है कि पंख आने के पूर्व पक्षी की घोसले में रहने पर ही सुरक्षा है। उसी तरह उक्त अव्यक्त अवस्था तक गुरुकुल वास ही श्रेयस्कर है, न कि स्वतंत्र विचरण या एकल विहारचर्या।

इन स्थलों में साधु साध्वी दोनों के कल्प, अकल्पों का वर्णन होते हुए भी यहां सामान्य साधु के अकेले विहार आदि का निषेध नहीं किया गया है।

5. बृहल्कल्प भाष्य गाथा 690 में- गीतार्थ का स्वरुप बताते हुए आगे कहा गया है कि गीतार्थ का एकाकी विहार हो सकता है अन्य गीतार्थ, अगीतार्थ सभी गीतार्थ आचार्य एवं उपाध्याय के नेतृत्व में ही रहते हैं।

6. व्यव. भाष्य उ. 1 में- एकाकी विहारचर्या के कारण बताये हैं यथा- 1. रोगातंक (मरीमारी), 2. दुर्भिक्ष, 3. राजद्वेष, 4. अन्य भय 5. ग्लानता- शारीरिक या मानसिक, 6. ज्ञान, दर्शन, एंव चारित्र की वृद्धि हेतु, 7. साथी के काल गत होने से, 8. आज्ञा से भेजने पर।

7. ओघनिर्युक्ति में एकल विहार चर्या के दो प्रकार कहे हैं- 1. सकारण, 2. अकारण।

* गीतार्थ का ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिये या आगमोक्त अन्य परिस्थितियों से किया गया एकल विहार सकारण कहा है।

* अनुशासन से घबराकर, स्थान, क्षेत्र, आहार, वस्त्र आदि मनोनुकूल प्राप्त करने हेतु एवं अनेक स्थल देखने हेतु किया गया गीतार्थ का एकल विहार भी अकारण है तथा सभी अगीतार्थों का एकल विहार तो सदा अकारण विहार ही होते है अर्थात अगीतार्थों को एकल विहार करना कल्पता ही नहीं है।

उपसंहार-

गीतार्थ एवं बहुश्रुत शब्द एकार्थ मे ही प्रयुक्त होते हैं। जहां आगमकार बहुश्रुत शब्द प्रयोग करते हैं, वही व्याख्याकार गीतार्थ शब्द प्रयोग करते हैं। दोनों की जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट अवस्था की व्याख्या समान है **यथा-** (1) आचारांग निशीथ सूत्र एवं अर्थ का धारक (कंठस्थ धारण करने वाला) जघन्य गीतार्थ एवं बहुश्रुत है। (2) आचारांग सूयगडांग एवं छेद-सूत्र के मूल एवं अर्थ का धारी मध्यम गीतार्थ एवं बहुश्रुत है। (3) नौ पूर्व से ऊपर के ज्ञानी उत्कृष्ट गीतार्थ एवं बहुश्रुत हैं।

बृहत्कल्प भाष्यपीठिका गा. 6 9 3-निशीष चूर्णी पीठिका गा. 404

जो जघन्य गीतार्थ या बहुश्रुत नहीं हो, उसे आचार्य, उपाध्याय पद एवं एकल विहारचर्या निषिद्ध है।

तथा उसका सिंघाडा प्रमुख बनकर स्वतंत्र विचरना एवं गवेषणा करना भी निषिद्ध है। एकल विहार के इन आगम प्रमाणों के होते हुए भी एकान्त रुप से एकल विहार को अनागमिक कहना या प्ररुपण करना न्याय युक्त नहीं हो सकता है।

सुज्ञ पाठक आगम श्रद्धा रखते हुए इन प्रमाणों से सही निर्णय लेकर एकान्त प्ररुपण एवं दूषित विचारों से बचें। साथ ही गच्छ व्यवस्था करने में पदों की आवश्यकता समझें एवं स्वतंत्र प्रमुख बनकर विचरने वाले की योग्यता का ध्यान भी रखें तथा एकल विहार की अपेक्षा पद रहित गच्छ व्यवस्था को अत्यधिक अहितकर एवं आगम विपरीत समझें।

एकल विहार के इस सम्पूर्ण प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि-

1. भिक्षु का एकल विहार एक विशिष्ट साधना है एवं किसी शारीरिक या मानसिक परिस्थिति से गुजरने वाले के लिए यह एक अवलम्बन भूत अवस्था है। जिसकी आगमों में जगह-जगह स्पष्ट रूप से आज्ञा एवं प्रेरणा भी है। यह उक्त प्रमाणों में समझा जा सकता है।

2. एकल विहार का पूर्ण निषेध आचार्य आदि पदवीधारी भिक्षु के लिए एवं साध्वी के लिए है। सामान्य साधु के लिए पूर्ण निषेध किसी भी आगम में नहीं है, यह ध्रुव सत्य है, इसे झुठलाना आगम विपरीत प्ररूपणा है।

3. आगम में अव्यक्त भिक्षु के लिए तथा अनुपशात अनात्मार्थी भिक्षु के लिए एकल विहार का निषेध है एवं अपरिपक्व पंख वाले पक्षी के समान कच्चे साधकों के लिए गुरुकुलवास आवश्यक कहा है। इसी से स्पष्ट होता है कि व्यक्त, उपशान्त, शान्त, आत्मार्थी एवं बहुश्रुत गीतार्थ का एकल विहार निषिद्ध नहीं है।

1. विशिष्ट एकल विहार-

- ✤ भिक्षु की ग्यारह प्रतिमाएं, मोयप्रतिमा-चन्द्रप्रतिमा आदि विशिष्ट नियम अभिग्रह एवं रात्रि भर के कायोत्सर्ग आदि युक्त प्रतिमा इत्यादि साधनाएं विशिष्ट संहनन एवं पूर्वज्ञान वाले ही धारण कर सकते हैं। जिनका अभी विच्छेद मानना आगम विरुद्ध नहीं है।

2. निषिद्ध एकल विहार-

- ✤ 1 आचा. श्रु. 1 अ. 5 उ. 4 में- अव्यक्त का एकल विहार निषिद्ध है।
- ✤ आचा श्रु. 1 अ. 5 उ. 1 में- क्रोधी, मानी, धूर्त्त आदि का एकल विहार दूषित कहा है।
- ✤ सूय. श्रू. 1 अ. 14 में- अल्प दीक्षा पर्याय वाले का स्वतंत्र विहार निषिद्ध है।
- ✤ व्यव. उ. 3 सू. 11-12 में- निर्दिष्ट नवदीक्षित का (3 वर्ष की दीक्षा पर्याय) एवं चालीस वर्ष तक की उम्र वाले भिक्षु का आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना विचरण करना निषिद्ध है।

ये विहार आगम में निषिद्ध है। इन विहार चर्याओं के धारण करने वाले योग्य अयोग्य कोई भी भिक्षु हो सकते हैं। किन्तु सब की आचरणा आगम विरुद्ध है।

3. कल्पनीय एकल विहार-

दशवैं. चू. 2 गा. 10 तथा उतरा. अ. 32 गा. 5 में- निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकल विहार चर्या, कल्पनीय है।

आचा. श्रु. 1 अ. 6 उ. 2 में- निर्दिष्ट शुद्ध गवेषणा और शुद्ध संयम रुचि से धारण की गई एकल विहार चर्या कल्पनीय है।

सूय. श्रु. 1 अ. 10 गा. 12 में- निर्दिष्ट मोक्ष प्राप्ति के आश्वासन के साथ कही गई एकल विहार चर्या कल्पनीय है।

ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्प पीठिका, व्यवहार भाष्य में- सकारण की गई गीतार्थ की एकल विहार चर्या का विधान है।

ये एकल विहार आगम सम्मत है इन्हें तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, चालीस वर्ष की उम्र वाला तथा आचारांग निशीथ सूत्र को अर्थ परमार्थ सहित कं ठस्थ धारण करने वाला स्वीकार कर सकता है। इस योग्यता के पूर्व सकारण किया गया एकल विहार भी आगम विरुद्ध है।

उपसंहार-

वर्तमान में अयोग्य एकल विहार चर्या वालों को लक्ष्य में रखकर एकांगी दृष्टि से एकल विहार का सर्वथा निषेध किया जाता है, आगमों के नाम से एकांत अकल्पनीय कहा जाता है और अभी एकल विहार का विच्छेद है ऐसा माना जाता है यह सब सर्वथा अनुचित कथन है और आगम विपरीत प्ररुपण है।

अतः इस निबंध में संग्रहित आगमोक्त अनेकांत दृष्टिकोणों को समझ कर एकांत एवं आगम विरुद्ध प्ररुपण को महापाप समझ कर साधु-साध्वी आदि चतुर्विध संघ को विवेक युक्त कथन या लेखन करना चाहिए।

कुछ प्रमाणों का स्पष्टीकरण–

1. ठाणांग सूत्र तीसरा ठाणा में– साधु के तीन मनोरथ और श्रावक के तीन मनोरथ बताये हैं। साधु के मनोरथ इस प्रकार है-

- ✦ जिस समय में जितने आगम उपलब्ध हो उनका अधिक से अधिक अध्ययन करुं।
- ✦ मेरा वह दिन बड़ा कल्याण का होगा जब में गच्छ निरपेक्ष होकर एकान्त आत्म साधना के लिए एकल विहार प्रतिज्ञा धारण कर विचरुंगा।
- ✦ वह दिन मेरा परम कल्याण का होगा जब मुझे संलेखना संथारायुक्त पंडित मरण प्राप्त होगा।

श्रावक का दूसरा मनोरथ भी गृहत्याग कर संयम लेने का है वह भी सभी श्रावकों को नहीं आता है। जिसकी भावना प्रबल हो और योग्यता एवं अवसर हो तो ही उसे संयम प्राप्त होता है। पर मनोरथ है तो कभी किसी को आता भी है विच्छेद कहना सर्वथा अनुचित है। वैसे ही साधु के मनोरथ के लिए भी समझना चाहिए।

2. दशाश्रुत स्कंध सूत्र– आचार्य की संपदा के वर्णन करने के साथ में आचार विनय के भेदों में एकल विहार समाचारी वाले साधु को गच्छ में आचार्य की संपदा रुप गिने हैं। वहां कहा है, कि- यदि गुण सम्पन्न साधु एकल विहार को इच्छता हो तो उसे एकल विहार करावे। इसी की चूर्णी के प्रकाशन में लिखा है कि एकल विहार का निषेध करने वाले महापुरुषों को इस उक्त वचन पर विश्वास रखना चाहिए।

3. बृहत्कल्प सूत्र उद्देशा 5 में साधु व साध्वी दोनों के अनेक कल्पों के विषय में बताते हुए बीच में बताया कि- साध्वी को अकेले गोचरी, जंगल, विहार आदि कोई भी कार्य करना नहीं कल्पता है और साधु के लिए वहां कुछ भी नहीं कहा।

4. व्यवहार सूत्र उद्देशा 4 में आचार्य उपाध्याय को अकेले विचरने की मना कही है, और साधारण साधु के लिये कुछ भी नहीं कहा।

5. वास्तव में बतीस सूत्र के मूल पाठ में- ऐसी कहीं एक लकीर भी नहीं है कि किसी भी साधु को अकेले नहीं रहना और रहे तो प्रायश्चित्त। किन्तु दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र की मूल गाथा में अमुक परिस्थिति में साधु को अकेले ही विचरना चाहिए ऐसा स्पष्ट प्रेरणात्मक पाठ है।

6. आचारांग सूत्र अध्ययन 5 में- (1-5-4) में बताया है कि एकल विहार चर्या उसके लिये खराब होती है- जो अव्यक्त हो = श्रुतज्ञान से, श्रद्धा से और स्थिरता से। जो बात बात में कषाय करने वाला हो, उसे अनेक बाधाओं को पार करना मुश्किल हो जाता है। हे साधक। ऐसा तेरे को न होवे इसका सदा विचार करना, यह ज्ञानियों का फरमान है।

7. आचारांग अध्ययन 5 में- (1-5-1) तथा अध्ययन 6 में- (1-6-2) एकल विहारी साधु के संबंधी कथन किया गया है। पांचवे अध्ययन में बताया है कि- इस जिन शासन में कई एकल विहारी ऐसे होते हैं। यथा- बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुमायी और बहुलोभी, अति बोलने वाले स्वांग करने वाले, दोष छिपाने वाले, उत्कृष्टता बताने वाले, जो कि गुप्त पणे कई दोष सेवन करे, इत्यादि तथा इसके विपरित छठे अध्ययन में कहा है कि जिन शासन में कई एकल विहारचर्या वाले होते हैं वे शुद्ध गवेषणा की दृष्टि एवं रुचि वाले तथा सर्व शुद्धि से संयम पालने वाले होते हैं। वे बुद्धिमान विचरण करते हुए लाभ-अलाभ कष्ट आदि सब कुछ शान्ति से सहन करते हैं इत्यादि। अब हम सोचें कि क्या इन दोनों को नवपूर्वी या पडिमाधारी कहा जा सकता है? या ये साधारण एकल विहारी है?

8. सुयगडांग सूत्र अध्ययन में कहा है कि- एगेचरे ठाणमासणे, सयणे एगसमाहिये सिया। विशेष साधना के लिये भिक्षु को विचरण, स्थान, शयन, आसन में अकेले पन से समाधि युक्त रहना चाहिए। इस तरह यहां आसन, शयन, स्थान व विचरण के एकत्व की प्रेरणा है।

9. सुयगडांग सूत्र अध्ययन दस गाथा 11 -12 में कहा है कि- भिक्षु आधा कर्मी आहार की चाहना भी नहीं करे। उनके साथ संभोग नहीं रखे किन्तु अपने कर्म क्षय करने में लगा रहे । इसी प्रसंग से अगली गाथा में कहा है कि- एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसं ति पास = अकेले रहना भी स्वीकार कर ले (चाहना कर ले) ऐसा करने से भी मोक्ष (कल्याण) हो सकता है। इसे असत्य नहीं समझना। यहां भी गवेषणा दोष के प्रसंग से एकल विहार का निर्देश है और अकेले से मोक्ष नहीं होता ऐसा भ्रम नहीं रखने का निर्देश है। जिसे कि आचारांग सूत्र के छठे अध्ययन में प्रशस्त कहा है।

10. ठाणांग सूत्र आठवें ठाणे में- एकल विहार करने वाले की योग्यता के आठ गुण बताये हैं। उनमें से 6 गुण तो छठे ठाणे में बताये हैं कि इन 6 गुणों वाला सिंघाड़ा का मुखिया बन सकता है। इनकी अपेक्षा यहां दो गुण विशेष बताये हैं। (1) धैर्यवान और (2) उत्साह वान। इनका अभिप्राय इतना ही है कि 1 अकेले में रोगातंक आदि में धैर्य की आवश्यकता। 2 तो अकेलेपन से रहने में सदा आनन्द मानने की रुचि तमन्ना रुप उत्साह भी आवश्यक है। बाकी 6 विशेषण वे ही है जो सिंघाडे की मुख्यता करके विचरने वाले में होते हैं।

कुछ ही सेकड़ों वर्षों से एकल विहार के एकान्त रुप से निषेध करने की प्रवृत्ति हो जाने से उन्हीं 6 गुणों का यहां अर्थ अलग करके वज्र ऋषभ नाराच संहनन और नव पूर्व ज्ञान अवश्य होना चाहिए ऐसा अर्थ कर दिया गया है किन्तु मूल पाठ में तो सिर्फ दो गुण ही ज्यादा कहे उनसे कोई ऐसा अर्थ नहीं निकलता है। कही मूल में 9 पूर्वज्ञान और वज्र ऋषभ नाराच संहनन नहीं कहा है। और यहां 6 शब्दों का ऐसा अर्थ करेंगे तो किसी को सिंघाडापति-मुखिया बनना भी नहीं कल्पेगा। अतः जिसमें सिंघाड़े का मुखिया बनने की योग्यता है उसमें दो गुण अधिक हो तो वह एकल विहार की योग्यता वाला कहा जाता है ऐसा मूल पाठ से सिद्ध होता है। 9 पूर्व ज्ञान और प्रथम संहनन तो भिक्षु पडिमा आदि के लिये आवश्यक कहा भी जा सकता है क्योंकि उसमें विशिष्ट तप, रात भर के काउस्सग आदि अनेक नियम होते हैं। परन्तु उपरोक्त शास्त्रों के प्रमाण वाली यह एकल विहार चर्या एक अन्य ही सपरिस्थितिक साधना है किन्तु पड़िमा नहीं। आगे

दशवैकालिक व उत्तराध्ययन सूत्र का विवेचन देखने से ध्यान में आयेगा कि 9 पूर्व ज्ञान और संहनन का कथन कितना आगमानुकू ल है?

11. व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देशे में- ऐसे एकल विहारी स्थविर कल्पी का वर्णन है जिसे डंडा लाठी छत्र, चर्म आदि अनेक उपकरण रखने पड रहे हैं और उसे स्वयं गोचरी जा रहे हों तब क्या करना चाहिए। इस बात का वर्णन है।

इसमें वृद्धावस्था, अकेलापन और स्थविरकल्पीपन ये तीनों बातें सोचने योग्य है। विशेष जानकारी के लिए आगम प्रकाशन समिति ब्यावर के छेद सूत्रों में इसका विवेचन देखें तथा व्यवहार सूत्र का सारांश देखें।

दशवैकालिक सूत्र-

असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणि ।।9।।

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणाओ समं वा ।
एकोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ।।10।।

सरलार्थ- साधु को उन्हीं के साथ रहना उचित है जिनके साथ रहने में किसी भी प्रकार का मानसिक वाचिक शारीरिक संक्लेश न हो और स्वीकृत चारित्र में किसी प्रकार की हानि न पहुंचे। 9। यदि श्रेष्ठ मुनि न मिले तो क्या करना चाहिए? इसका समाधान शास्त्रकार अगली गाथा में दे रहे हैं- अपने से गुणाधिक या गुण सम योग्य निपुण (संयम) सहायक न मिले तो अकेला ही विचरे और ध्यान रखे कि पापों के (18 पाप) त्याग को बराबर निभावे। इन्द्रिय विषयों में कहीं भी आसक्त न होता हुआ विचरे। इसका भावार्थ यही हुआ कि यदि जिनके साथ रहने में संयम में कोई भी हानि पड़े, किसी भी तरह की संक्लेशता रहे तो मुनि को वहां भूल कर भी नहीं रहना चाहिए सहर्ष अकेला विचरण करना चाहिए- आत्मारामजी म. सा.।

ऐसी स्थिति 9 पूर्वी के लिए नहीं होती है। वे तो विशेष तप, ध्यान, निर्जरा, पडिमा आदि के लिये अनेक उच्च योग्य साधक साथी के होते हुए भी अकेले जाते हैं। अतः सूत्रोक्त यह भाव साधारण साधु की अपेक्षा ही शास्त्रकार ने कहा है ऐसा स्पष्ट है। इसके लिए नौ पूर्वी का कथन चाहे कितना भी प्राचीन क्यों न हो आगम आशय के विपरीत एवं मन कल्पित है।

गाथा-

आहार मिच्छे मिय मेसणिज्जं, सहाय मिच्छे णिउणत्थबुद्धिं।
निकेय मिच्छेज्ज विवेग जोगं, समाहि कामे समणे तवस्सी।।

टीका का भावार्थ –

ज्ञान दर्शन चारित्र के लाभ का इच्छुक साधु ही समाधि का इच्छुक कहलाता है। संयम की प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ करने वाला श्रमण कहलाता है। बेला तेला आदि करने वाला तपस्वी कहलाता है। ऐसे श्रमण तपस्वी व समाधि के इच्छुक मुनि यह इच्छे अर्थात् इन आगे कही जाने वाली चाहनाएं रखे। जो संयम समाधि के आवश्यक अंग है इन का सदा ध्यान रखे। वे हैं- सबसे पहले एषणीय दोष रहित आहार की चाहना रखे अर्थात् मेरे संयम जीवन में आहार आदि (पानी वस्त्र शैय्या)में कोई प्रकार का दोष नहीं लगना चाहिए। मेरी गवेषणाशुद्ध है? या मुझे लाकर देने वाला शुद्ध गवेषणा करता है? मेरे शरीर के उपभोग में कोई भी अकल्पनीय वस्तु तो नहीं आ रही है। इसका पूरा ध्यान रख सतर्कता, सावधानी और विवेक रखे। यह पहली चाहना है। सर्व प्रथम यह चाह साधु को संयम जीवन में होनी ही चाहिए। पहले आहार शुद्धि का ध्यान हो। इसमें भी यह सतर्कता रहे कि आहार मर्यादित और संयम यात्रा को टिकाने पूरता हो, न कि मन और इन्द्रिय का पोषक और अहितकर हो। फिर शास्त्रकार कहते हैं- कि साथी साधु तत्त्वज्ञ बुद्धिमान संयम के योगों में पूर्ण समझ और विवेक रखने वाला सुयोग्य हो जिससे कि किसी भी प्रकार की असमाधि का कारण न बने। योग्य साथी समय पर विशेष लाभकारी होता है। जैसे कि शैलक राजर्षि को योग्य शिष्य ने पुनः धर्म में स्थिर कर दिया था। अतः योग्य साथी के साथ रहने का ही सदा ध्यान रखें और वह समाधि का इच्छुक साधक ठहरने के लिये योग्य व एकान्त शान्त स्थान प्राप्त करने का सदा ध्यान रखे।

मूल– अथ काल आदि दोष वशात् चेत् पूर्वोक्त गुण सहायः शिष्यः न लभेत तदा कि कतव्यं तदाह-

न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।5।।

अब यदि काल आदि दोष वशात् कोई योग्य सहायक साथी न मिले तो क्या करना चाहिये, वह पांचवी गाथा में कह रहे हैं।

टीका का भावार्थ– यदि अपने में रहे हुए विनय आदि गुणों में समान या अधिक योग्यता वाला बुद्धिमान, शुद्ध संयम का इच्छुक, सहायक साथी न मिले तब वह साधु अकेला ही शिष्य रहित होकर विचरे-विहार करे और संयम गुण समिति आदि एवं विनय आदि में कमजोर, अविनीत शिष्य को जबरदस्ती निभाने की कोशिश न करे। किन्तु चारित्र गुणों में अनुकूल रुचि वाले, असमाधि पैदा नहीं करने वाले ऐसे विनीत शिष्य के अभाव में अकेला ही विचरे। यथा- (गर्गाचार्य सैकड़ों शिष्यों को छोड़कर अकेले ही विचरे)। अब इस परिस्थिति में अकेला विचरता हुआ साधु क्या सावधानी रखे इसकी भलावण देते हुए शास्त्रकार कहते है कि साधु ने सावद्य योग का त्याग किया है अतः सदा 18 पाप से बचने का पूरा-पूरा ध्यान रखें यह पहली भलावण है और दूसरी भलावण यह है कि पांच इन्द्रिय विषय अर्थात् शब्द रुप गंध रस और स्पर्श इन पांच काम गुणों में आसक्त न होता हुआ इन में मन को प्रतिबंधित नहीं करता हुआ, वैराग्य भाव को उपस्थित रखता हुआ, उदासीन भावों को पुष्ट करता हुआ, विचरे। -उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 32 गाथा 5

उपसंहार-

इस भाव वाली इस गाथा को दो सूत्र में स्थान मिला है। श्रुति पंरपरानुसार भगवान ने मोक्ष जाते समय जो 36 अध्ययन फरमाये उसके 32 वें अध्ययन की यह 5 वीं गाथा है। और उसी प्रकार अपने पुत्र मनक के लिये अल्प उम्र जानकर 14 पूर्वी शय्यंभवाचार्य ने सूत्रों का सार लेकर जो दशवैकालिक की रचना की उसकी दूसरी चूलिका में गाथा नं. 10 है।

दोनों चूलिकाएं विशिष्ट विषय पर है। पहली में। जो साधक संयम में अस्थिर चित्त हो जाय उसको स्थिर होने में पूर्ण सहाय रुप शिक्षा का ही कथन है इसलिए इसका नाम है- रतिवाक्य अर्थात् संयम में रुचि उत्पन्न कराने वाली शिक्षा।

दूसरी चूलिका का नाम है विविक्त चर्या इसमें गच्छ मुक्त होकर एकाकी विहार चर्या वालों का कथन है। वास्तव में दूसरी चूलिका में शुरु की गाथाओं में संयम की कुछ शिक्षाओं का कथन करके आगे की गाथाओं में यह विषय लिया है। दसवीं गाथा में दो भलावण देने के बाद आगे अन्य अनेक भलावणें दी है। क्योंकि अकेला होने के कारण उसे और तो कोई कहने वाला रहता ही नहीं। अतः खुद ही विशेष ध्यान रखे- उपरोक्त भलावण के बाद साधु इस बात का भी ध्यान रखे कि मास कल्प आदि मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं करे। अकेले में इसकी संभावना अधिक रहती है। तथा सदा सूत्र निर्दिष्ट मार्ग को समझ कर उसी अनुसार चलने का ध्यान रखे। सूत्र और उसका अर्थ जो आज्ञा दे उसी के अनुसार करे। रात्रि में सोते, उठते दोनों ही समय आत्म चिन्तन-धर्म जागरण करे। कितने गुण बढ़ाये? क्यो बढ़ाने हैं? क्या कर सकते हुए भी नहीं कर रहा हूं? क्या-क्या मेरे में दोष है? क्या मुझे दिखते और क्या दूसरों को देखते है? इस तरह सम्यक् चिन्तन कर स्खलनाओं को निकालने में जागरुक रहे। इत्यादि एकल विहारी के लिए बहुत भलावणें दी है। इसलिए इसका नाम भी मुख्य विषय के कारण ''विविक्तचर्या'' है। इन दो चूलिकायों का मिलकर सार यह हुआ कि किसी भी दुःख से घबराकर साधु संयम नहीं छोडे और यदि अकेले रहने से समाधि हो सके तो वैसा भी करले पर संयम छोडने का विचार तो नहीं करे। तथा अकेले रहने में अनेक खतरे रहते है अतः अच्छी तरह भलावणों शिक्षाओं के पालन का ध्यान रखें।

इस प्रकार की परिस्थितिक- निर्देश वाली अर्थ वाली एवं भलावण युक्त इस गाथा के विषय (अध्ययन) को आगम विहारी 9 पूर्वी जिनकल्पी आदि के लिये कहना आगम आशय नहीं समझ पाने की स्खलना से होता है या जबरदस्ती ठूंस देने की बुद्धि से हो सकता है कि 9 पूर्वी तो कोई साथी नहीं मिलने आदि की परिस्थिति से अकेले नहीं जाते हैं। अतः उनके लिये ऐसी परिस्थिति के अर्थ वाले और भलावण वाले प्रकरण को (जोड़ना) बहुत बड़े ढर्रे रुप भूल है। अतः इस गाथा के लिये और अन्य भी जो ऊपर अनेक एकल विहार चरिया के प्रसंग आचारंग सूत्र आदि के बताये हैं। उनके लिये 9 पूर्वी आदि का कहते रहना, प्ररुपणा करना, बुद्धिमानों के लिये योग्य नहीं है। और इसे आगमिक भी नहीं कहा जा सकता है। सुयगडांग सूत्र में तो अधाकर्मी आदि दोष प्रसंग से स्पष्ट कथन है कि आधाकर्मी आदि दोष लगे तो एकाकीपन की चाहना (अर्थात् स्वीकार) करे, परन्तु उस दोष संयुक्त अवस्था में न रहे। इस तरह एकाकीपन से भी मोक्ष हो सकता है, इसमें शंका न करे अर्थात् असत्य नहीं समझे। इस तरह भी मोक्ष होना सत्य है और (अपेक्षा से) अच्छा भी है। अतः कषाय रहित होकर सत्यता पूर्वक संयम में रत रहे। वह गाथा-

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमेक्खो न मुसं ति पास।
एसप्पमोक्खे अमुसे, वरे वि, अक्कोहणे सच्चरए तवस्सी।। -सुय. अ. 10 गा. 12

विनय धर्म में स्याद्वाद

इस तरह उपरोक्त आगम स्थलों को देखने से यही सहज समझा जा सकता है कि स्याद्वादमय जिनागम व जिनवाणी से एकांतिक रुप से साधु का अकेला विचरना निषिद्ध नहीं समझा जा सकता।

हालांकि निर्ग्रन्थ प्रवचन रुप यह भगवान का मार्ग विनय प्रधान धर्म है फिर भी इसके स्याद्वादमय होने से इसमें विनय से भी कहीं कभी सत्य, संयम समाधि और भगवदाज्ञा का अधिक महत्व रहता है। कई पच्चक्खाणों में महत्तरागार (बड़ों का आगार) भी नहीं होता है।

1. दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि रत्नाधिक के प्रति हमेशा विनय की प्रवत्ति रखें, फिर भी संयम की हानि न हो इसका भी पूरा ध्यान रखें। अ. 8 गा. 40

2. बृहत्कल्प सूत्र में किसी गलती या क्लेश के प्रसंग का आचार्य के पास में आलोचना प्रायश्चित करना कहा है। वहां यह भी कहा है कि यदि वह प्रायश्चित आगमानुसार हो तो लेवे। आगमानुसार न होवे तो नहीं लेवे अर्थात् इन्कार कर दे। ऐसा स्पष्ट मूल पाठ में है। वहां इसे कोई अविनय नहीं माना गया है।

3. व्यवहार सूत्र में- आचार्य- संलेखना संथारे आदि मृत्यु के निकट समय में शिष्यों को कह दे कि मेरे पीछे इसको आचार्य बनाना, इस विषय में आगे शास्त्राकार स्वयं कहते हैं कि वह योग्य लगे तो उसको आचार्य बनाना, नहीं योग्य लगे और दूसरा योग्य लगे तो उसको बनाना। इतना स्पष्ट मूल पाठ में है। नासमझू तो कह सकते हैं कि आचार्य की आज्ञा नहीं मानी, परन्तु भगवद् आज्ञा की सत्ता यह है कि- गलत कार्य करना गुरु आज्ञा से स्वीकार नहीं किया जाता, ऐसा उक्त पाठ से स्पष्ट हो जाता है।

4. ठाणांग सूत्र में अनेक कारण गच्छ छोड़ने के बताये गये हैं गुरु आज्ञा को नहीं मानना होगा तभी गच्छ छूटेगा। वहां बताया है कि- जो संयम ज्ञान की रुचि साधु को है वैसी अनुकूलता गच्छ में न हो। उसे सन्तोष न हो सके तो उस गच्छ को छोड़ सकता है। जहां सारणा वारणा विनय प्रतिपत्ति की व्यवस्था बराबर न हो, न्याय अन्याय सब चले, जिसके जो मन में आवे कर गुजरे, ऐसी अव्यवस्था दिखे, आगमानुसार धारणा प्रवृत्ति व्यवहार न हो तो उस गच्छ को छोड़ सकता है। इत्यादि अनेक कारण दिये हैं।

इस तरह विनय प्रधान और आज्ञा प्रधान धर्म होते हुए भी यह धर्म एकांतिक न होकर स्याद्वाद मय है। जो इन उपरोक्त 4 आगम स्थलों से अच्छी तरह समझा जा सकता है कि न्याय, सत्य, संयम, समाधि का महत्व विनय और गुरु आज्ञा से भी आगे बढ़ जाता है। इसमें भी कोई अविनय आशातना समझले या कह दे तो यही जानना कि उसे अभी निर्गन्थ प्रवचन विनय प्रधान होते हुए भी न्याय मार्ग है यह समझना शेष है।

आगम निरपेक्ष या आगम विपरीत गुरु आज्ञा और व्यक्ति महत्व को जिन शासन में स्थान नहीं है। गौतम स्वामी का कथन और समझ भी गलत हो सकता है और प्रायश्चित किया जाता है। इसलिए जिस विषय में शास्त्र प्रमाण स्पष्ट हो तो कोई भी बड़े से बड़े छद्मस्थ गुरु आचार्यादि का और परम्परा का उससे ज्यादा महत्व नहीं हो सकता। आगम तो सर्वोपरि है ही छोटे बड़े सब के लिये। गुरु आज्ञा और परम्परा को उससे उतार ही समझना चाहिए।

बहुश्रुत की परिभाषा–

निशीथ भाष्य पीठिका अंतिम गाथा में गीतार्थ के समान ही बहुश्रुत के तीन भेद और कठंस्थ श्रुत ज्ञान का कथन किया है अर्थात् इन दोनों की परिभाषा सरीखी की गई है।

संपूर्ण प्रमाणों का सारांश–

1. आगम सम्मत विशिष्ट परिस्थिति हो- ठाणांग और दो भाष्य के आधार से।

2. अन्य कोई अनुकू ल योग्य साथी का संयोग न हो - दशवैकालिक व उतराध्ययन।

3. तीन प्रकार में से कोई भी गीतार्थता या बहुश्रुतता हो - ठाणांग सूत्र व भाष्य के आधार से।

4. तीन वर्ष से कम दीक्षा पर्याय न हो 40 वर्ष से कम उम्र न हो - व्यवहार उद्देशा 3 के आधार से।

5. शरीर की ब्राह्य हर परिस्थिति में धैर्य रह सके। अकेले रहने में पूर्ण उत्साह और प्रसन्नता रह सके- ठाणांग 8 के आधार से तो वह भिक्षु दशवैकालिक निर्दिष्ट भलावण शिक्षाओं का ध्यान रखता हुआ एवं पालन करता हुआ अकेला विचरण कर सकता है।

6. कारण की समाप्ति होने पर एकल विहार छोड़ सकता है- अनेक टीका भाष्य के आधार से।

7. समर्थता न रहे तो एकल विहार छोड़ सकता है- व्यवहार सूत्र उद्देशा एक के आधार से।

8. दशवैकालिक उत्तराध्ययन- साथी अनुकूल योग्य मिल जाय तो एकल विहार छोड़ सकता है।

9. अन्यथा वृद्धावस्था व उम्र पर्यन्त भी एकल विहार में रह सकता है- व्यवहार उद्देशा 8 तथा उत्तराध्ययन 27 वां अध्ययन।

।। एकलविहार प्रमाण चर्चा सम्पूर्ण।।

भिक्षु की स्वतंत्र गोचरी

अनेकान्त मूलक इन जिन शासन के किसी भी विधान को एकान्त के आग्रह में नहीं डालना चाहिए।

तदनुसार अनेक आगम विधानों एवं वर्णनों से यह स्पष्ट है कि समूह में रहते हुए भी सामुहिक अथवा असामुहिक रुप से गोचरी लाना खाना साधु कर सकता है।

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन 5 उद्देशा एक में वर्णित आहार करने की विधि भी स्वतंत्र गोचरी की प्रमुखता से कही गई है।

आचारांग सूत्र के अनेक विधानों से भी स्वतंत्र गोचरी की पद्धति सिद्ध होती है। आगमों में वर्णित अनेक प्रकार के अभिग्रहों से एवं दत्ति परिमाण से की जाने वाली तपस्याओं से भी स्वतंत्र गोचरी की स्पष्टता होती है।

साध्वियों के द्वारा की गई सत्तसत्तमिया आदि भिक्षु प्रतिमाएं स्वतंत्र गोचरी की स्पष्टतः सिद्धि करने वाली है। स्वतंत्र गोचरी के बिना वे प्रतिमाएं नहीं हो सकती। इस प्रकार यहां से साध्वियों की स्वतंत्र व्यक्तिगत गोचरी भी सिद्ध है। तो साधु के लिए तो निषेध होने का प्रश्न ही नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29 में- कहें गए सम्भोग पच्चक्खाण और सहाय पच्चक्खाण के वर्णन स्वतंत्र गोचरी को एक विशिष्ट लाभकारी आनन्दकारी प्रवृति बताते हैं।

संसार मार्ग से स्याद्वाद के त्याग मार्ग में भिन्नता है। यहां पर समय पर सेवा का भी महत्व है, तो समय पर आहार संबंध अलग करना और सहायता लेने देने का त्याग करना भी एक महत्वशाली आचरण बताया गया है। अन्यत्र आगम में भी ऐसी प्रतिज्ञा है- चौभंगी भी आती है कि- कोई साधु खुद का काम करावे भी खुद भी करें, कोई दूसरों से करावें (अर्थात् सेवा ले) पर करे नहीं। कोई सेवा करे पर सेवा करावें नहीं और कोई सेवा करने कराने का सम्पूर्ण त्याग कर लेवे। आचा. 2 अ. 7 उ. और आचा. 1 अ. 8 उ. 5, 7 - तीन जगह ऐसी चौभंगी है।

आचारांग सूत्र अध्ययन 8 में सूचित चौभंगिये तो स्वतंत्र गोचरी की स्पष्टतः प्रेरक है।

धर्म रुचि अणगार, गौतमी स्वामी, अर्जुन माली के गोचरी के वर्णन तो स्वतंत्र गोचरी के क्रियात्मक (प्रेक्टिकल) उदाहरण है।

छः सगे भाईयों में दो-दो की स्वतंत्र गोचरी का उदाहरण भी अंतगड़ सूत्र में अत्यन्त प्रेरक ढंग से है।

आज परम्परा के नाम से स्वतंत्र गोचरी का निषेध किया जाता है और उसे अनुचित समझा जाता है। वह आगम विपरीत एवं एकान्त दृष्टि वाला प्ररुपण है। उससे अनेक अभिग्रह आदि के लाभ से साधकों को वंचित रखा जाता है।

एवं जिस पद्धति या परम्परा के आग्रह से आगमिक साधनाओं का विच्छेद होता हो तो उनका एकान्त आग्रह करना अनुचित भी होता है।

32 आगमों में सामुहिक और स्वतंत्र दोनों प्रकार की गोचरी का वर्णन है। ओघनिर्युक्ति में इसी बात का समर्थक वर्णन है। वहां यह बताया गया है कि कारण से ही माण्डलिक (सामुहिक) आहार किया जाता है किन्तु पूर्ण योग्य और कारणाभाव वाले सन्त स्वतंत्र गोचरी करते हैं- कारण इस प्रकार कहे हैं-

बाल, ग्लान, वृद्ध, पदवीधर, पाहुणे-साधु (नए आगन्तुक साधु) और तपस्वी आदि की सामुहिक गोचरी होती है। इन कारणों के अभाव में योग्य साधना प्रिय साधक स्वतंत्र एक-एक या दो-दो गोचरी करते हैं।

इस प्रकार वहां के विस्तृत वर्णन में सामुहिक गोचरी को आपवादिक व्यवस्था कही है और योग्यता सम्पन्न साधक आत्माओं के लिए स्वतंत्र गोचरी को विधि मार्ग बताया गया है जो आगम वर्णनों से भी अविरुद्ध हैं।

तात्पर्य यह है कि सेवा आदि कारणों के अतिरिक्त योग्य साधकों को अकेले या दो से स्वतंत्र गोचरी लाना निमंत्रण देना खाना अभिग्रह तप करना यह आगमिक विधि मार्ग है, ध्रुव मार्ग है तथा संयमोन्नति एवं एषणा शुद्धि का मार्ग है।

इसमें साधकों को आत्म संतुष्टी, संयमोन्नति, अभिग्रह पालन, तप वृद्धि, समय का बचाव, मौन साधना, समाधि साधना आदि साधनाओं का लाभ होता है। आगम कालीन पद्धति का पालन एवं पुनरूद्धार होता है। जिससे गच्छ में होने वाली छिन्न भिन्नता, टकराव, मनमुटाव में गच्छीय साधना में असन्तुष्टता आदि दोषों का निराकरण होता है।

आगम वर्णन अनुसार-

1. गौतम स्वामी अपने बेले का पारणा लेने स्वयं अकेले जाने एवं खाने में कोई अपमान या अव्यवाहारिक नहीं समझते।

2. धर्म रुचि अणगार गुरु के साथ रहे हुए मास खमण का पारणा स्वयं लावे तो भी आत्म कल्याण रुकता नहीं है।

3. नवदीक्षित अर्जुन माली का बेले के पारणे में स्वयं जाना एवं महान् कर्मों की निर्जरा करना भी एक अनुपम आदर्श है।

4. कृ ष्ण के 6 भाई मुनि के अलग-अलग गोचरी जाने का वर्णन यह सिद्ध करता है कि-

जिसे आज का मानव या संसार-व्यवहार अवगुण रुप देखना चाहता है उसे ही आगम में साधु के लिए विशिष्ट साधना माना गया है।

संसार व्यवहार में सामुहिकता आदर्श गिनी जाती है तो साधना जीवन में असामुहिकता आदर्श कही गई है। साधु का दूसरा मनोरथ ही एकल विहार चर्या रुप बताया गया है। तथा यत्र-तत्र आगमों में आत्मा को एकत्व से भावित करने की प्रेरणा की गई है। सामुहिक गोचरी में और उसमें भी ज्यादा समूह इकट्ठा होने में आहार एवं पानी में अनेक सूक्ष्म या स्थूल दोष लगने की संभावना रहती हैं।

जबकि स्वतंत्र गोचरी और स्वतंत्र एकल विहार का एकान्त निषेध अपना लिया जाता है तो गुण वर्धक एकल विहार और स्वतंत्र गोचरी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और अवगुण रुप स्वच्छन्दों का मार्ग तो विरोध करने पर भी नहीं रुकता है। इसी के फलस्वरुप जिनशासन में स्वच्छन्द विहार की वृद्धि होती रहती है।

यदि पहले से ही सुन्दर विधि विधानों के साथ आगम चिन्तनपूर्वक आगम सम्मत स्वतंत्र विहार एवं स्वतंत्र गोचरी को अवरुद्ध न करके साधको को अवसर दिया जाए तो दूषित तत्वों का मार्ग अवरुद्ध होगा और योग्य साधकों का आज्ञापूर्वक मार्ग खुलेगा जिससे जिन शासन में शुद्ध तत्वों की संख्या बढ़ेगी और अशुद्ध तत्वों की संख्या रुकेगी।

प्रत्येक प्रावधान व्यवस्थाओं में लाभ और हानि दोनों अलग-अलग अंश में निहित होते हैं। अपेक्षित हानि या लाभ के बिना कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती है। तब फिर किसी भी आगम सम्मत समाधिकारक साधना को विकसित करने वाली चित्त समाधि की प्रवृत्तियों का हानि के नाम से एकान्त निषेध करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

स्वतंत्र गोचरी और स्वतंत्र विहार की योग्यता-

* तीन वर्ष की दीक्षा हो,
* आचारांग निशीथ का धारक अर्थात् गीतार्थ या बहुश्रुत हो,
* धैर्यवान, गम्भीर, शान्त-स्वभावी हो,
* प्रिय भाषी और मर्यादित भाषी हो,
* गवैषणा की परीक्षा में उत्तीर्ण हो,
* किसी भी पदार्थ में प्रतिबद्ध न हो, आसक्ति न हो कोई भी व्यसन न हो,
* सदा कोई अभिग्रह धारण करके गोचरी जावे,
* दूसरों के लिए तिरस्कार पूर्ण व्यवहार एवं भाषा का प्रयोग नहीं करने वाला,
* छेद सूत्र के विवेचन का कम से कम दो बार वाचन किया हो,
* नियमित स्वाध्याय करे, बेकार समय व्यतीत न करें,
* सेवा की आवश्यकता होने पर आज्ञा प्राप्त होते ही तत्पर रहने वाला,
* श्रद्धा प्ररुपणा में आगम निरपेक्ष बुद्धि न हो।
* गृहस्थों एवं अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के प्रति सद्भावना एवं सहृदयता हो।
* उत्सर्ग अपवाद का विवेकपूर्वक निर्णय कर सकने वाला हो।
* आगम सम्मत प्रायश्चित स्वीकार करने की सरलता हो।
* ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के सभी नियम उपनियमों में उत्तीर्ण हो।
* महिने में कम से कम चार दिन तपस्या करे। (आयम्बिल, निवी, उपवास)
* औषध सेवन नहीं करे, सदा विशेष विगय सेवन नहीं करे। विशेष कारण बिना मक्खन शहद न लेवे और सकारण ले तो मर्यादा (1 -2 तोला) से अधिक न लें।
* स्वास्थ्य संबंधी नियम उपनियम आहार विहार का अनुभवी हो।
* विनय सहित अर्ज कर स्वतंत्र गोचरी की आज्ञा प्राप्त करना।
* आपवादिक परिस्थिति में अल्प योग्यता वाला भी गीतार्थ की आज्ञा से एक चर्या धारणकर सकता है।

साधु का दूसरा मनोरथ-

गच्छ मुक्त होकर एकल विहारचर्या धारण करे।

परिशिष्ट

चुनिंदा उपदेशी गाथाएं एवं अर्थ (सूत्रकृतांग सूत्र)-

बुज्झेज्जत्ति तिउट्टेज्जा, बंघणं परिजाणिया।
किमाह बंधण वीरो, किं वा जाणं तिउट्टेइ? (1-1-1)

चित्तमंतमचितं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई।। (2)

सयंऽतिवायए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वा अणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो।। (3)

बोधि को प्राप्त करों, बंधनों को जानकर उसे तोड़ डालो। प्रश्न उपस्थित होता है कि महावीर ने बंधन किसे कहा है? किस तत्त्व को जान लेने पर बंधन तोड़ा जा सकता है?

समाधान-

जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों में परिग्रह बुद्धि (ममत्व) रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

जो प्राणी वध करता है, कराता है, एवं प्राणि वध का अनुमोदन करता है वह संसार की वृद्धि करता है। इसलिये आरंभ (वध) और मूर्छा ममत्व (परिग्रह) का त्याग करना यही संसार बंधनों से छूटने का उपाय है। आरंभ और परिग्रह ये ही संसार में कर्म बंधन को बढ़ाने वाले है।

एवं खुणाणिणो सारं, जंण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावतं वियाणिया।।1-4-85।।

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करे, समता और अहिंसा इन्हे ही उसे जानना समझना पर्याप्त जरुरी है।

संबुज्झह किं ण बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं।।2-1-1।।

संबोधि प्राप्त करो, बोधि को प्राप्त क्यों नहीं होते, जो वर्त्तमान में सम्बोधि को प्राप्त नहीं होते, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती । बीती हुई रात्रियां लौटकर नहीं आती, जीवन सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः सांधना (जोड़ना) सुलभ नहीं हैं।

जहा णई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि णारिओ, दुत्तरा अमइमया।।3-4-16।।

जैसे वैतरणी नदी (विषम तट और तेज प्रवाह के कारण) दुस्तर मानी जाती है, वैसे ही अबुद्धिमान अज्ञानी पुरुषों के लिए स्त्रियां दुस्तर होती है।

खेयण्णए से कुसले महेसी, अणंतनाणी य अणंतदंसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेह।।6-3।।

से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ।।6-5।।

ज्ञात पुत्र आत्मज्ञ खेद कुशल महर्षि अनन्त ज्ञानी अनंतदर्शी थे, उन यशस्वी और आलोक पथ में स्थित ज्ञातपुत्र के धर्म को जानो और उनकी धृति को देखो। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, विशुद्ध भोजी, धृतिमान और स्थितात्मा थे, अनुत्तर विद्वान, अपरिग्रही, अभय और अनायु (जन्म-मरण के चक्र से रहित) थे।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायुपुत्ते।।6-23।।

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पावण कारवेइ।।6-26।।

सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं, समाहियं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्सं।।6-29।।

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जेय बुद्धा अण्णागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा।।11-36।।

जो बुद्ध (तीर्थंकर) हो चुके हैं, और जो होंगे, उनका सबका सिद्ध बुद्ध होने का मूल आधार शान्ति है, जैसे जीवों का आधार पृथ्वी है।

सद्देसु रुवेसु असज्जमाणे, रसेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणामिकं खी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के।

जो शब्दों, रुपों, रसो और गंधों में रागद्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता इन्द्रियों का संवर करता है, वह वलय (संसार चक्र) से मुक्त हो जाता है।

समेच्च लोगं तस थावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं साहयति तहच्चे।।

12 प्रकार की तप साधना द्वारा श्रम करने वाले श्रमण, जीवों को मत मारो, का उपदेश देने वाले माहण केवल्य द्वारा समग्र लोक को एवं त्रस स्थावर जीवों को यथावस्थित जानकर हजारों लोगों के बीच में उपदेश करते हुए भी भगवान एकान्तसेवी (रागद्वेष से रहित) की साधना में रत है।

।। सूयगडांग सूत्र परिशिष्ट समाप्त।।

चार छेद सूत्र

प्रस्तावना

(1) निशीथ सूत्र :

यह आचारांग सूत्र का अध्ययन है। कालान्तर से यह विभाग आचारांग से अलग किया गया है। अतः गणधर के अतिरिक्त इसका कोई रचियता नहीं है। तथापि इतिहास के भ्रमकारक वातावरण से इसके रचियता-1. भद्रबाहु स्वामी या आर्य रक्षित या विशाखागणि भी कह दिए जाते हैं , किन्तु ये कथन सत्य से दूर है विशेष जानकारी हेतु देखें आगम समिति, ब्यावर से प्रकाशित छेद सूत्र में व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र का विवेचन।

इस सूत्र पर द्वितीय भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति नामक व्याख्या की है।

सूत्र और निर्युक्ति के आधार पर भाष्य नामक व्याख्या आचार्य सिद्धसेन गणि ने की। ऐसा चूर्णिकार ने अनेकों बार निर्देश किया है। मतांतर से आचार्य संघदास गणि भी कहे जाते हैं किंतु यह कथन महत्त्वशील नहीं है।

सूत्र और निर्युक्ति एवं भाष्य गाथाओं के आधार पर चूर्णि नामक व्याख्या आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने की।

चूर्णि सहित भाष्य निर्युक्ति का प्रकाशन 'आगरा' से हुआ जिसके सम्पादक उपाध्याय कवि पं. रत्न श्री अमरमुनिजी एवं पं.रत्न श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल' हैं।

उक्त तीनों व्याख्याएं प्राकृत भाषा में है। जिसमें चूर्णि गद्यमय व्याख्या है और भाष्य निर्युक्ति गाथा मय व्याख्या है।

निर्युक्तिकार वीर निर्वाण के ग्यारहवीं शताब्दी में हुए है। इन निर्युक्तिकार के भाई वराहमिहिर थे। उन्होंने 'वराही संहिता' ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसका रचना समय अंकित है उसी संवत् के आधार से इन भद्रबाहु स्वामी और वराहमिहिर का समय ज्ञात होता है जो विक्रम की छठ्ठी शताब्दी का और वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी अर्थात् देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण के 30-40 वर्ष बाद का अर्थात् विक्रम संवत् 562 का समय है।

तदनन्तर विक्रम की सातवीं सदी में भाष्यकार एवं करीब आठवीं सदी में चूर्णिकार के होने का समय है।

इस प्रकार इस सूत्र का व्याख्या साहित्य भी कम से कम 1300 वर्ष प्राचीन है।

(2) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र :

इसके रचनाकार चौदह पूर्वधर आर्य भद्रबाहु स्वामी है, जिनका स्वर्गवास का समय वीर निर्वाण के 170 वर्ष बाद का है।

निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु स्वामी ने इस सूत्र की निर्युक्ति व्याख्या की है। जिसकी प्रथम गाथा में उन्होंने सूत्रकार श्री प्राचीन भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार किया है उस निर्युक्ति गाथा की व्याख्या चूर्णिकार ने भी की है। जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि निर्युक्तिकार यहां आदि मंगल के लिए सूत्रकार श्री प्रथम भद्रबाहु स्वामी (चौदह पूर्वी) को नमस्कार करते हैं।

उस निर्युक्ति गाथा और उसकी चूर्णि व्याख्या से निर्युक्तिकार और सूत्रकार भद्रबाहु स्वामी का भिन्न-भिन्न होना स्पष्ट है।

इस सूत्र पर आचार्य जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि व्याख्या है। जिसका समय निशीथ चूर्णि वत् समझें। इसका प्रकाशन भावनगर से हुआ है, संपादन मुनि श्री मणिविजयजी गणि ने किया है।

(3-4) बृहत्कल्प - व्यवहार सूत्र :

इस सूत्र द्वय के रचनाकार (निर्यूहण करने वाले) आर्य भद्रबाहु स्वामी है जो चौदह पूर्वधारी हुए हैं।

इन सूत्रों के निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु स्वामी वराहमिहिर के भाई वीर निर्वाण ग्यारहवीं सदी में अर्थात् विक्रम की छठ्ठी सदी (562) में हुए है।

भाष्यकार आचार्य सिद्धसेन गणि हुए हैं जो भाष्यकार जिन भद्रगणि के निकट के ही सम्बन्धी अर्थात् शिष्य आदि थे।

इन सूत्रों पर आचार्य मलयगिरि द्वारा की गई 'टीका' नामक व्याख्या है। बृहत्कल्प सूत्र पर श्री मलयगिरी की टीका अपूर्ण है जिसे आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने बड़ी योग्यता के साथ पूर्ण की है।

निर्युक्ति भाष्यकार का समय निशीथ के समान जानना। दोनों टीकाकारों का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का है।

बृहत्कल्प सूत्र का प्राचीन नाम सूत्रों में एवं ग्रंथों में 'कप्पसुत्त' ही रहा है।

बृहत्कल्प भाष्य टीका का प्रकाशन भावनगर से हुआ है। संपादन कार्य मुनि श्री चतुर्विजय जी एवं श्री पुण्यविजयजी ने किया है।

व्यवहार भाष्य टीका का प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है जिसका संपादन मुनि श्री माणेक मुनि ने किया है।

इन चारों सूत्रों का हिन्दी विवेचन युक्त प्रकाशन आगम प्रकाशन समिति, व्यावर से हुआ है। उसके पूर्व आज तक इन छेद सूत्रों के हिन्दी विवेचन का प्रकाशन कहीं से भी नहीं किया गया है।

परिचय तालिका :

	सूत्र कर्ता	निर्युक्ति कर्ता	निर्युक्ति कर्ता का समय
निशीथ सूत्र	गणधर सुधर्मा (आचारांग का अध्ययन होने से)	द्वितीय भद्रबाहु (वराहमिहिर के भाई)	देवर्धिगणि के बाद वीर निर्वाण ग्यारहवीं शताब्दि विक्रम की छट्ठी शताब्दि (562)
तीन छेद सूत्र	चौदह पूर्वी भद्रबाहु स्वामी	द्वितीय भद्रबाहु (वराहमिहिर के भाई)	देवर्धिगणि के बाद वीर निर्वाण ग्यारहवीं शताब्दि विक्रम की छट्ठी शताब्दि (562)
	भाष्यकर्ता	**भाष्यकर्ता का काल**	
निशीथ सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	जिनभद्र गणि के शिष्य अथवा श्रद्धावान स्तुति कर्ता	
बृहत्कल्प सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	विक्रम की सातवीं शताब्दि के उतरार्ध में	
व्यवहार सूत्र	आचार्य सिद्धसेन गणि	वीर निर्माण 12 वीं शताब्दि	
	चूर्णिकर्ता	**चूर्णिकर्ता का काल**	
निशीथ सूत्र	जिनदास गणि महत्तर	विक्रम की आठवीं शताब्दि	
दशाश्रुतस्कंध सूत्र	जिनदास गणि महत्तर	वीर निर्माण की 13वीं शताब्दि	
	टीका कर्ता	**टीका कर्ता का समय**	
बृहत्कल्प सूत्र	आ. मलयगिरी एवं आ. क्षेमकीर्ति	विक्रम की तेरहवीं शताब्दि	
व्यवहार सूत्र	मलयगिरि आचार्य	विक्रम की तेरहवीं शताब्दि	

निशीथ सूत्र का परिचय

अनिवार्य कारणों से या कारणों के बिना संयम की मर्यादाओं को भंग करके यदि कोई स्वयं आलोचना करे तब किस दोष का कितना प्रायश्चित होता है यह इस छेद सूत्र का विषय है।

पहले उद्देशक में गुरुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।

उद्देशक 2 से 5 तक में लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।

उद्देशक 6 से 11 तक में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।

उद्देशक 12 से 19 तक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।

बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने एवं उसे वहन करने की विधि कही गई है।

अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार की शुद्धि आलोचना और मिच्छामि दुक्कड़ के अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार दोष के सेवन का ही निशीथ सूत्रोक्त प्रायश्चित्त होता है।

यह स्थविर कल्पी सामान्य साधुओं की मर्यादा है।

जिनकल्पी या प्रतिमाधारी आदि विशिष्ट साधना वालों को अतिक्रम आदि का भी निशीथ सूत्रोक्त गुरु प्रायश्चित्त आता है।

1. लघुमासिक प्रायश्चित्त जघन्य एक एकासना उत्कृष्ट 27 उपवास है।
2. गुरुमासिक प्रायश्चित्त जघन्य एक निवी (दो एकासना) उत्कृष्ट 30 उपवास है।
3. लघुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक आयम्बिल (या एक एकासना) उत्कृष्ट 100 उपवास है।
4. गुरुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक उपवास (चार एकासना) उत्कृष्ट 120 उपवास
5. उक्त दोषों के प्रायश्चित्त स्थानों का बारम्बार सेवन करने पर अथवा उनका सेवन लम्बे समय तक चलता रहने पर तप प्रायश्चित्त की सीमा बढ़ जाती है जो कभी दीक्षा छेद तक भी बढ़ा दी जाती है।
6. कोई बड़े दोष को गुप्त रूप में सेवन करके छिपाना चाहे किन्तु कभी कोई उस दोष को सिद्ध करके प्रायश्चित्त दिलवावे तो दीक्षा छेद का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है।
7. दूसरे के द्वारा सिद्ध करने पर भी अत्यधिक झूठ-कपट करके विपरीत आचरण करे और मजबूर करने पर सरलता से स्वीकार करके प्रायश्चित्त ले तो नई दीक्षा का प्रायश्चित्त दिया जाता है।
8. यदि दुराग्रह से सरलता स्वीकार न करें तो गच्छ से निकाल दिया जाता है।

ऐतिहासिक ज्ञानः

यह सूत्र आचारांग सूत्र का ही एक विभाग है। गणधर के अतिरिक्त इसके कोई प्ररूपक (रचियत्ता) नहीं है। किसी अज्ञात आचार्य ने इसे निशीथ रूप में पृथक् किया है। व्यवहार सूत्र में साधु-साध्वियों, आचार्यों, उपाध्यायों आदि को इस सूत्र का कंठस्थ करना आवश्यक बताया गया है। व्यवहार सूत्र चौदह पूर्वी भद्रबाहु स्वामी रचित है। उसमें साध्वियों को यह सूत्र कंठस्थ करना आवश्यक कहा है। अतः इसे पूर्वो से उद्धृत मानने की कल्पना अनुचित है। क्योंकि व्यबहार सूत्र के

पूर्व भी इस सूत्र का अस्तित्त्व था एवं तीर्थंकर के शासन के प्रत्येक साधु-साध्वी को कंठस्थ करना आवश्यक होने से सर्वज्ञ-शासन के प्रारंभ से ही यह सूत्र विद्यमान था। अतः इस सूत्र का गणधर ग्रथित आचारांग के अध्ययन रूप होने का जो वर्णन सूत्रों में, व्याख्याओं में और ग्रन्थों में मिलता है, उसे ही सत्य समझना उचित है। अन्य कल्पनाओं को महत्व देना आगम सम्मत नहीं है।

इसलिए चार छेद सूत्रों में भी इसका प्रथम स्थान है। उसके बाद क्रमशः दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र का स्थान है।

- आगम पुरुष की रचना करने वाले पूर्वाचार्यों ने और पेंतालीस आगमों का संक्षिप्त परिचय लिखने वाले मूर्तिपूजक विद्वानों ने भी निशीथ सूत्र को छह छेद सूत्रों में प्रथम कहा है।

व्यवहार सूत्र के 10 वें उद्देशक में कहे गये पाठ्यक्रम में तीन वर्ष की दीक्षा वाले को निशीथ सूत्र और पांच वर्ष की दीक्षा वाले को दशा-कप्प व्यवहार के अध्ययन करने का कथन किया है।

व्यवहार सूत्र में 16 स्थान पर निशीथ को 'आचार प्रकल्प' या आचार प्रकल्प अध्ययन' कहा है।

निशीथ सूत्र यह नाम बहुत बाद में दिया गया होने से चौदह पूर्वी भद्रबाहु स्वामी एवं गणधर ग्रंथित आगमों में इसका उल्लेख नहीं है। 'निशीथ अध्ययन' ऐसा उल्लेख आचारांग के अध्ययन रूप में समवायांग सूत्र की कई प्रतियों में मिलता है।

निष्कर्ष यह है कि 'निशीथ अध्ययन' नाम आचारांग के एक अध्ययन का था और जब इसे अलग किया तब आचारांग से अलग किया हुआ होने से इसे 'आचार प्रकल्प' कहा गया और कालान्तर में अध्ययन के नाम के साथ 'सूत्र' जोड़ दिया गया तब यह 'निशीथ सूत्र' कहा जाने लगा।

व्यवहार सूत्र का संकलन होने के पूर्व यह अध्ययन अलग कर दिया गया था और नन्दी सूत्र के संकलन समय तक इसका नाम 'आचार प्रकल्प' की जगह 'निशीय सूत्र' हो गया था। इसीलिए नन्दी सूत्र में निशीथ सूत्र ही नाम है। 'आचार-प्रकल्प' नाम नहीं जबकि व्यवहार सूत्र में 'निशीथ सूत्र' यह नाम ही नहीं है किन्तु अनेक प्रकार के आगमों के कंठस्थ करने के विधानों में सोलह वार 'आचार प्रकल्प' नामक सूत्र का उल्लेख किया गया है।

निर्युक्ति, भाष्य, टीका आदि व्याख्याकारों ने निशीथ सूत्र को अथवा आचारांग सहित निशीथ अध्ययन को 'आचार प्रकल्प' नाम से ग्रहण किया है।

अतः इसे आचारांग सूत्र का अध्ययन कहो, आचार प्रकल्प कहो या आचार प्रकल्प अध्ययन अथवा निशीथ सूत्र कहो सभी निशीथ सूत्र के पर्यायवाची नाम हैं। इनकी संख्या पांच है, यथा :

1. आचारांग सूत्र का अध्ययन - 'निसीहज्झयणं

2. आचार प्रकल्प अध्ययन

3. आचार प्रकल्प (सूत्र)

4. निशीथ सूत्र

5. आचारांग सूत्र की पंचम चूला।

इस प्रकार समय-समय पर परिवर्तित नाम वाला यह शास्त्र है। नन्दी रचना के बाद इसका नाम ' निशीथ सूत्र' यह निश्चित हो गया है।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र का परिचय

इस सूत्र को आगमों में 'दसा' एवं 'आयार दसा' नाम से कहा गया है। इसके दस अध्याय हैं उन्हें भी प्रथम दशा आदि कहा जाता है। प्रत्येक दशा में संख्या के निर्देश के साथ एक-एक विषय का प्ररूपण है। जिनमें अधिकतर साधु के आचार शुद्धि के प्रेरणात्मक विषय है, साथ ही अनुपम उपलब्धि से आत्म आनन्द प्राप्ति, संघ व्यवस्था, श्रावक के उच्च जीवन सम्बन्धी विषय भी है।

पांच दशाओं में संयम के निषिद्ध विषयों का कथन है यथा -

20 असमाधि स्थान (दोष)	दशा. 1
21 सबल दोष	दशा. 2
33 आशातना	दशा. 3
30 महामोहबंध स्थान	दशा. 6
9 निदान	दशा. 10

दो दशाओं में विधि प्रेरणा विषयों का कथन है-

1. भिक्षु की 12 पडिमाएं	दशा. 7
2. चातुर्मास समाचारी	दशा. 8

नोट- वर्तमान में यह आठवीं दशा प्रक्षिप्तों परिवर्धनों से व्याप्त होकर कल्प सूत्र के नाम से स्वतन्त्र बनकर प्रसिद्ध है। अतः यह दशा रिक्त-व्यवच्छिन्न प्रायः है।

संघ व्यवस्था का विषय एक दशा में है-

आचार्य की आठ सम्पदा और चार कर्तव्य एवं शिष्य के चार कर्तव्य। चौथी दशा.

आत्मानन्द के विषय का कथन एक दशा में है-

10 चित्त समाधि स्थान।   पांचवी दशा.

श्रावक के उच्च जीवन का कथन एक दशा में है-

11 श्रावक प्रतिमा।   छट्ठी दशा.

इस प्रकार इस सूत्र का प्रतिपाद्य विषय आचार प्रधान होने से इसका सूत्रोक्त (ठाणांग 10) ' आचार दशा' नाम सार्थक है।

वर्त्तमान में अज्ञात काल से इस सूत्र का नाम 'दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र' इस प्रकार प्रसिद्ध है।

बृहत्कल्प सूत्र का परिचय

इस सूत्र में कल्प्य अकल्प्य विषयों का कथन **'कप्पइ' 'नो कप्पइ'** क्रिया से किया गया है। इसलिए इसका आगमिक संक्षिप्त नाम **'कप्पो या कप्प'** है।

''कप्प'' शब्द से नन्दी सूत्र की श्रुत सूची में तीन सूत्र कहे गए हैं 1. कप्प 2. चुल्ल कप्पो 3. महाकप्प।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र की आठवीं दशा का नाम भी **''कप्पो या पज्जोसवणा कप्पो''** कहा गया है।

इनमें से नन्दी सूत्रोक्त प्रथम 'कप्प' नामक सूत्र ही यह बृहत्कल्प सूत्र है। शेष दो कल्पसूत्र और आठवीं दशा रूप कल्प अध्ययन यों इन तीनों के मिश्रण से एक स्वतंत्र कल्पसूत्र (वारसा सूत्र या पवित्र कल्पसूत्र) बनाकर प्रसिद्ध कर दिया गया है। जो तेरहवीं चौदहवी विक्रम सदी का प्रयत्न है।

इसी कारण इस मौलिक कल्प सूत्र का **'बृहत्कल्प'** नामकरण वर्तमान काल में प्रसिद्ध हुआ है। प्राचीन व्याख्याकारों ने 'बृहत्कल्प सूत्र' यह नाम किसी भी व्याख्या में नहीं कहा है अर्थात् टीकाकार मलयगिरि आचार्य के बाद नए कल्पसूत्र (बारसा सूत्र) के निर्माण हो जाने के कारण भ्रम निवारणार्थ इस सूत्र का नाम 'बृहत्कल्प सूत्र' दिया गया है अतः यह प्रचलित नाम अर्वाचीन है।

इस सूत्र का सम्पूर्ण विषय साधु-साध्वी के आचार की प्रमुखता को लक्ष्य करते हुए हैं। अर्थात् इसमें विधि-निषेध एवं प्रायश्चित्त सूचक कथन है। संघ प्रमुखों तथा सिंघाड़ा प्रमुखों की जानकारी योग्य विषय ही अधिक है। फिर भी सामान्यतया सभी साधु साध्वियों के अध्ययन योग्य यह शास्त्र है क्योंकि तीन वर्ष की दीक्षा के बाद प्रत्येक प्रज्ञावान साधु यथावसर सिंघाड़ा प्रमुख बन विचरण करता ही है।

व्यवहार सूत्र का परिचय

चार छेद सूत्रों में यही एक ऐसा सूत्र है कि जिसके नाम में और इसके इतिहास में प्रारम्भ से अन्त (आज) तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः इसका यह ' व्यवहार सूत्र'

नाम आगम, व्याख्या एवं अन्य आदि से सर्व सम्मत नाम है।

इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है कि व्यवहारिक विषयों का सूत्र अर्थात् गच्छ-व्यवहार, संघ-व्यवहार आदि व्यवस्थाओं की सूचनाओं वाला शास्त्र।

इसमें कुछ साध्वाचार का विषय भी है। वह भी व्यवस्थापरक अधिक है अतः यह एक संघ व्यवस्था सूचक शास्त्र है।

व्याख्याकारों ने इसे प्रायश्चित्त परक शास्त्र भी कहा है जिसकी सार्थकता प्रथम उद्देशक के 18 सूत्र से है।

इस सूत्र के प्रमुख विषय :

1. परिहार तप और पारिहारिक साधु की व्यवस्था।

2. गच्छ त्यागी अकेले या शिथिलाचारी साधुओं के पुनः गच्छ में आने सम्बन्धी व्यवस्था।

3. विचरण व्यवस्था एवं आचार्यादि के साथ साधु-साध्वी की आवश्यक संख्या।

4. आचार्य उपाध्याय पद देने के योग्यायोग्य की एवं अन्य परिस्थितियों की सूचनाएं।

5. अध्ययन, अध्यापन की व्यवस्थाएं एवं चेतावनीएं।

6. साधु-साध्वी के परस्पर व्यवहार विवेक व्यवस्था।

7. दीक्षा एवं सेवा सम्बन्धी व्यवस्था।

8. स्वाध्याय एवं क्षमापना करने की व्यवस्था।

9. मृत साधु के प्रति परिष्ठापन कर्तव्य।

10. आहार एवं गवेषणा सम्बन्धी तथा शय्यातर सम्बन्धी निर्देश।

11. अभिग्रह पडिमाओं की विधिएं।

दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार इन तीन सूत्रों का पूर्वो से निर्यूहण कर स्वतंत्र सूत्र रूप में संकलन किया गया है अतः इन तीनों सूत्रों के मूलभूत रचियता गणधर सुधर्मा है एवं प्रस्तुत सूत्र रूप में उद्धारकर्ता चौदह पूर्वी आचार्य भद्रबाहुस्वामी हैं।

प्रायश्चित्त-विज्ञान

प्रायश्चित्त तालिका

पराधीनता में या आपवादिक स्थिति में लगने वाले दोषों का प्रायश्चित्त

क्रम	प्रायश्चित्तनाम	जघन्य तप	उत्कृष्ट तप
1.	लघुमासी	एक एकासना	सत्तावीस एकासना
2.	गुरुमासी	एक निर्विकृतिक (निवी)	तीस निर्विकृतिक (निवी)
3.	लघु चौमासी	एक आयंबिल	एक सौ आठ उपवास
4.	गुरु चौमासी	एक उपवास	एक सौ बीस उपवास (पांच वर्ष में)

आसक्ति या शिथिल विचारों से लगने वाले दोषों का प्रायश्चित -

क्रम	प्रायश्चित्तनाम	जघन्य तप	उत्कृष्ट तप
1.	लघुमासी	एक आयंबिल	सत्तावीस आयंबिल या उपवास
2.	गुरुमासी	एक उपवास	तीस आयंबिल या उपवास
3.	लघु चौमासी	चार आयंबिल	एक सौ आठ उपवास
4.	गुरु चौमासी	चार उपवास	एक सौ बीस उपवास (पांच वर्ष में) या चार मास का छेद

विराधना के कुछ प्रायश्चित्त-

(1) पृथ्वीकाय आदि के स्पर्श का एक उपवास। 2. उस पर चलने या कुचलने का चार उपवास। 3. खाने का एक बेला।

(2) इसी प्रकार पानी, अग्नि, वनस्पति का भी समझ लेना चाहिए और अनंतकाय का जघन्य एक बेला समझना।

(3) वर्षा के गंदे पानी में चलना पड़े तो एक उपवास, स्वच्छ पानी हो तो चार उपवास, फूलण युक्त हो तो एक बैला। यह दो चार दस कदम चलने का प्रायश्चित्त है।

(4) यदि 40-50 कदम चलना पड़े तो क्रमशः चार उपवास, बेला और तेला प्रायश्चित आता है।

(5) सहसा या अनाभोग (अनजान) से स्थावर की विराधना का आलोचना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। आभोग पूर्वक (जानकर) अत्यल्प विराधना का एक उपवास है। उससे अधिक का चार उपवास और उससे अधिक का एक बेले या तेले का प्रायश्चित्त आता है।

इसके बाद अधिक लंबे समय तक दोष के लगते रहने पर या विराधना की मात्रा बढ़ने

पर चौला पंचोला अथवा 30-40-50 उपवास आदि की वृद्धि होती है।

विराधना के साथ गृहस्थ सेवा आदि अनेक दोष के एक साथ मिलने पर अर्थात् आपरेशन आदि के समान अनेक दोषों के सम्मिलित हो जाने पर तथा अधिक समय तक दोष के चलते रहने पर 120 उपवास का प्रायश्चित्त होता है।

इन्हीं दोषों की सीमा व्यवहार से कुछ आगे बढ़ जाने पर या अन्य बड़े दोष वाहन प्रयोग आदि शामिल हो जाने पर और दोष का सेवन 4 मास से भी अधिक समय तक होने पर छः मासी प्रायश्चित्त अर्थात् उत्कृट 180 उपवास का प्रायश्चित्त हो जाता है।

दिवस संबंधी सकारण के अनेक दोष विराधनाओं का एक साथ प्रतिक्रमण में 1 उपवास का प्रायश्चित्त आता है एवं प्रमाद शिथिलाचार के हो तो सबका 5 उपवास का प्रायश्चित्त आता है। ये प्रायश्चित्त नित्य की क्रिया समाचारी संबंधी है।

छेद प्रायश्चित्त-

(1) उक्त दोषों की स्थिति में अत्यधिक लोकापवाद हो और दोष सेवन करने वाले के परिणाम संयम शिथिलता के एवं स्वच्छंदता के हो तो छेद प्रायश्चित्त आता है।

(2) 1. मूल गुण के दोषों का बारंबार सेवन करने से या अत्यधिक लंबे समय तक दोष सेवन करने से। 2. अकारण अपवाद सेवन करने पर। 3. मूल गुणों में ही दोष के सेवन से अधिक लोकनिंदा होने पर। 4. अनुशासन के अत्यधिक भंग करने पर। 5. स्वच्छंदता या स्वच्छंद प्ररूपणा करने पर। 6.आचार्य गुरु आदि की अत्यधिक आशातना करने पर।

इत्यादि परिस्थितियों में प्रायश्चित्त दाता को उचित लगने पर छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है अन्यथा तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है।

(3) अगीतार्थ साधु साध्वी को पहले एक दो बार चेतावनी (वार्निंग) दिये बिना छेद प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

(4) स्वयं के द्वारा सरलता पूर्वक आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करने पर दूसरों के द्वारा दोष प्रकट करके एवं प्रमाणित करके प्रायश्चित्त दिलवाने पर छेद प्रायश्चित्त ही आता है।

दूसरों के द्वारा दोष सिद्ध करने पर भी जो बहुत बार माया आदि करे, भूल स्वीकार नहीं करे उसके बाद दोष स्वीकार करे तो उसे ' मूल' प्रायश्चित्त आता है। अर्थात् नई दीक्षा दी जाती है।

एवं अंत तक भी जो सरलता धारण न करे तो उसे गच्छ से निकाल दिया जाता है एवं कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

निशीथ - सूत्र

प्रथम उद्देशक का सारांश- (दोषों की तालिका)

सूत्र 1- हस्तकर्म करना।

सूत्र 2-8- अंगादान का अर्थात् जननेंद्रिय का संचालन, संबाधन, अभ्यंगन, उबटन, प्रक्षालन, त्वचा अपवर्तन करना और उसे सूंघना।

सूत्र 9- शुक्र पुद्गल निकालना।

सूत्र 10- सचित पदार्थ सूंघना

सूत्र 11-गृहस्थ से पदमार्ग बनवाना, संक्रमण (पुल) मार्ग बनवाना, अवलम्बन का साधन बनवाना।

सूत्र 12 - गृहस्थ से पानी निकलने की नाली बनवाना।

सूत्र 13- गृहस्थ से छींका और उसका ढक्कन बनवाना।

सूत्र 14- गृहस्थ से सूत को या रज्जु की चिलमिली बनवाना।

सूत्र 15-18- गृहस्थ से सूई, कैंची, नख छेदनक और कर्ण शोधनक सुधरवाना।

सूत्र 19-22- सूई आदि की बिना प्रयोजन याचना करना।

सूत्र 23-26- सूई आदि की अविधि से याचना करना।

सूत्र 27-30- जिस कार्य के लिए सूई आदि की याचना की है उससे भिन्न कार्य करना।

सूत्र 31-34- अपने अकेले के लिए सूई आदि की याचना करके अन्य को उसके कार्य के लिए दे देना।

सूत्र 35-38- सूई आदि अविधि से लौटाना।

सूत्र 39- गृहस्थ से पात्र का परिकर्म करवाना।

सूत्र 40- गृहस्थ से दण्ड, लाठी, अवलेखनिका और बांस की सूई का परिकर्म करवाना।

सूत्र 41- अकारण पात्र के एक थेगली लगाना।

सूत्र 42- कारण होने पर भी पात्र के तीन से अधिक थेगलियां लगाना।

सूत्र 43- पात्र के अविधि से बंधन बांधना।

सूत्र 44- पात्र के अकारण एक बंधन (एक स्थान पर) लगाना।

सूत्र 45- पात्र के सकारण तीन (स्थान) से अधिक बंधन लगाना।

सूत्र 46- तीन से अधिक बंधन वाला पात्र परिस्थितिवश डेढ मास से अधिक रखना।

सूत्र 47- अकारण वस्त्र के थेगला लगाना।

सूत्र 48- कारण होने पर भी वस्त्र के तीन से अधिक थेगली लगाना।

सूत्र 49- अविधि से वस्त्र सीना।

सूत्र 50- फटे हुए वस्त्र के बिना परिस्थिति के (सीने का अवसर होते हुए) एक गांठ देना।

सूत्र 51- फटे हुए वस्त्र के परिस्थिति होने पर भी तीन से अधिक गांठ देना।

सूत्र 52- फटे हुए दो वस्त्रों को अकारण एक जोड़ से जोड़ना।

सूत्र 53- फटे हुए वस्त्रों के सकारण तीन से अधिक जोड़ (परस्पर सीवन) करना।

सूत्र 54- अविधि से वस्त्र खण्ड जोड़ना।

सूत्र 55- विभिन्न प्रकार के वस्त्र खण्ड को आपस में जोड़ना।

सूत्र 56- परिस्थितिवश तीन से अधिक वस्त्र खण्ड जोड़े हों तो उन्हें डेढ़ मास से अधिक रखना।

सूत्र 57-गृहस्थ से गृहधूम उतरवाना।

सूत्र 58- पूतिकर्म दोष युक्त आहार उपधि तथा शय्या का उपयोग करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

द्वितीय उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1- काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोंछन बनाना।

सूत्र 2-8- काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोंछन ग्रहण करना, रखना, ग्रहण करने की आज्ञा देना, वितरण करना, उपयोग करना, डेढ़ मास से अधिक रखना, खोल कर अलग करना।

सूत्र 9- अचित्त पदार्थ सूंघना।

सूत्र 10- पद मार्ग आदि स्वयं बनाना।

सूत्र 11-13- पानी निकलने की नाली, छींका और छींके का ढक्कन, चिलमिली स्वयं बनाना।

सूत्र 14-17- सूई आदि को स्वयं सुधारना।

सूत्र 18- कठोर भाषा बोलना।

सूत्र 19- अल्प मृषा = असत्य बोलना।

सूत्र 20- अल्प अदत्त लेना।

सूत्र 21- अचित्त शीत या उष्ण जल से हाथ, पैर, कान, आंख, दांत, नख और मुंह घोना।

सूत्र 22- अखण्ड चर्म धारण करना।

सूत्र 23- बहुमूल्य वस्त्र धारण करना।

सूत्र 24- अखण्ड वस्त्र धारण करना।

सूत्र 25- तुम्बे के पात्र का, काष्ठ के पात्र का और मिट्टी के पात्र का स्वयं परिकर्म करना।

सूत्र 26- दण्ड, आदि को स्वयं सुधारना।

सूत्र 27- स्वजन गवेषित पात्र ग्रहण करना।

सूत्र 28- परजन गवेषित पात्र ग्रहण करना।

सूत्र 29- प्रमुख व्यक्ति से गवेषित पात्र ग्रहण करना।

सूत्र 30- बलवान द्वारा गवेषित पात्र ग्रहण करना।

सूत्र 31- वाचाल द्वारा गवेषित पात्र ग्रहण करना।

सूत्र 32- नित्य निमंत्रित पिण्ड लेना।

सूत्र 33-36- पूर्णदान पिंड लेना, अर्द्धदान पिंड लेना, तृतीय भाग दान पिंड और षष्ट भाग दान पिंड लेना।

सूत्र 37- अकारण कल्प मर्यादा का उल्लंघन कर एक जगह रहना।

सूत्र 38- भिक्षा के पूर्व या पञ्श्चात दाता की प्रशंसा करना।

सूत्र 39- राग भाव वाले घरों में भिक्षा काल के पहले जाकर पुनः दूसरी बार आहार के लिए प्रवेश करना।

सूत्र 40- अन्यतीर्थिक के साथ, गृहस्थ के साथ पारिहारिक का अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए जाना।

सूत्र 41- इन तीनों के साथ उपाश्रय की सीमा से बाहर की स्वाध्याय भूमि में या उच्चार प्रस्रवण भूमि में प्रवेश करना।

सूत्र 42- इन तीनों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करना।

सूत्र 43- मनोज्ञ पानी पीना, कषैला पानी परठना।

सूत्र 44- मनोज्ञ आहार खाना, अमनोज्ञ आहार परठना।

सूत्र 45- खाने के बाद बचा हुआ मनोज्ञ आहार स्वधर्मियों को पूछे बिना परठना।

सूत्र 46 सागारिक (शय्यातर) पिण्ड ग्रहण करना।

सूत्र 47- सागारिक पिण्ड खाना।

सूत्र 48- सागारिक का घर आदि जाने बिना भिक्षा के लिए जाना।

सूत्र 49- सागारिक की निश्रा से आहार प्राप्त करना।

सूत्र 50- शेष काल (हेमंत ग्रीष्म काल) के शय्या संस्तारक की अवधि का उल्लंघन करना।

सूत्र 51- चातुर्मास काल के शय्या संस्तारक की अवधि का उल्लंघन करना।

सूत्र 52- वर्षा से भीजते हुए शय्या संस्तारक को छाया में न रखना।

सूत्र 53- शय्या संस्तारक को दूसरी बार आज्ञा लिए बिना अन्यत्र ले जाना।

सूत्र 54- प्रातिहारिक शय्या संस्तारक लौटाये बिना विहार करना।

सूत्र 55- शय्यातर का शय्या संस्तारक पूर्व स्थिति में (व्यवस्थित) किये बिना विहार करना।

सूत्र 56- शय्या संस्तारक खो जाने पर न ढूंढना।

सूत्र 57- अल्प या लघु उपधि की भी उभयकाल प्रति लेखना न करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु मासिक प्रायश्चित आता है।

तृतीय उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1- धर्मशाला आदि स्थानों में एक पुरुष से मांग-मांग कर (दीनता युक्त) याचना करना।

सूत्र 2- धर्मशाला आदि स्थानों में अनेक पुरुष से मांग-मांग कर दीनता युक्त याचना करना।

सूत्र 3- धर्मशाला आदि स्थानों में एक स्त्री से मांग-मांग कर दीनतायुक्त याचना करना।

सूत्र 4- धर्मशाला आदि स्थानों में अनेक स्त्री से मांग-मांग कर दीनता युक्त याचना करना।

सूत्र 5-8- धर्मशाला आदि स्थानों में कौतुहल वश मांग-मांग कर याचना करना।

सूत्र 9-12- अदृष्ट स्थान से आहार लाकर देने पर एक बार निषेध करके पुनः उनके पीछे पीछे जाकर याचना करना।

सूत्र 13- गृहस्वामी के मना करने पर भी पुनः उसके घर आहार आदि लेने के लिये जाना।

सूत्र 14- बहुत्त लोगों की भीड़ बाले जीमनवार के स्थान पर, आहार के लिये जाना।

सूत्र 15- तीन गृह (कमरे) के अंतर से अधिक दूर का लाया हुआ आहार लेना।

सूत्र 16- पैरों का आमर्जन हाथों से अल्प घर्षण करना अर्थात् पैरों पर हाथ फेरना।

सूत्र 17- पैरों का मर्दन करना।

सूत्र 18- पैरों का अभ्यंगन करना।

सूत्र 19- पैरों का उबटन करना।

सूत्र 20- पैरों का प्रक्षालन करना।

सूत्र 21- पैरों को रंगना।

सूत्र 22-27- शरीर का आमर्जन आदि करना।

सूत्र 28-33- व्रण का आमर्जन आदि करना।

सूत्र 34- गूमड़े आदि का छेदन करना।

सूत्र 35- गूमड़े आदि का पीप व रक्त निकालना।

सूत्र 36- गूमड़े आदि का प्रक्षालन करना।

सूत्र 37- गूमड़े आदि पर विलेपन करना।

सूत्र 38- गूमड़े आदि पर तेलादि का मलना।

सूत्र 39- गूमड़े आदि पर सुंगधित पदार्थ लगाना।

सूत्र 40- गुदा के बाह्य भाग या भीतरी भाग के कृमि को निकालना।

सूत्र 41- अकारण नख काटना।

सूत्र 42- जंघा के बाल काटना।

सूत्र 43- गुह्य स्थान के बाल काटना।

सूत्र 44- रोमराजि के बाल काटना।

सूत्र 45- बगल के बाल काटना।

सूत्र 46- दाढ़ी के बाल काटना।

सूत्र 47- मूंछ के बाल काटना।

सूत्र 48-50- दांतों को घिसना, धोना, रंगना।

सूत्र 51-56- होठों का आमर्जन आदि करना।

सूत्र 57- आखों के बाल काटना।

सूत्र 58-63- आंखों के आमर्जन आदि करना।

सूत्र 64- नाक के बाल काटना।

सूत्र 65- भोहों के बाल काटना।

सूत्र 66- मस्तक के बाल काटना।

सूत्र 67- शरीर पर जमा हुआ मैल हटाना।

सूत्र 68- आंख, कान, दांत और नखों का मैल निकालना।

सूत्र 66- ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मस्तक ढकना।

सूत्र 70- वशीकरण सूत्र-डोरा बनाना।

सूत्र 71- जहां परठने की आज्ञा न हो ऐसे घर के विभागों में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 72- श्मशान के निषिद्ध विभागों में मल मूत्र परठना।

सूत्र 73- नवीन मिट्टी की खान एवं हल चलाई भूमि आदि में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 74- कोयले बनाने आदि स्थानों में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 75- कीचड़ आदि के स्थानों में मल-मूत्र परठना (परिष्ठापन करना।)

सूत्र 76- फलों को संग्रह करने के स्थानों में मल मूत्र परठना।

सूत्र 77- वनस्पति (सब्जी) के स्थानों में मल मूत्र परठना।

सूत्र 78- इक्षु, शालि आदि के खेत में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 79- अशोक वृक्ष आदि के वन में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 80- सूर्य की धूप न आने के स्थान में मल मूत्र परठना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु मासिक प्रायश्चित आता है।

चतुर्थ उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1- राजा को वश में करना।

सूत्र 2- राजा के रक्षक को वश में करना।

सूत्र 3- नगररक्षक को वश में करना।

सूत्र 4-निगम रक्षक को वश में करना।

सूत्र 5- सर्व रक्षक को वश में करना।

सूत्र 6-10- राजा आदि उक्त पांचों के गुणगान करना।

सूत्र 11-15- राजा आदि उक्त पांचों को अपनी ओर आकर्षित करना।

सूत्र 16- ग्राम रक्षक को वश में करना।

सूत्र 17- देश रक्षक को वश में करना।

सूत्र 18- सीमा रक्षक को वश में करना।

सूत्र 16- राज्य रक्षक को वश में करना।

सूत्र 20- सर्व रक्षक को वश में करना।

सूत्र 21-25- ग्राम रक्षक आदि उक्त पांचों के गुणगान करना।

सूत्र 26-30- ग्राम रक्षक आदि उक्त पांचों को अपनी ओर आकर्षित करना।

सूत्र 31- सचित्त धान्य खाना या सचित्त बीज खाना।

सूत्र 32- आचार्य आदि की आज्ञा के बिना दूध घृतादि विगयों का सेवन करना।

सूत्र 33- स्थापना कुलों (आवश्यकता हेतु छोड़े हुए विशिष्ट घरों) को जाने पूछे बिना भिक्षा चर्या के लिए जाना।

सूत्र 34- निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करना।

सूत्र 35- निर्ग्रन्थियों के आगमन पथ में दण्डादि रख देना।

सूत्र 36- नये कलह उत्पन्न करना।

सूत्र 37- उपशान्त कलह को पुनः उत्पन्न करना।

सूत्र 38- मुंह फाड़-फाड़ कर हंसना।

सूत्र 39-48- पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और नित्यक इन पांच को अपना संघाड़ा (साधु) देना या उनका संघाड़ा (साधु) लेना।

सूत्र 46-63- अप्काय, पृथ्वीकाय, और वनस्पतिकाय आदि सचित पदार्थों से लिप्त हाथों द्वारा आहारादि लेना।

सूत्र 64-117- साधु-साधु परस्पर तीसरे उद्देशक में कथित शरीर परिकर्म के 54 कार्य करना।

सूत्र 118-119- संध्या समय भूमि प्रतिलेखन न करना अथवा-मल त्यागने की तीन भूमिका का प्रतिलेखन न करना।

सूत्र 120- एक हाथ से कम लम्बी चौड़ी अचित भूमि में मल मूत्र त्यागना। .

सूत्र 121- अविधि से मल-मूत्र त्यागना।

सूत्र 122- मल-मूत्र त्याग कर मल द्वार न पौंछना।

सूत्र 123- मलद्वार को काष्ठादि से पौंछना।

सूत्र 124- मलद्वार की शुद्धि-शुचि नही करना।

सूत्र 125- मल के उपर ही शुद्धि (शुचि) करना।

सूत्र 126- अधिक दूरी पर शुद्धि करना।

सूत्र 127- तीन पसली से अधिक पानी से शुद्धि करना।

सूत्र 128- प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षाचर्या जाना।

इत्यादि प्रवृतियों का लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

पांचवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-11- वृक्ष स्कंध के आस-पास की सचित्त पृथ्वी पर खड़े रहना, बैठना, सोना, आहार करना, मलत्याग करना, स्वाध्यायादि करना।

सूत्र 12- अपनी चादर (आदि) गृहस्थ के द्वारा सिलवाना ।

सूत्र 13- छोटी चादर को बांधने की डोरियां लंबी करना।

सूत्र 14- नीम आदि के अचित्त पत्तों को पानी से धोकर खाना।

सूत्र 15-22- शय्यातर के या अन्य गृहस्थ के पाद्प्रोंछन = पांव पोंछने का उपकरण व दण्ड आदि निर्दिष्ट समय पर पुनः नहीं लौटाना।

सूत्र 23- गृहस्थ के घर से लाए शय्या-संस्तारक उपाश्रय में लौटाने के बाद पुनः आज्ञा लिए बिना उपयोग में लेना।

सूत्र 24- ऊन सूत आदि कातना।

सूत्र 25-30- सचित्त, रंगीन तथा अनेक रंगों से आकर्षक दंड बनाना या रखना।

सूत्र 31-32- नये बसे हुए ग्रामादि में या नई खानों में (वहां बसे हुए घरों में) गोचरी के लिए जाना।

सूत्र 33-35- मुख आदि से वीणा बनाना या बजाना तथा अन्य वाद्य आदि बजाना।

सूत्र 36-38- औद्देशिक (साधु के निमित्त बनी) सप्राभृत (साधु के लिए समय परिवर्तन कर बनाई), सपरिकर्म (सुधार की हुई) शय्या में प्रवेश करना या रहना।

सूत्र 39- संभोग प्रत्ययिक क्रिया का निषेध करना।

सूत्र 40-41- उपयोग में आने योग्य पात्र को फोड़कर या वस्त्र, कंबल पाद प्रोंछन के टुकड़े करके परठना।

सूत्र 42- दंड लाठी के टुकड़े करके परठना।

सूत्र 43-52- रजोहरण-प्रमाण से बड़ा बनाना, फलियां सूक्ष्म बनाना, फलियों को आपस में संबद्ध करना, अविधि से बांधकर रखना, अनावश्यक एक भी बंधन करना, आवश्यक होने पर भी तीन से अधिक बंधन करना।

पांच प्रकार की जाति के अतिरिक्त जाति का रजोहरण बनाना, अपने से दूर रखना, पांव आदि के नीचे दबाना, सिर के नीचे रखना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु मासिक प्रायश्चित आता है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-10- कुशील सेवन के लिए स्त्री को निवेदन करना अथवा कुशील सेवन करना, हस्तकर्म करना, अंगादान का संचालन आदि प्रवृति करना यावत् शुक्रपात करना।

सूत्र 11-13- विषयेच्छा से स्त्री को वस्त्र रहित करना, वस्त्र रहित होने के लिये कहना, कलह करना, पत्र लिखना।

सूत्र 14-18- मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार का लेप, प्रक्षालन आदि कार्य करना।

सूत्र 19-23- मैथुन सेवन के संकल्प से बहुमूल्य अखंड, धुले, रंगीन और रंगबिरंगे वस्त्र रखना।

सूत्र 24-27- मैथुन सेवन के संकल्प से तीसरे उद्देशक के 54 सूत्र के अनुसार शरीर का परिकर्म करना।

सूत्र 28- मैथुन के संकल्प से दूध दही आदि पौष्टिक आहार करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सातवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-12- मैथुन सेवन के संकल्प से अनेक प्रकार की मालाएं, अनेक प्रकार के कड़े, अनेक प्रकार के आभूषण व अनेक जाति के चर्म व वस्त्र बनाना, रखना या पहनना।

सूत्र 13- मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना।

सूत्र 14-67- मैथुन के संकल्प से परिकर्म के 54 बोल परस्पर करना।

सूत्र 68-79- स्त्री को पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय की विराधना के स्थान पर बिठाना या सुलाना, गोद में या धर्मशाला आदि स्थानों में बिठाना, सुलाना या आहार करना।

सूत्र 80-82- मैथुन सेवन के संकल्प से चिकित्सा करना, शरीर आदि की शुद्धि करना, शरीर आदि को सजाना।

सूत्र 83-85- मैथुन सेवन के संकल्प से पशु पक्षी के अंगो पांग का संचालन करना, उनके स्रोतस्थानों में काष्ठादि प्रविष्ट करना तथा उनका संचालन करना, उनकी स्त्री जाति का आलिंगन करना।

सूत्र 86-91- मैथुन भाव से स्त्री को आहार व वस्त्रादि देना लेना तथा उनसे सूत्रार्थ लेना या उनको सूत्रार्थ देना।

सूत्र 92- मैथुन भाव से अपने शरीर के किसी अवयव से काम-चेष्टा करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आठवें उद्देशक का सारांश-

छठे सातवें उद्देशक में मैथुन के संकल्प से की गई प्रवृत्तियों के प्रायश्चित्त कहे हैं। आठवें उद्देशक में मैथुन सेवन के संकल्प की निमित्त रूप स्त्री सम्बन्धी प्रायश्चित्त का कथन है। बाद में राजपिंड से सम्बन्धित प्रायश्चित कहे गये हैं।

सूत्र 1 से 9 तक- धर्मशाला आदि 4 में, उद्यानादि 4 में, अट्टालिका आदि 6 में, उदकमार्ग आदि 4 में, शून्यगृह आदि 6 में, तृणगृह आदि 6 में, यान शाला आदि 4 में, दुकान आदि 4 में, गोशाला आदि 4 में, अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ रहे, आहारादि करे, स्वाध्याय करे, स्थंडिल भूमि जावे या विकारोत्पादक वार्तालाप आदि करे।

सूत्र 10- रात्रि के समय स्त्री परिषद में या स्त्री युक्त पुरुष परिषद में अपरिमित धर्म कथा करे।

सूत्र 11- साध्वी के साथ विहार आदि करे या अति संपर्क रखे।

सूत्र 12-13- उपाश्रय में स्त्री को रात्रि में रहने देवे, मना नहीं करे तथा उनके साथ बाहर आना जाना करे।

सूत्र 14- राजा के अनेक प्रकार के महोत्सवों में आहार ग्रहण करे।

सूत्र 15-16- उन राजाओं के उत्तरशाला अथवा उत्तर गृह में तथा अश्वशाला आदि में आहार ग्रहण करे।

सूत्र 17- राजा के दूध-दही आदि के संग्रह स्थानों से आहार ग्रहण करें।

सूत्र 18- राजा के उत्कृष्ट पिंड आदि दान निमित्त स्थापित आहार को ग्रहण करे।

इत्यादि स्थानों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

नवमें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-5- राजपिंड ग्रहण करे, खावे। अंतःपुर में प्रवेश करे, अंतःपुर में से आहार मंगवावे।

सूत्र 6- द्वारपाल, पशु आदि के निमित्त का राजपिंड ग्रहण करे।

सूत्र 7- भिक्षार्थ जाते हुए 4-5 दिन हो जाए फिर भी राजा के 6 स्थानों की जानकारी न करे। यथा दुग्धशाला, कोठारशाला, मंत्रणा स्थान, दानशाला आदि

सूत्र 8-9- राजा या राणी को देखने के संकल्प से एक कदम भी चले।

सूत्र 10- शिकार आदि के लिये गये हुए राजा का आहार ग्रहण करे।

सूत्र 11- राजा किसी के घर भोजन करने गये हों उस स्थल में उस समय भिक्षार्थ जावे।

सूत्र 12- राजा जहां कहीं ठहरे हों वहां उनके निकट ठहरे।

सूत्र 13-18- युद्ध यात्रा या पर्वत, नदी की यात्रार्थ जाते-आते राजा का आहार ग्रहण करे।

सूत्र 19- राज्याभिषेक की हलचल के समय उधर जावे-आवे।

सूत्र 20- दस बड़ी राजधानियों में एक महिने में एक बार से अधिक बार जावे।

सूत्र 21-25- राजा के अधिकारी व कर्मचारी आदि के निमित्त निकाला आहार ग्रहण करे।

इन स्थानों के सेवन करने से गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

दशवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-4- आचार्य या रत्नाधिक श्रमण को कठोर, रुक्ष या उभय वचन कहे तथा किसी भी प्रकार की आशातना करे।

सूत्र 5- अनन्तकाय संयुक्त आहार करे।

सूत्र 6- आधाकर्म दोष का सेवन करे।

सूत्र 7-8- वर्तमान या भविष्य सम्बन्धी निमित्त कहे।

सूत्र 9-10- शिष्य का अपहरणादि करे।

सूत्र 11-12- दीक्षार्थी का अपहरणादि करे।

सूत्र 13- आने वाले अकेले साधु के आने का कारण जाने बिना तीन दिन से अधिक आश्रय दे।

सूत्र 14- कलह उपशान्त न करने वाले के या प्रायश्चित्त न करने वाले के साथ तीन दिन के बाद आहार करे।

सूत्र 15- प्रायश्चित्त का विपरीत प्ररूपण करे या विपरीत प्रायश्चित्त देवें

सूत्र 19-24- प्रायश्चित्त सेवन, उसके हेतु और संकल्प को सुनकर या जानकर भी उस भिक्षु के साथ आहार करे।

सूत्र 25-28- सूर्योदय या सूर्यास्त के संदिग्ध होने पर भी आहार करे।

सूत्र 29- रात्रि के समय मुख में आये उगाल को निगल जावे।

सूत्र 30-33- बीमार की सेवा न करे अथवा विधिपूर्वक सेवा न करे।

सूत्र 34-35- चतुर्मास में विहार करे।

सूत्र 36-37- पर्युषण (संवत्सरी) निश्चित दिन न करे और अन्य दिन करे।

सूत्र 38- पर्युषण के दिन तक लोच न करे।

सूत्र 39- पर्युषण के दिन चौविहार उपवास न करे।

सूत्र 40- पर्युषणाकल्प गृहस्थों को सुनावे।

सूत्र 41- चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण करे।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

ग्यारहवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-2- लोहे आदि के पात्र करना व रखना।

सूत्र 3-4- लोहे आदि के बंधन युक्त पात्र करना व रखना।

सूत्र 5- पात्र के लिये अर्द्ध योजन से आगे जाना।

सूत्र 6- कारणवश भी अर्द्ध योजन के आगे से सामने लाकर दिये जाने वाला पात्र लेना।

सूत्र 7- धर्म की निन्दा करना।

सूत्र 8- अधर्म की प्रशंसा करना।

सूत्र 9-62- गृहस्थ के शरीर का परिकर्म करना।

सूत्र 63-64- स्वयं को या अन्य को डराना।

सूत्र 65-66- स्वयं को या अन्य को विस्मित करना।

सूत्र 67-68- स्वयं को या अन्य को विपरीत रूप में दिखाना या कहना।

सूत्र 69- जो सामने हो उसके धर्म प्रमुख की, सिद्धान्तों की या आचारों की प्रशंसा करना अथवा उस व्यक्ति की झूठी प्रशंसा करना।

सत्र 70- दो विरोधी राज्यों के बीच पुनः पुनः गमनागमन करना।

सूत्र 71- दिवस भोजन की निन्दा करना।

सूत्र 72- रात्री भोजन की प्रशंसा करना।

सूत्र 73- दिन में लाये आहार को दूसरे दिन खाना।

सूत्र 74- दिन में लाये आहार को रात्रि में खाना।

सूत्र 75- रात्रि में लाये आहार को दिन में खाना।

सूत्र 76- रात्रि में लाये आहार को रात्रि में खाना।

सूत्र 77- आगाढ़ परिस्थिति के बिना रात्रि में अशनादि रखना।

सूत्र 78- आगाढ़ परिस्थिति से रखे आहार को खाना।

सूत्र 79- संखडी के आहार को ग्रहण करने की अभिलाषा से अन्यत्र रात्रि निवास करना।

सूत्र 80- नैवेद्य-पिंड ग्रहण करके खाना।

सूत्र 81-82- स्वच्छांदाचारी की प्रशंसा करना, उसे वन्दन करना।

सूत्र 83-84- अयोग्य को दीक्षा देना या बड़ी दीक्षा देना।

सूत्र 85- अयोग्य असमर्थ से सेवा कार्य कराना।

सूत्र 86-89- अचेल या सचेल साधु का अचेल साध्वियों के साथ रहना।

सूत्र 90- पर्युषित (रात रखे) चूर्ण, नमक आदि खाना।

सूत्र 91- आत्मघात करने वालों की प्रशंसा करना।

इत्यादि दोष स्थानों का सेवन करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बारहवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-2 - करुणा भाव से त्रस प्राणियों को बांधना या खोलना आदि श्रमण के अयोग्य प्रवृत्तियां करना।

सूत्र 3- बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना।

सूत्र 4- प्रत्येक काय (असंख्यातजीवी पदार्थ से) मिश्रित आहार को खाना।

सूत्र 5- सरोम चर्म का उपयोग करना।

सूत्र 6- गृहस्थ के वस्त्राच्छादित तृणपीठ आदि पर बैठना।

सूत्र 7- साध्वी की चादर गृहस्थ से सिलवाना।

सूत्र 8- पृथ्वी आदि पांच स्थावर कायिक जीवों की किंचित भी विराधना करना।

सूत्र 9- सचित वृक्ष पर चढना।

सूत्र 10-13- गृहस्थ के बर्तन में खाना, गृहस्थ के वस्त्र पहनना,गृहस्थ की शय्या आदि पर बैठना, गृहस्थ की चिकित्सा करना।

सूत्र 14- पूर्वकर्म दोष युक्त आहार ग्रहण करना।

सूत्र 15- उदक-भाजन (गृहस्थ के कच्चे पानी लेने निकालने के बर्तन) से आहार ग्रहण करना।

सूत्र 16-30- दर्शनीय स्थलों को देखने जाना।

सूत्र 31- मनोहर रूपों में आसक्त होना।

सूत्र 32- प्रथम पहर में ग्रहण किया हुआ आहार पानी चतुर्थ पहर में खाना या पीना।

सूत्र 33- दो कोश से आगे ले जाकर आहार पानी का उपयोग करना।

सूत्र 34-41- गोबर या लेप्य पदार्थ रात्रि में लगाना या रात में रखकर दिन में लगाना।

सूत्र 42-43- गृहस्थ से उपधि वहन कराना तथा उसे आहार देना।

सूत्र 44- बड़ी नदियों को महिने में एक बार से अधिक बार उतर कर या तैर कर पार करना।

इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित आता है।

तेरहवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-8- सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर, जल से स्निग्ध पृथ्वी पर, सचित्त रज युक्त, पृथ्वी पर, सचित मिट्टी युक्त पृथ्वी पर, सचित्त पृथ्वी पर, शिला या पत्थर पर तथा जीव युक्त काष्ठ या भूमि पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

सूत्र 9-11- भित्ती, पाली आदि से अनावृत ऊंचे स्थान पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

सूत्र 12- गृहस्थ को शिल्प आदि लौकिक कार्य सिखाना।

सूत्र 13-16- गृहस्थ को सरोष वचन, रूक्ष वचन कहना या अन्य किसी प्रकार से उसकी आशातना करना।

सूत्र 17-18- गृहस्थ के कौतुक कर्म या पूतिकर्म करना।

सूत्र 19-20- गृहस्थ से कौतुक प्रश्न करना या उनका उत्तर देना।

सूत्र 21- भूतकाल सम्बन्धी निमित्त बताना।

सूत्र 22-24- लक्षण, व्यंजन या स्वप्न का फल बताना।

सूत्र 25-27- गृहस्थ के लिये विद्या, मन्त्र या योग का प्रयोग करना।

सूत्र 28- गृहस्थ को मार्गादि बताना।

सूत्र 29-30- गृहस्थ को धातु या निधि बताना।

सूत्र 31-41- पात्र, दर्पण, तलवार आदि में अपना प्रतिबिंब देखना।

सूत्र 42-45- स्वस्थ होते हुए भी वमन, विरेचन करना या औषध सेवन करना।

सूत्र 46-63- पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संसक्त, नित्यक, काथिक, प्रेक्षणिक, मामक, सांप्रसारिक, इन नौ को वन्दन करना या इनकी प्रशंसा करना।

सूत्र 64-78- उत्पादन के दोषों का सेवन कर के आहार ग्रहण करना एवं खाना।

इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चौदहवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1- पात्र खरीदना या खरीद कर लाया हुआ पात्र लेना।

सूत्र 2- पात्र उधार लेना या उधार लाया हुआ पात्र लेना।

सूत्र 3- पात्र का परिवर्तन करना या परिवर्तित कर लाया हुआ पात्र लेना।

सूत्र 4- साधु के लिए किसी से छीना हुआ पात्र, भागीदार की बिना आज्ञा से लिया हुआ पात्र या सामने लाया हुआ पात्र लेना।

सूत्र 5- आचार्य की आज्ञा के बिना किसी को अतिरिक्त पात्र देना।

सूत्र 6- अविकलांग को या समर्थ को अतिरिक्त पात्र देना।

सूत्र 7- विकलांग या असमर्थ को अतिरिक्त पात्र न देना।

सूत्र 8-9- उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखना, उपयोग में आने योग्य पात्र को छोड़ देना।

सूत्र 10-11- सुन्दर पात्र को विद्रुप करना या विद्रुप पात्र को सुन्दर करना।

सूत्र 12-19- पुराने पात्र को या दुर्गन्ध युक्त पात्र को बारम्बार धोना या कर्कादि लेप लगाना अथवा अनेक दिनों तक उसमें पानी आदि भरकर रात में रखना एवं उसे ठीक करना।

सूत्र 20-30- सचित्त स्थान, त्रस जीव युक्त स्थान अथवा बिना दिवाल वाले (चौतरफ से खुले) ऊंचे स्थान पर पात्र सुखाना।

सूत्र 31-36- पात्र में त्रस जीव, धान्य, बीज, कंदादि, पृथ्वी, पानी, अग्नि हो उसे निकाल कर या निकलवाकर पात्र लेना।

सूत्र 37- पात्र पर कोरणी करना या कोरणी वाला पात्र लेना।

सूत्र 38-39- अपने घर के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान में रहे हुए गृहस्थ से या कहीं भी किसी के साथ विचार चर्चा करने वाले गृहस्थ से पात्र की याचना करना।

सूत्र 40-41- पात्र के लिये गृहस्थ को प्रतिज्ञाबद्ध करके मासकल्प या चातुर्मास रहना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

पन्द्रहवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-4- परुष (कठोर) वचन आदि से अन्य भिक्षु की आशातना करना।

सूत्र 5-12- सचित्त आम्र या उसके खंड आदि खाना।

सूत्र 13-66- गृहस्थ से अपने शरीर सम्बन्धी 54 प्रकार का परिकर्म कार्य करवाना ।

सूत्र 67-75- अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठना।

सूत्र 76-97- गृहस्थ को आहार एवं वस्त्रादि देना, पार्श्वस्थादि से आहार एवं वस्त्रादि का लेन-देन करना।

सूत्र 98- वस्त्र ग्रहण करने में उद्गम आदि दोषों के परिहार योग्य पूर्ण गवेषणा न करना।

सूत्र 99-152- विभूषा (श्रृंगार) की वृति से शरीर-परिकर्म के 54 सूत्रोक्त कार्य करना।

सूत्र 153- विभूषा की वृत्ति से वस्त्रादि उपकरण रखना।

सूत्र 154- विभूषा की वृत्ति से वस्त्रादि उपकरणों को धोना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सोलहवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-3- गृहस्थ युक्त, जल युक्त और अग्नि युक्त शय्या में ठहरना।

सूत्र 4-11- सचित्त इक्षु या इक्षु खण्ड खाना या चूंसना।

सूत्र 12- अरण्य में रहने वाले, वन (जंगल) में जाने वाले एवं अटवी की यात्रा करने वालों से, वहां मार्ग में आहार लेना।

सूत्र 13-14- अल्प चारित्रगुण वाले को विशेष चारित्रगुण सम्पन्न कहना और विशेष चारित्रगुण सम्पन्न को अल्प चारित्रगुण वाला कहना।

सूत्र 15- विशेष चारित्रगुण वाले गच्छ से अल्प चारित्रगुण वाले गच्छ में जाना।

सूत्र 16-24- कदाग्रह युक्त भिक्षुओं के साथ आहार, वस्त्र, मकान, स्वाध्याय का लेन-देन करना।

सूत्र 25-26- सुखपूर्वक विचरने योग्य क्षेत्र होते हुए भी अनार्य क्षेत्रों में या विकट मार्गों में विहार करना।

सूत्र 27-32- जुगुप्सित कुल वालों से आहार, वस्त्र, शय्या ग्रहण करना तथा उनके वहां स्वाध्याय की वाचना लेना-देना।

सूत्र 33-35- भूमि पर, संस्तारक (बिछौने) पर, आहार रखना या खूंटी छींका आदि पर आहार रखना।

सूत्र 36-37- गृहस्थों के साथ बैठकर अपना-अपना आहार करना या गृहस्थ देखे वहां आहार करना।

सूत्र 38- आचार्य आदि के आसन आदि पर असावधानी से पांव लगाकर फिर विनय किये बिना ही चले जाना।

सूत्र 39- सूत्रोक्त संख्या या माप (परिमाण) से अधिक उपधि रखना।

सूत्र 40-50- विराधना वाले स्थानों पर मल-मूत्र परठना।

इत्यादि दोष स्थानों का सेवन करने वाले को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सत्तरहवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-2- कुतूहल से त्रस प्राणी को बांधना, खोलना आदि गृहस्थ प्रवृत्तिएं करना ।

सूत्र 3-14- कुतूहल से मालाएं, कड़े, आभूषण और वस्त्रादि बनाना, रखना, पहनना।

सूत्र 15-68- साध्वी साधु का शरीर परिकर्म गृहस्थ द्वारा करवावे।

सूत्र 60-122- साधु साध्वी का शरीर परिकर्म गृहस्थ द्वारा करवावे।

सूत्र 123-124- सदृश निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को स्थान नहीं देना।

सूत्र 125-127- अधिक ऊंचे-नीचे स्थान से या बड़े कोठे में से आहार लेना अथवा लेप आदि से बन्ध वर्तन खुलवाकर आहार लेना।

सूत्र128-131- सचित पृथ्वी आदि पर रखा हुआ आहार लेना।

सूत्र 132- पंखे आदि से ठंडा करके दिया गया आहार लेना।

सूत्र 133- तत्काल बना हुआ अचित्त शीतल जल (धोवन) लेना।

सूत्र 134- अपने आचार्य पद योग्य शारीरिक लक्षणों का कथन करना या बताना।

सूत्र 135- गाना, बजाना, हंसना, नृत्य करना, नाटक करना, हाथी, घोड़े, सिंह आदि जानवरों के जैसी आवाजें करना, इत्यादि संयम के अयोग्य प्रवृत्तियां करना।

सूत्र 136-139- वितत, तत, घन और झुसिर वाद्यों की ध्वनि सुनने जाना।

सूत्र 140-155- अन्य अनेक स्थलों के शब्द सुनने के लिए जाना। शब्दों में आसक्त होना।

इत्यादि प्रवृत्तियों के करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

अठारहवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1- अत्यावश्यक प्रयोजन के बिना नौका-विहार करना या अन्य वाहन-विहार करना।

सूत्र 2-5- क्रीतआदि दोषयुक्त नौका या वाहन में चढ़ना।

सूत्र 6-9- नौका में चढ़ने के लिये नौका को जल से स्थल में, स्थल से जल में मंगाना, कीचड़ में से निकलवाना या नौका में भरा जल निकलवाना।

सूत्र 10- बड़ी नौका तक जाने के लिये दूसरी छोटी नौका आदि करना।

सूत्र 11- अनुस्रोत या प्रतिस्रोत में जाने वाली नौका में जाना।

सूत्र 12- आधा योजन या एक योजन से अधिक लंबा मार्ग तय करने वाली नौका में जाना।

सूत्र 13-14- नौका चलाना या उसमें सहायता करना।

सूत्र 15- नौका में आने वाले जल को बाहर उलीचना ।

सूत्र 16- नौका में छिद्र हो जाने पर उसे बन्ध करना।

सूत्र 17-32- नौका विहार के प्रसंग में स्थल, जल, कीचड़ या नौका में आहार ग्रहण करना।

सूत्र 33-73- वस्त्र सम्बन्धी दोषों का सेवन करना। (14 वें उद्देशक में वर्णित पात्र के लिए कहे गये सभी दोषों के समान समझना)

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उन्नीसवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-7- औषध के लिए क्रीत आदि दोष लगाना, विशिष्ट औषध की तीन मात्रा (खुराक) से अधिक लाना, औषध को विहार में साथ रखना तथा औषध के परिकर्म सम्बन्धी दोष (कूटना, पीसना, भिगोना, छानना आदि) का सेवन करना।

सूत्र 8- चार संध्या में स्वाध्याय करना (लाल दिशा एवं मध्यकाल के समय)

सूत्र 9-10- कालिक सूत्र की 9 गाथा एवं दृष्टिवाद की 21 गाथाओं से ज्यादा पाठ का अस्वाध्याय काल में अर्थात् उत्काल में उच्चारण करना।

सूत्र 11-12- चार महामहोत्सव एवं उनके बाद की चार महा प्रतिपदा अर्थात् चैत्र, आसाढ़ आसोज और कार्तिक की पूनम व एकम के दिन स्वाध्याय करना।

सूत्र 13- कालिक सूत्र का स्वाध्याय करने के चार पहरों को स्वाध्याय किए बिना ही प्रमाद या अन्य कार्यों में या विकथाओं में व्यतीत कर देना।

सूत्र 14-32- प्रकार के अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय (सूत्रोच्चारण) करना।

सूत्र 15- अपनी शारीरिक अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय (सूत्रोच्चारण) करना।

सूत्र 16- सूत्रों की वाचना आगमोक्त क्रम से न देना।

सूत्र 17- आचारांग सूत्र की वाचना पूर्ण किए बिना छेद सूत्र या दृष्टिवाद की वाचना

सूत्र 18-21- अविनीत आदि अपात्र को वाचना देना और पात्र को न देना, अव्यक्त (16 वर्ष से कम) को वाचना देना और व्यक्त को वाचना न देना।

सूत्र 22- समान योग्यता वालों को वाचना देने में पक्षपात करना।

सूत्र 23- आचार्य-उपाध्याय द्वारा वाचना दिए बिना या उनकी आज्ञा बिना स्वयं वाचना ग्रहण करना।

सूत्र 24-25- मिथ्यात्व भावित गृहस्थ एवं अन्यतीर्थिकों को वाचना देना एवं उनसे लेना।

सूत्र 26-35- पार्श्वस्थादि को वाचना देना एवं उनसे लेना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बीसवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-5- एक मास के प्रायश्चित्त स्थान से लेकर पांच मास तक के प्रायश्चित्त स्थान की निष्कपट आलोचना का उतने-उतने मास का प्रायश्चित्त आता है।

कपट युक्त आलोचना करने पर एक गुरु मास का प्रायश्चित्त अधिक आता है।

छः मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त स्थान की आलोचना सकपट या निष्पकट करने पर भी केवल छः मास ही प्रायश्चित्त आता है। इसके आगे प्रायश्चित्त विधान नहीं है जिस प्रकार राज्य व्यवस्था में 20 वर्ष से अधिक जेल की सजा नहीं है।

सूत्र 6-10- अनेक बार सेवन किये गए प्रायश्चित्त स्थान की आलोचना के विषय में भी उपरोक्त प्रायश्चित समझना चाहिए।

सूत्र 11-12- मासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों की द्विक संयोगी भंगों से युक्त आलोचना के प्रायश्चित्त भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

सूत्र 13-14- पूरे मास या साधिक मास स्थानों की आलोचना का प्रायश्चित्त कपट सहित या कपट रहित आदि पूर्व सूत्रों के समान समझना चाहिए।

सूत्र 15- एक बार सेवित दोष स्थान की कपट रहित आलोचना के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए पुनः लगाये जाने वाले दोषों की दो चौभंगी के किसी भी भंग से आलोचना करने पर प्रायश्चित्त की आरोपणा की जाती है।

सूत्र 16- एक बार सेवित स्थान की कपट युक्त आलोचना का प्रायश्चित्त वहन एवं उसमें आरोपणा, पूर्व सूत्र के समान समझ लेना चाहिए।

सूत्र 17-18- अनेक बार सेवित स्थान सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन उक्त दोनों (15-16) सूत्र के समान ही इन दो सूत्रों में भी समझ लेना चाहिए।

सूत्र 19-24- एक मास से लेकर छः मास तक किसी भी प्रायश्चित्त के वहन काल में लगे दो मास स्थान की सानुग्रह स्थापिता आरोपणा बीस दिन की तथा पुनः उस स्थान की निरनुग्रह स्थापिता आरोपणा दो मास की एवं कुल दो मास और बीस दिन की स्थापिता आरोपणा दी जाती है।

सूत्र 25-29- स्थापिता आरोपणा के दो मास और बीस दिन के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए पुनः पुनः दो मास के प्रायश्चित्त की बीस-बीस दिन की प्रस्थापिता आरोपणा बढ़ाते हुए छह मास तक की आरोपणा की जाती है।

सूत्र 30-35- सूत्र 19-24- के समान सानुग्रह निरनुग्रह स्थापिता आरोपणा जानना, किन्तु दो मास प्रायश्चित्त स्थान की जगह एक मास, 20 दिन की अरोपणा की जगह 15 दिन तया दो मास बीस दिन की जगह डेढ़ मास समझना चाहिए।

सूत्र 36-44- सूत्र 25-29- तक के समान प्रस्थापिता आरोपणा जानना किन्तु यहां प्रारम्भ में दो मास बीस दिन की जगह डेढ मास की प्रस्थापना है और 20 दिन की आरोपणा की जगह एक मास प्रायश्चित्त स्थान की 15 दिन की आरोपणा वृद्धि करते हुए छः मास तक की आरोपणा का वर्णन समझना चाहिए।

सूत्र 45-51- दो मास के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए दोष लगाने पर एक मास स्थान की 15 दिन की आरोपणा वृद्धि की जाती है। तदन्तर दो मास स्थान की 20 दिन की आरोपणा वृद्धि की जाती है यों वृद्धि करते हुए छः मास तक की प्रस्थापिता आरोपणा समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार इस उद्देशक में प्रायश्चित्त स्थानों की आलोचना पर प्रायश्चित्त देने का एवं उसके काल में सानुग्रह-निरनुग्रह स्थापिता (रोक कर रखी जाने वाली) एवं प्रस्थापिता (वहन की जाने वाली) आरोपणा का स्पष्ट कथन किया गया है।

।। निशीथ सूत्र का सारांश समाप्त ।।

परिशिष्ट – 1

(उद्देशक 3 सूत्र 36)

उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य है- जीवन की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, संयम की सुरक्षा, ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि।

जैसे राजपथ पर चलने वाला पथिक यदा कदा विशेष बाधा उपस्थित होने पर राजमार्ग का परित्याग कर पास की पगडंडी पकड़ लेता है और कुछ दूर जाने के बाद किसी प्रकार की बाधा दिखाई न दे तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद में जाने और अपवाद से उत्सर्ग में आने के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। दोनों का लक्ष्य प्रगति है। अतः दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग या उन्मार्ग नहीं है। दोनों के समन्वय से साधक की साधना सिद्ध एवं समृद्ध होती है।

उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक?

प्रश्न वस्तुतः महत्व का है। उत्सर्ग साधना की सामान्य विधि है। अतः उस पर साधक को सतत चलना होता है। उत्सर्ग छोड़ा जा सकता है किन्तु अकारण नहीं। किसी विशेष परिस्थितिवश में ही उत्सर्ग का परित्याग कर अपवाद अपनाया जाता है, पर सदा के लिए नहीं।

जो साधक अकारण उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है अथवा सामान्य कारण उपस्थित होने पर उसे छोड़ देता है, वह साधक सच्चा नहीं है वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं अपितु विराधक है।

जो व्यक्ति अकारण औषध सेवन करता है अथवा रोग न होने पर भी रोगी होने का अभिनय करता है वह धूर्त्त है कर्तव्यविमुख है। ऐसे व्यक्ति स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज को भी कलंकित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है जो साधारण कारण से उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देते हैं या अकारण ही अपवाद का सेवन करते रहते हैं, कारणवश एक बार अपवाद सेवन के बाद, कारण समाप्त होने पर भी अपवाद का सतत सेवन करते रहते हैं। ऐसे साधक स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज में भी एक अनुचित्त उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऐसे साधकों का कोई सिद्धान्त नहीं होता है और न उनके उत्सर्ग अपवाद की कोई सीमा होती है। वे अपनी वासनापूर्ति के लिए या दुर्बलता छिपाने के लिए विहित अपवाद मार्ग को बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता संसार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग संयम मार्ग है उसी प्रकार अपवाद भी संयम मार्ग है, किन्तु वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिये। अपवाद के पवित्र वेश में कहीं (भोगाकांक्षा, कषाय वृत्ति) चकमा न दे जाय, इसके लिये साधक को सतत, सजग, जागरूक एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

साधक के सन्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलतः अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है और ज्यों ही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाय, स्थिति की विकटता न रहे, त्यों ही उत्सर्ग मार्ग पर आरूढ हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में क्षण भर का विलंब भी (संयम) घातक हो सकता है।

और एक बात यह भी है कि जितना आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि जब यह कर लिया तो अब इसमें क्या है? यह भी कर लें। जीवन को निरन्तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढकाते जाना अपवाद नहीं है। जिन लोगों को मर्यादा का भान नहीं है, अपवाद की मात्रा एवं सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपवाद के द्वारा उत्थान नही है अपितु शतमुख पतन होता है। एक बहुत सुन्दर पौराणिक दृष्टांत है। उस पर से सहज समझा जा सकता है कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएं होती है और उसका सूक्ष्म विश्लेषण किस ईमानदारी से करना चाहिए।

दृष्टांत- 'एक विद्वान् ऋषि कहीं से गुजर रहे थे। भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल थे। द्वादशवर्षी भयंकर दुर्भिक्ष था। राजा के कुछ हस्तीपक (पीलवान) एक जगह साथ बैठकर भोजन कर रहे थे। ऋषि ने भोजन मांगा। उत्तर मिला- 'भोजन तो झूठा है' ऋषि बोले- 'झूठा है तो क्या, आखिर पेट तो भरना है' 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' भोजन लिया, खाया और चलने लगे तो उन लोगों ने जल लेने को कहा, तब ऋषि ने उत्तर दिया 'जल झूठा है, मैं नहीं पी सकता'। लोगों ने कहा कि मालूम होता है कि- 'अन्न पेट में जाते ही बुद्धि लौट आई है' ऋषि ने शांत भाव से कहा बन्धुओं ! तुम्हारा सोचना ठीक है। किन्तु मेरी एक मर्यादा है। अन्न अन्यत्र मिल नहीं रहा था और मैं भूख से इतना व्याकुल था कि प्राण कंठ में आ रहे थे और अधिक सहने की क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतः मैंने झूठा अन्न भी अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया। अब जल तो मेरी मर्यादा के अनुसार अन्यत्र शुद्ध मिल सकता है। अतः व्यर्थ ही झूठा जल क्यों पीऊं?

संक्षेप में सार यह है कि जब तक चला जा सकता है उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिए, जब चलना सर्वथा दुस्तर हो जाय, दूसरा कोई इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे तब ही अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए और ज्यों ही स्थिति सुधर जाय पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आना चाहिए।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है। यहां कौन चले कौन नहीं चले, इस प्रश्न के लिये कुछ भी स्थान नहीं है। जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार का ग्लानिभाव न आवे, धर्म एवं संघ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र की क्षति का कोई विशेष प्रसंग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं।

अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित ही चला जा सकता है। इस पर हर कोई साधक हर किसी समय नहीं चल सकता है। जो संयमशील साधक आचारांग सूत्र आदि आचारसंहिता का पूर्ण अध्ययन कर चुका है, गीतार्थ है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग-अपवाद पदों का अध्ययन ही नहीं अपितु स्पष्ट अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार के सम्बन्ध में ठीक ठीक निर्णय दे सकता है। अतः सभी अपवादिक विधान करने वाले सूत्रों में कही गई प्रवृत्तियों को करने में इस उत्सर्ग-अपवाद के स्वरूप सम्बन्धी वर्णन को ध्यान में रखना चाहिए।

परिशिष्ट – 2

(उद्देशक 20 सूत्र 1–14)

प्रायश्चित्त के अंगों की विचारणा–

उन्नीस उद्देशकों में कहे हुए दोषों के सेवन करने के बाद आलोचक को आलोचना के अनुसार प्रायश्चित्त देने के विभिन्न विकल्पों का वर्णन इन चौदह सूत्रों में किया गया है।

आलोचना करने वाला एक प्रायश्चित्त स्थान को एक बार या अनेक बार तथा अनेक प्रायश्चित्त स्थानों को एक बार या अनेक बार सेवन करके उनकी एक साथ भी आलोचना कर सकता है और कभी अलग अलग भी।

कोई आलोचक निष्कपट यथार्थ आलोचना करने वाला होता है और कोई कपट युक्त आलोचना करने वाला भी होता है अतः ऐसे आलोचकों को दिए जाने वाले प्रायश्चित्त की विधि यहां कही गई है।

उन्नीस उद्देशकों में मासिक, चौमासी और इनके गुरु या लघु यों चार प्रकार के प्रायश्चित्त का कथन है तथापि कुछ विशेष दोषों के प्रायश्चित्तों में पांच दिन, दस दिन की वृद्धि भी होती है। इसी लिए सूत्र 13-14 में चार मास या चार मास साधिक, पांच मास या पांच मास साधिक ऐसा कथन है, किन्तु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों के समान पंचमासी या छमासी प्रायश्चित स्थानों का स्वतंत्र निर्देश आगमों में नहीं है। प्रस्तुत उद्देशक में भी उनका केवल संकेत मिलता है।

इन प्रायश्चित्त स्थानों में से किसी एक प्रायश्चित्त स्थान का एक बार या अनेक बार सेवन करके एक साथ आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान वही रहता है किन्तु तप की हीनाधिकता हो जाती है।

यदि प्रायश्चित्त स्थान अनेक हों तो उन सभी स्थानों के प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है और उन सभी प्रायश्चित्त स्थानों के अनुसार यथा योग्य तप प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सरल मन से आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान के अनुरूप प्रायश्चित्त आता है और कोई कपट युक्त आलोचना करे तो कपट की जानकारी हो जाने पर उस प्रायश्चित्त स्थान से एक मास अधिक प्रायश्चित्त आता है अर्थात् कपट करने का एक गुरु मास का प्रायश्चित्त और संयुक्त कर दिया जाता है।

9 पूर्वी से लेकर 14 पूर्व तक के श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनः पर्यवज्ञानी केवलज्ञानी ये आगम विहारी भिक्षु आलोचक के कपट को अपने ज्ञान से जान लेते हैं अतः इनके संमुख ही आलोचना एवं प्रायश्चित्त करना चाहिए। इनके अभाव में श्रुत व्यवहारी साधु तीन बार आलोचना सुनकर भाषा तथा भावों से कपट को जान सकते हैं क्योंकि वे भी अनुभवी गीतार्थ होते हैं।

यदि कपट युक्त आलोचना करने वाले का कपट नहीं जाना जा सके तो उसकी शुद्धि नहीं होती है। इसीलिए आगमों में आलोचना करने वाले की एवं सुनने वाले की योग्यता की गई है तथा अलोचना सम्बन्धी वर्णन भी किया गया है। यथा-

1. ठाणांग अ. 10 में आलोचना करने वाले को 10 गुण युक्त होना अनिवार्य कहा गया है। यथा-

1. जाति संपन्न, 2. कुलसंपन्न, 3. विनय संपन्न, 4. ज्ञान संपन्न, 5. दर्शन संपन्न, 6. चारित्र संपन्न, 7. क्षमावान, 8. दमनेन्द्रिय, 9. अमायी, 10. आलोचना करके पश्चाताप नहीं करने वाला।

2. ठाणांग अ. 10 में आलोचना सुनने वाले के 10 गुण इस प्रकार कहे हैं- यथा-

1. आचारवान, 2. समस्त दोषों को समझ सकने वाला, 3. पांच व्यवहारों के क्रम का ज्ञाता, 4. संकोच निवारण में कुशल, 5. आलोचना कराने में समर्थ, 6. आलोचना को किसी के पास प्रकट न करने वाला, 7. योग्य प्रायश्चित्त दाता, 8. आलोचना न करने के या कपट पूर्वक आलोचना करने के अनिष्ट परिणाम बताने में समर्थ। 9. प्रियधर्मी, 10. दृढ़धर्मी।

उत्तरा अ. 36 गा. 262 में आलोचना सुनने वाले के तीन गुण कहे हैं-

1. आगमों का विशेषज्ञ, 2. समाधि उत्पन्न कर सकने वाला, 3. गुणग्राही।

3. ठाणांग अ. 10 में आलोचना के 10 दोष इस प्रकार कहे हैं : -

1. सेवा आदि से प्रसन्न करने के बाद उसके पास आलोचना करना। 2. मेरे को प्रायश्चित्त कम देना इत्यादि अनुनय करके आलोचना करना। 3. दूसरों के द्वारा देखे गये दोषों की आलोचना करना, 4. बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना, 5. छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना, 6. अत्यन्त अस्पष्ट बोलना, 7. अत्यन्त जोर से बोलना, 8. अनेकों के पास एक ही दोष की आलोचना करना। 9. अगीतार्थ के पास आलोचना करना, 10. अपने समान दोषों का सेवन करने वाले के पास आलोचना करना।

उपरोक्त स्थानों का योग्य विवेक रखने पर ही आलोचना शुद्ध होती है। यदि आलोचना सुनने वाला योग्य न मिले तो अनुक्रम से स्वगच्छ, अन्य गच्छ या श्रावक आदि के पास भी आलोचना की जा सकती है,कोई योग्य न मिलें तो अंत में अरिहंत-सिद्धों की साक्षी से भी आलोचना करने का विधान व्यव. उ.1 में किया गया है।

ठाणांग अ. 3 में कहा है कि ज्ञान दर्शन चारित्र की शुद्ध आराधना के लिये आलोचना प्रायश्चित्त किया जाता है। दोषों की आलोचना एवं प्रायश्चित्त नहीं करने वाला इहलोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ता है और वह विराधक होकर आत्मा की अधोगति का भागी बनाता है।

आलोचना नहीं करने के अनेक कारणों में मुख्य कारण अपमान एवं अपयश के होने का होता है किन्तु यह विचारों की अज्ञानदशा है। क्योंकि आलोचना करके शुद्ध होने वाला इस भव में और परभव में पूर्ण समाधि को प्राप्त करता है और आलोचना नहीं करने वाला इस भव में अंदर ही अंदर खिन्न होता है एवं उभय लोक में असमाधि को प्राप्त करता है और आलोचना न करके सशल्य मरण से दीर्घ संसारी होता है।

जो भिक्षु मूल गुणों में अथवा उत्तरगुणों में एक बार या अनेक बार दोष लगाकर उन्हें छिपावे, लगे हुए दोषों की न आलोचना करे और न प्रायश्चित्त ले तो गणनायक उसे लगे हुए दोषों के सम्बन्ध में पूछे।

यदि वह असत्य बोले, अपने आप को निर्दोष सिद्ध करे तो दोष सेवन करते हुए उसे देखने के लिए किसी को नियुक्त करे और प्रमाण पूर्वक उसके दोष सेवन का उसी के सामने सिद्ध करवाकर प्रायश्चित्त दे।।

उन्नीस उद्देशकों में ऐसे मायावी को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। इसमें केवल स्वेच्छा से आलोचना करने वालों को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान है। उक्त मायावी भिक्षु लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार न करे तो उसे गच्छ से निकाल देना चाहिए।

यदि वह लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार कर ले, गच्छ प्रमुख को उसकी सरलता पर विश्वास हो जावे तो उसे निम्न प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रखा जा सकता है।

1. यदि उसने अनेक बार दोष सेवन न किए हों, अनेक बार मृषा भाषण करके उसने अपने दोष न छिपाये हों और उसके दोष सेवन की जानकारी जन साधारण को न हुई हो तो उसे दीक्षा छेद का प्रायश्चित देना चाहिए।

2. यदि उसने बार-बार ब्रह्मचर्य आदि भंग किया हो, बार बार माया मृषा भाषण किया हो, उसके बार-बार ब्रह्मचर्य आदि भंग की जानकारी जनसाधारण को हो गई हो तो उसे मूल अर्थात् नई दीक्षा देने का प्रायश्चित देना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. 21 में दोषों की आलोचना निंदा एवं गर्हा का अत्यन्त शुभ एवं श्रेष्ठ फल कहा है।

ठाणा. अ.10, भगवती श. 25 उ. 7, उव. सूत्र 30, और उत्तरा. अ. 30 में 10 प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं उनमें आलोचना करना प्रथम प्रायश्चित्त स्थान कहा गया है।

प्रायश्चित्त- चारित्र के मूल गुणों में या उत्तर गुणों में की गई प्रति सेवनाओं का अर्थात दोष सेवन का प्रायश्चित्त किया जाता है। निशीथ सूत्र में तप प्रायश्चित्त के चार मुख्य विभाग कहे हैं और भाष्य में उसी की विस्तार से व्याख्या करते हुए पांच दिन के तप से लेकर छः मास तक तप तथा छेद मूल अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त तक का कथन किया गया है।

प्रतिसेवना के भावों के अनुसार एक ही दोष स्थान के प्रायश्चित्तों की वृद्धि या कमी की जाती है।

भगवती श. 25 उ.7 एवं ठाणांग अ. 10 में प्रतिसेवना दस प्रकार की कही है। यथा-

1. दर्प से (आशक्ति एवं धृष्टता से) 2. आलस्य से, 3. असावधानी से, 4. भूख प्यास आदि की आतुरता से, 5. संकट आने पर, 6. क्षेत्र आदि की संकीर्णता से, 7. भूल से, 8. भय से, 6. रोष से या द्वेष से, 10. शिष्य आदि की परीक्षा के लिये।

प्रत्येक दोष सेवन के पीछे इनमें से कोई भी एक या अनेक कारण होते हैं।

इन कारणों में से किसी कारण से लगे दोष की केवल आलोचना से ही शुद्धि हो सकती है तो किसी की आलोचना और प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है और किसी की तप छेद आदि से शुद्धि होती है।

दोष सेवन के बाद आत्म शुद्धि का इच्छुक आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। जिस प्रकार वस्त्र में लगे मैल की शुद्धि धोने से हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के संयम आदि में लगे दोषों की शुद्धि प्रायश्चित्त से हो जाती है।

उत्तरा. अ. 29 में कहा है कि प्रायश्चित्त करने से दोषों की विशुद्धि हो जाती है, चारित्र निरतिचार हो जाता है, तथा सम्यग् प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला मोक्ष मार्ग एवं आचार का आराधक होता है।

परिशिष्ट – 3

दस प्रकार का प्रायश्चित्त

1. आलोचना के योग्य– क्षेत्रादि के कारण आपवादिक व्यवहार शिष्टाचार प्रवृत्ति आदि की केवल आलोचना से शुद्धि होती है।

2. प्रतिक्रमण के योग्य– असावधानी से होने वाली अयतना की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कडं से) होती है।

3. तदुभय योग्य– तप प्रायश्चित्त के अयोग्य, समिति आदि के अत्यन्त अल्प दोषों की शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण से हो जाती है।

4. विवेक योग्य– भूल से ग्रहण किये गये दोष युक्त या अकल्पनीय आहारादि के ग्रहण किये जाने पर अथवा क्षेत्र काल सम्बन्धी आहार की मर्यादा का उल्लंघन होने पर उसे परठ देना ही विवेक प्रायश्चित्त है।

5. व्युत्सर्ग के योग्य– किसी साधारण भूल के हो जाने पर निर्धारित श्वासोच्छ्वास के कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त दिया जाय यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उभय काल प्रतिक्रमण में पांचवा आवश्यक भी इसी प्रायश्चित्त रूप है।

6. तप के योग्य– मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने पर पुरिमड्ढ से लेकर 6 मासिक तप तक का प्रायश्चित होता है। यह दो प्रकार का है :

1. शुद्ध तप, 2. परिहार तप।

7. छेद के योग्य– दोषों के बार बार सेवन से, अकारण अपवाद सेवन से या अधिक लोक निन्दा होने पर आलोचना करने वाले की एक दिन से लेकर छः मास तक की दीक्षा पर्याय का छेदन करना।

8. मूल के योग्य– छेद के योग्य दोषों में उपेक्षा भाव या स्वच्छंदता होने पर पूर्ण दीक्षा छेद करके नई दीक्षा देना।

9. अनवस्थाप्य पारांचिक प्रायश्चित– वर्तमान में इन दो प्रायश्चित्तों का विच्छेदन होना माना जाता है। नई दीक्षा देने के पूर्व कठोर तपमय साधना करवाई जाती है, कुछ समय समूह से अलग रखा जाता है फिर एक बार गृहस्थ का वेष पहनाकर पुनः दीक्षा दी जाती है इन दोनों में विशिष्ट तप एवं उसके काल आदि का अंतर है और इनका अन्य विवेचन बृहत्कल्प उद्देशा 4 में तथा व्यव. उ. 2 में देखें।

निशीथ सूत्र में लघु मासिक आदि तप प्रायश्चित्तों का कथन है भाष्य गाथा 6499 में कहा है कि 19 उद्देशकों में कहे गये प्रायश्चित्त ज्ञान दर्शन चारित्र के अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार एवं अनाचार के हैं। इनमें से स्थविरकल्पी को किसी अनाचार का आचरण करने पर ही प्रायश्चित्त आते हैं और जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों के ये प्रायश्चित्त आते है।

1. अतिक्रम = दोष सेवन का संकल्प।

2. व्यतिक्रम = दोष सेवन के पूर्व की तैयारी प्रारम्भ।

3. अतिचार = दोष सेवन के पूर्व की प्रवृत्ति का लगभग पूर्ण हो जाना।

4. अनाचार = दोष का सेवन कर लेना।

जैसे कि- 1. आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का संकल्प, 2. उसके लिए जाना, 3. लाकर रखना, 4. खा लेना।

स्थविरकल्पी को अतिक्रमादि तीन से व्युत्सर्ग तक के पांच प्रायश्चित्त आते हैं एवं अनाचार सेवन करने पर उन्हें आगे के पांच प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त आता है।

परिहार तप एवं शुद्ध तप किन-किन को दिया जाता है यह वर्णन भाष्य गाथा 6586 से 91 तक में है। वहां पर यह भी कहा है कि साध्वी को एवं अगीतार्थ, दुर्बल और अंतिम तीन संघयण वाले भिक्षु को शुद्ध तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है।

20 वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को, 29 वर्ष की उम्र से अधिक वय वाले को, उत्कृष्ट गीतार्थ 9 पूर्व के ज्ञानी को, प्रथम संहनन वाले को तथा अनेक अभिग्रह तप साधना के अभ्यासी को परिहार तप दिया जाता है। भाष्य गाथा. 6592 में परिहार तप देने की पूर्ण विधि का वर्णन किया गया है।

व्यव. प्रथम उद्देशक के सूत्र 1 से 5 तक एक मासिक प्रायश्चित्त स्थान से लेकर पांच मासिक प्रायश्चित्त स्थान के एक बार सेवन का तथा सूत्र 6 से 10 तक अनेक बार सेवन का सामान्य प्रायश्चित्त कहा गया है साथ ही कपटयुक्त आलोचना का एक गुरुमास प्रायश्चित्त विशेष देने का कहा गया है।

सूत्र 11 से 14 में इन्हीं प्रायश्चित्त स्थानों में से अनेक स्थानों के सेवन से द्विसंयोगी आदि भंगयुक्त अनेक सूत्रों की सूचना की गई है, भाष्य चूर्णि में भंग विस्तार से करोड़ों सूत्रों की गणना बताई गई है।

सूत्र 5,10 तथा 11 से 14 तक के सूत्रों में 'तेण परं-पलिउंचिय अपलिउंचिय ते चेव छम्मासा' यह वाक्य है इसका आशय यह समझना चाहिए कि इसके आगे कोई 6 मास या 7 मास के योग्य प्रायश्चित्त का पात्र हो अथवा कपट सहित या कपट रहित आलोचना करने वाला हो तो भी यही छः मास का प्रायश्चित्त आता है इससे अधिक नहीं आता है।

सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्हं मासाण परं ण दायव्वं ।। 6524 ।।

चूर्णि- तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा परं ण दिज्जइ, सव्वस्सेव एस णियमो, एत्वथ कारणं जम्हा अम्हं वद्धमाण सामिणो एवं चेव परं पमाणं ठवितं।

भावार्थ- वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में इतने ही प्रायश्चित्त की उत्कृष्ट मर्यादा है और सभी साधु साध्वी के लिए यह नियम है।

अगीतार्थ, अतिपरिणामी, अपरिणामी साधु-साध्वी को 6 मास का तप ही दिया जाता है, छेद प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। किन्तु दोष को पुनः पुनः सेवन करने पर या आकुट्टी बुद्धि अर्थात् मारने के संकल्प से पंचेन्द्रिय की हिंसा करने

पर या दर्प से कुशील के सेवन करने पर इन्हें छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है तथा छेद के प्रति उपेक्षा वृत्ति रखने वालों को 'मूल प्रायश्चित्त' दिया जाता है।

अन्य अनेक छोटे बड़े दोषों के सेवन करने पर प्रथम बार में छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है, किन्तु जिसे एक बार इस प्रकार की चेतावनी दे दी गई है कि ' हे आर्य! यदि बारंबार यह दोष सेवन किया तो छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जायेगा' उसे ही छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। जिसे इस प्रकार की चेतावनी नहीं दी गई है उसे छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता है। भाष्य में चेतावनी दिये गये साधु को 'विकोवित' एवं चेतावनी नहीं दिये गये साधु को 'अविकोवित' कहा गया है। विकोवित को भी प्रथम बार लघु दूसरी बार गुरु एवं तीसरी बार छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छः मास का होता है तथा तीन बार तक दिया जा सकता है उसके बाद मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

यथा- छम्मासोवरि जइ पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्यो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।

अहवा- जं चेव तव तियं तं चेव छेदतियं पि-मासब्मंतरं, चउमासब्मंतरं, छमासब्मंतरं च, जम्हा एवं तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मासं, तेसु छिण्णेसु छेय तियं अतिक्कंतं भवति। ततो वि जति परं आवज्जति तो तिण्णि वारा मूलं दिज्जति। **चूर्णि भा. 4 पृ. 351-52**

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं है। अतः किसी भी दोष का छः मास तप या छेद से अधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए। क्योंकि अधिक प्रायश्चित्त देने पर 'तेणं परं' इस सूत्रांश से एवं भाष्योक्त परम्परा से विपरीत आचरण होता है। मूल (नई दिक्षा) प्रायश्चित्त भी तीन बार दिया जा सकता है और छः मास का तप और छः मास का छेद भी तीन बार ही दिया जा सकता है। उसके बाद आगे का प्रायश्चित्त दिया जाता है। अंत में गच्छ से निकाल दिया जाता है।

परिशिष्ट – 4

(उद्देशक 20)

उपसंहार–

लघु मासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों के चार विभागों में जिन जिन दोष स्थानों का वर्णन है तदनुसार उनके समान अन्य भी अनुक्त दोषों को समझ लेना चाहिए। दोष सेवन के भाव एवं प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले की योग्यता आदि कारणों से इन स्थानों में दिये जाने वाले शुद्ध तप आदि के अनेकों विकल्प होते हैं जिन्हें गीतार्थ मुनि की निश्रा से या परम्परा से समझना चाहिए तथा प्रायश्चित्त तालिका से भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

विस्तृत विकल्पों युक्त प्रायश्चित्त विधि को समझने के लिये निशीथ पीठिका का तथा बीसवें उद्देशक के भाष्य चूर्णि का अध्ययन करना चाहिए अथवा बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहार सूत्र एवं निशीथ सूत्र का निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका युक्त पूर्ण अध्ययन करना चाहिए।

निर्युक्ति एवं भाष्य के अनुसार निशीथ की सूत्र संख्या 2022 (दो हजार बाईस) होती है। प्रस्तुत संस्करण में 1401 सूत्र है। यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में सूत्र संख्या भिन्न भिन्न अवश्य है तो भी वह अंतर अधिक नहीं है। किन्तु निर्युक्ति एवं भाष्य में कही गई संख्या से प्रस्तुत संस्करण की सूत्र संख्या का अंतर 621 सूत्रों का है। मूल सूत्रों का इतना अधिक अंतर अवश्य विचारणीय है।

प्रस्तुत संस्करण के सूत्रों का संकलन प्रायः भाष्य एवं चूर्णि का आधार लेकर किया गया है, फिर भी इसके सूत्रों की संख्या भाष्य गाथा 6469 से 73 तक में कही गई पूरे निशीथ के सूत्रों की एवं लघु, गुरु, मासिक, चौमासिक एवं आरोपणा सूत्रों की संख्या से भिन्न है। उपलब्ध सूत्र संख्या से इनका समन्वय करना भी अशक्यसा है। यथा :

प्रथम उद्देशक में सूत्र संख्या 58 उपलब्ध है, भाष्य चूर्णि में भी इतने ही सूत्रों की व्याख्या है, फिर भी इस उद्देशक की सूत्र संख्या उक्त गाथाओं में 252 कही गई है। अतः 2022 सूत्रों का कथन बहुश्रुत गम्य है। वर्तमान में तो स्वाध्याय प्रेमियों को 1401 सूत्रों से ही संतोष करना पड़ेगा। अन्वेषक चिंतन शील आगम प्रेमी बहुश्रुत इस विषय में प्रयत्न करके समाधान प्रकट कर सकते हैं।

बीस उद्देशकों के सूत्रों की तालिका–

उद्देशक	प्रायश्चित्त-स्थान	सूत्र संख्या
1.	गुरु मासिक	58
2.	लघु मासिक	57
3.	लघु मासिक	80-317
4.	लघु मासिक	128
5.	लघु मासिक	52
6.	गुरु चौमासी	78

7.	गुरु चौमासी	92-345
8.	गुरु चौमासी	18
9.	गुरु चौमासी	25
10.	गुरु चौमासी	41
11.	गुरु चौमासी	91
12.	लघु चौमासी	44
13.	लघु चौमासी	78
14	लघु चौमासी	41
15	लघु चौमासी	154-630
16	लघु चौमासी	50
17	लघु चौमासी	155
18	लघु चौमासी	73
19	लघु चौमासी	35
20	आरोपणा	51
	योग्य =	**1401 चउदह सौ एक।**

नोट- (भाष्य में प्रत्येक उद्देशक की अलग-अलग सूत्र संख्या नहीं दी गई है।)

प्रस्तुत संस्करण के सूत्रों की और भाष्य निर्दिष्ट सूत्रों की तालिका-

उद्देशक	प्रायश्चित्त स्थान	भाष्य निर्दिष्ट सूत्र संख्या	प्रस्तुत संस्करण की सूत्र संख्या	अंतर
1	गुरु मासिक	252	58	194
2-5	लघु मासिक	332	317	15
6-11	गुरु चौमासी	644	645	299
12-19	लघु चौमासी	724	630	94
20	आरोपणा	70	51	19
	योग	**2022**	**1401**	**621**

॥ निशीथ परिशिष्ट समाप्त ॥

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र

इस सूत्र के नाम आगम में दो प्रकार से है-1. दशा 2. आयारदशा। किन्तु इसी के आधार से इसका पूरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध प्रचलित है। यह पूरा नाम प्राचीन व्याख्या ग्रन्थों आदि में नहीं मिलता है। अतः यह अर्वाचीन प्रचलित नाम है। इस सूत्र के दस अध्याय हैं, उन्हें पहली दशा यावत-दसवीं दशा कहा जाता है।

पहली दशा में 20 असमाधि स्थान हैं। दूसरी दशा में 21 सबल दोष हैं, तीसरी में 33 आशातना हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ सम्पदा और चार कर्तव्य हैं तथा चार कर्तव्य शिष्य के भी हैं। पांचवी दशा में 10 चित्त की समाधि होने के बोल कहे हैं। छठवीं दशा में श्रावक की 11 प्रतिमाएं हैं। सातवीं दशा में साधु की 12 पडिमाएं हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न अथवा विकृत हो चुका है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था। नौवी दशा में 30 महामोहनीय कर्म-बन्ध के कारण हैं। दसवीं दशा में 9 नियाणों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है।

इस प्रकार इस सूत्र का प्रतिपाद्य विषय आचार प्रधान होने से इसका सूत्रोक्त (ठाणांग 10)' आचार दशा' नाम सार्थक है। वर्तमान में अज्ञात काल से 'दशाश्रुतस्कन्ध' यह नाम प्रसिद्ध है।

प्रथम दशा

साध्वाचार (संयम) के सामान्य लघुतर दोषों को या अतिचारों को यहां 'असमाधि स्थान' कहा है। जिस प्रकार शरीर की समाधि में बाधक सामान्य पीड़ाएं भी होती हैं और विशेष बड़े रोग भी भिन्न-भिन्न होते हैं यथा-1. अल्प चोट लग जाना, काँटा गढ़ जाना, एक फोड़ा हो जाना, हाथ, पांव, अंगुली, आदि अवयव दुखना, दांत दुखना और अल्प समय में ठीक हो जाना, 2. अत्यन्त व्याकुल एवं अशक्त कर देने वाले बड़े-बड़े रोग।

उसी प्रकार सामान्य दोष अर्थात संयम के अतिचार अविधियों को इस दशा में असमाधि स्थान कहा गया है। इनके कारण संयम पूर्ण स्वस्थ नहीं रह पाता है अर्थात् उसकी शुद्ध आराधना में कमी आ जाती है।

बीस असमाधि स्थान-

1.उतावलता से चलना

2. अधंकार में चलते वक्त प्रमार्जन न करना

3. सही रूप से प्रमार्जन न करना

4. अनावश्यक पाट आदि लाना रखना

5. बड़ों के सामने बोलना

6 वृद्धों को असमाधि पहुंचाना

7. पांच स्थावर कायों की बराबर यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना

8. क्रोध भाव में जलना अर्थात् मन में क्रोध भाव रखना

9. क्रोध करना अर्थात् वचन और व्यवहार में क्रोध को प्रकट करना

10. पीठ पीछे निन्दा करना

11. कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना

12. नया कलह करना

13. पुराने शान्त कलह को पुनः उभारना

14. अकाल (अस्वाध्याय काल) में सूत्रोच्चारण करना

15. सचित रज या सचित रज से युक्त हाथ, पांव का प्रमार्जन नहीं करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना

16. अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एवं जोर-जोर से आवेश युक्त बोलना

17. संघ में या संगठन में अथवा प्रेम सम्बन्ध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना

18. कलह करना, झगड़ना, तुच्छता पूर्ण व्यवहार करना

19. मर्यादित समय के अतिरिक्त दिनभर कुछ न कुछ खाते ही रहना

20. अनेषणीय आहार, पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

दूसरी दशा

सबल, प्रबल, ठोस, भारी, वजनदार, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द है।

संयम के सबल दोषों का अर्थ है कि सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। इस दशा में ऐसे बड़े दोषों को 'सबल दोष' कहा है। ये प्रायः संयम के अनाचार रूप होते हैं, इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले दोष हैं, अन्य शब्दों में कहा जाए तो सबल दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधि स्थान संयम में छोटे अपराध हैं।

इक्कीस सबल दोष–

1. हस्त कर्म करना

2. मैथुन सेवन करना

3. रात्रि भोजन करना

4. साधु के निमित्त बने आधाकर्मी आहार, पानी आदि को लेना

5. राजा के घर गोचरी जाना।

6. सामान्य साधु-साध्वियों के निमित्त बने उद्देशिक आहार आदि लेना या साधु के लिए खरीदना आदि क्रिया की हो, ऐसे आहारादि पदार्थ लेना।

7. बारम्बार तप त्याग आदि का भंग करना।

8. बारम्बार गण का त्याग करना और स्वीकार करना।

9-19 घुटने (जानु) जल में डूबे इतने पानी में एक मास में तीन बार या वर्ष में 10 बार चलना अर्थात् आठ महिने के आठ और एक अधिक कुल 9 बार उतरने पर सबल दोष नहीं है।

10-20. एक मास में तीन बार और वर्ष में 10 बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। अर्थात् उपाश्रय दुर्लभ होने पर 9 बार वर्ष में माया करना पड़े, वह सबल दोष नहीं है।

11. शय्यातार पिंड ग्रहण करना।

12-14 जानकर संकल्प पूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना।

15-17 त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना।

18. जानकर सचित हरी वनस्पति (1. मूल. 2. कंद, 3. स्कन्ध, 4. छाल, 5. कोपल, 6. पत्र, 7. पुष्प, 8. फल, 9. बीज और 10. हरी वनस्पति) खाना।

21. जानकर सचित जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार, अनाचार अन्य अनेकों हो सकते हैं फिर भी यहां अपेक्षा से 20 असमाधि स्थान और 21 सबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अंतर्भावित कर लेना चाहिए।

तीसरी दशा

तेंतीस आशातना-

संयम के मूल गुण एवं उत्तर गुण के दोषों के अतिरिक्त अविवेक और अभक्ति संयोग से गुरु रत्नाधिक आदि के साथ की जाने वाली प्रवृत्ति को आशातना कहते हैं। इससे संयम दूषित होता है एवं गुणों का नाश होता है। क्यों कि विनय और विवेक के सद्भाव में ही गुणों की वृद्धि होती है और पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा भी है

एवं धम्मस विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।

जेण कित्तिं सुयं सिग्धं, निस्सेसं चाभिगच्छई। दश. अ. 9, उ. 2, गा. 2

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।। दश. अ. 4, गा. 8

बड़ों का विनय नहीं करना एवं अविनय करना ये दोनों ही आशातना हैं। आशातना देव, गुरु की एवं संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म सिद्धान्तों की आशातना हो सकती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है- देव, गुरु की विनयभक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपण करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा-तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है। इन सभी अपेक्षाओं से आवश्यक सूत्र में 33 आशातनाएं कही हैं। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु रत्नाधिक (बड़े) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

बड़ों के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने में, आहार, विहार, निहार सम्बन्धी समाचारी के कर्तव्यों में, बोलने में, शिष्टाचार में, भावों में और आज्ञा पालन में अविवेक अभक्ति से प्रवर्त्तन करना 'आशातना 'है।

तात्पर्य यह है कि बड़ों के साथ प्रत्येक प्रवृत्ति में सभ्यता शिष्टता दीखे और जिस व्यवहार प्रवर्तन से बड़ों का चित्त प्रसन्न रहे, उस तरह रहते हुए ही प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

चौथी दशा

आठ सम्पदा-

साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन में नव-दीक्षित (तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक), बालक (16 वर्ष की उम्र तक), एवं तरुण (40 वर्षी वय तक के) साधु-साध्वियों को आचार्य एवं उपाध्याय की निश्रा के बिना रहने का स्पष्ट निषेध है। साथ ही शीघ्र ही अपने आचार्य, उपाध्याय के निश्चय करने का ध्रुव विधान किया है। साध्वी के लिए 'प्रवर्त्तिनी' की निश्रा सहित तीन पदवीधरों की निश्रा होना आवश्यक कहा है। ये पदवीधर शिष्य शिष्याओं के व्यवस्थापक एवं अनुशासक होते हैं। अतः इनमें विशिष्ट गुणों की योग्यता होना आवश्यक है। व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में इनकी आवश्यक एवं औचित्य पूर्ण योग्यता के गुण कहे गए हैं।

प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण कहे हैं यथा -

1. आचार सम्पन्न- सम्पूर्ण संयम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध मानादि कषायों से रहित सुन्दर स्वभाव वाला।

2. श्रुत सम्पन्न- आगमोक्त अनुक्रमानुसार अनेक शास्त्रों को कंठस्थ धारण करने वाला एवं उनके अर्थ, परमार्थ को धारण करने वाला।

3. शरीर सम्पन्न- समुचित संहनन संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

4. वचन सम्पन्न- आदेय वचन वाला, मधुर वचन वाला, राग-द्वेष रहित एवं भाषा सम्बन्धी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

5. वाचना सम्पन्न- सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने कराने में,.अर्थ परमार्थ को समझाने में तथा शिष्य की क्षमता योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग-द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने के स्वभाव वाला।

6. मति सम्पन्न- स्मरण शक्तिसम्पन्न एवं चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान हो अर्थात् भोला भद्रिक न हो।

7. प्रयोग मति सम्पन्न- वाद-विवाद शास्त्रार्थ में, प्रश्नों-जिज्ञासाओं के समाधान देने में, परिषद् का विचार कर योग्य विषय का विश्लेषण करने में एवं सेवा व्यवस्था में, समय पर ही उचित बुद्धि की स्फुरणा हो, समय पर सही लाभदायक निर्णय एवं प्रवर्त्तन कर सके।

8. संग्रह परिज्ञा सम्पन्न- व्यवस्था एवं सेवा के द्वारा साधु-साध्वी की और विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा-श्रावक-श्राविकाओं की भक्ति, निष्ठा, ज्ञान, विवेक की वृद्धि करने वाला। जिससे संयम के आवश्यक विचरण क्षेत्र, उपधि आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एवं सभी निराबाध संयम आराधना करते रहे।

आचार्य के शिष्यों के प्रति कर्त्तव्य-

1. संयम सम्बन्धी और त्याग तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराना एवं उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में रहने की या अकेले रहने की विधियों एवं आत्म समाधि के तरीकों का ज्ञान एवं अभ्यास कराना।

2. आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थ ज्ञान करवा कर उससे किस तरह हिताहित होता है यह समझाना एवं उससे पूर्ण आत्म-कल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना।

3. शिष्यों की श्रद्धा को पूर्णरूप से दृढ़ बनाना और ज्ञान में एवं गुणों में अपने समान बनाने का प्रयत्न करना।

4. शिष्यों में उत्पन्न दोष-कषाय, कलह, आकांक्षाओं का उचित उपायों द्वारा समन करना। ऐसा करते हुए भी अपने संयम गुणों की एवं आत्म समाधि की पूर्ण रूपेण सुरक्षा एवं वृद्धि बनाये रखना।

शिष्यों का गण एवं आचार्य के प्रति कर्तव्य :

1. आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति सुरक्षा एवं विभाजन में चतुर होना।

2. सदा आचार्य गुरुजनों के अनुकूल प्रवर्त्तन करना।

3. गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एवं रत्नाधिकों का यथायोग्य आदर, भाव और सेवा करने में सिद्धहस्त होना।

4. शिष्य वृद्धि, उनके संरक्षण-शिक्षण में सहयोगी होना। रोगी साधुओं की यथायोग्य सार-सम्भाल करना एवं मध्यस्थ भाव से साधुओं की शान्ति बनाए रखने में निपुण होना।'

पाचंवी दशा

दस चित्त समाधि के बोल–

सांसारिक आत्मा को धन, वैभव, भौतिक सामग्री की प्राप्ति होने पर आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्म गुणों की अनुपम उपलब्धि में आत्मार्थी मुमुक्षुओं को अनुपम आनन्दरूप चित समाधि की प्राप्ति होती है। वे दस उपलब्धियां ये हैं -

1. अनुपम धर्म भावों की प्राप्ति या वृद्धि होने पर
2. जाति स्मरण ज्ञान होने पर
3. अत्यन्त शुभ स्वप्न देखने पर
4. देव दर्शन होने पर
5. अवधिज्ञान
6. अवधि दर्शन
7. मनः पर्यवज्ञान
8. केवल ज्ञान
9. केवल दर्शन उत्पन्न होने पर
10. कर्मों से मुक्त हो जाने पर

छठवीं दशा

श्रावक प्रतिमा–

श्रावक का प्रथम मनोरथ आरम्भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना करने का है। उस निवृत्ति साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक की प्रतिमाओं को अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को धारण कर सकता है। अनिवृत्त साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक, पौषध आदि बारह व्रतों का आराधन करता है किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियों एवं जिम्मेदारियों के कारण, अनेकों आगारों के साथ उन व्रतों को धारण करता है किन्तु निवृत्तिमय अवस्था में आगारों से रहित उपासक प्रतिमाओं का पालन दृढ़ता के साथ किया जाता है।

ग्यारह प्रतिमाएं–

1. पहली पड़िमा– आगार रहित निरतिचार सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा का पालन। इसमें पूर्व के धारण किए अनेक नियम बारह व्रतों का पूर्व प्रतिज्ञा एवं आगार अनुसार पालन किया जाता है, उन नियमों को छोड़ा नहीं जाता।

2. दूसरी पड़िमा- अनेक छोटे, बड़े नियम प्रत्याखान अतिचार रहित और आगार रहित पालन करने की प्रतिज्ञा करना और यथावत पालन करना।

3. तीसरी पड़िमा- सुबह, दोपहर एवं शाम को नियत समय पर ही निरतिचार शुद्ध सामायिक करना एवं 14 नियम भी नियमित पूर्ण रूप से आगार रहित धारण कर यथावत पालनकरना।

4. चौथी पड़िमा- उपवास युक्त छः पौषध (दो अष्टमी, दो चतुदर्शी, अमावश, पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।

5. पांचवीं पड़िमा- पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।

6. छठी पडिमा- ब्रह्मचर्य का आगार रहित प्रतिपूर्ण पालन करना। साथ ही निम्न नियम रखना :-1. स्नान त्याग, 2. रात्रि भोजन त्याग, 3. धोती की एक लांग खुली रखना।

7. सातवीं पड़िमा- सचित वस्तु खाने का त्याग आगार रहित।

8. आठवीं पड़िमा- स्वयं हिंसा करने का त्याग करना आगार रहित।

9. नौवीं पड़िमा- दूसरों से सावध कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्म कार्य के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा, निर्देश, आदेश नहीं करना।

10. दसवीं पड़िमा- सावध कार्य के अनुमोदन का भी त्याग करना अर्थात् अपने **लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना।**

11. ग्यारहवीं पड़िमा- श्रमण के समान वेश एवं चर्या धारण करना।

किन्तु लोच करना, विहार करना, सामुदानिक गोचरी करना और आजीवन संयम चर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिबंध नहीं है। अतः वह भिक्षा आदि के समय स्वयं को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातीजनों के घरों में ही गोचरी जाता है।

आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

सातवीं दशा

बारह भिक्षु प्रतिमा-

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है कि 'कब में एकल विहार प्रतिज्ञा धारण करके विचरण करूं'। भिक्षु प्रतिमा भी आठ मास की एकल विहार प्रतिज्ञा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एवं कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है। इनके धारण करने के लिए प्रारम्भ के तीन संहनन, 9 पूर्वो का ज्ञान 20 वर्ष की दीक्षा एवं 29 वर्ष की उम्र होना आवश्यक है,ऐसा कहा जाता है। अनेक प्रकार की साधनाओं के एवं परीक्षाओं के बाद ही भिक्षु को प्रतिमा धारण करने की आज्ञा दी जाती है।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम-

1. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही विवेक के साथ लेना।

2. दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग में गोचरी लाना, खाना, कर लेना।

3. छह प्रकार की भ्रमण विधि के किसी भी अभिग्रह से गोचरी लेने जाना। -

4. अज्ञात क्षेत्र में दो दिन और ज्ञात परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना।

5. चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रहना धर्मोपदेश भी नहीं देना।

6-7. तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।

8-9. साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री पुरुष आवें, ठहरे या अग्नि लग जावे तो भी बाहर नहीं निकलना।

10-11. पांव से कांटा या आंख में से रज आदि नहीं निकालना।

12. सूर्यास्त के बाद एक कदम नहीं चलना रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जा-आ सकता है।

13. हाथ पांव के सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना।

14. अचित्त जल से भी सुख-शान्ति के लिए हाथ-पांव आदि नहीं धोना।

15. उन्मत्त पशु चलते समय सामने आ जाए तो भय से मार्ग नहीं छोड़ना।

16. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना। ये नियम सभी प्रतिमाओं में आवश्यक समझ लेना।

प्रथम सात प्रतिमाएं एक-एक महिने की हैं। उनमें दत्ति की संख्या एक से सात तक वृद्धि होती है। आठवीं, नवमीं व दसवीं प्रतिमाएं सात-सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती है। सूत्रोक्त तीन-तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में छट्ठ (बेले) के तप के साथ अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं भिक्षु प्रतिमा में अष्ठम तप (तेले) के साथ श्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

आठवीं दशा

इस दशा का नाम पर्युषणा कल्प है। विक्रम की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दि में अर्थात वीर निर्वाण अठारवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में इस दशा के अनुचित्त उपयोग एवं अवलम्बन से कल्प सूत्र की रचना कर, उसे प्रमाणिक प्रसिद्ध करके प्रचारित

किया गया है। अन्य किसी विस्तृत सूत्र के पाठों के साथ इस दशा को जोड़कर और स्वच्छंदतापूर्वक अनगिनत परिवर्तन परिवर्धन करके इस दशा को पूर्ण विकृत कर व्यवछिन्न कर दिया गया है। अतः यह दशा अनुपलब्ध-व्यवच्छिन्न समझनी चाहिए। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्युषण सम्बन्धी समाचारी के विषयों का कथन था।

विशेष जिज्ञासु पाठक आगे परिशिष्ट का अवलोकन करें।

नवमी दशा

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है उसमें भी महामोहनीय कर्म अवस्था और भी तीव्र होती है, उसके बंध सम्बन्धी 30 कारण यहां कहे गए हैं।

तीस महामोह के स्थान–

1-3. त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वांस रुंधकर, धुआं करके मारना

4-5. शस्त्र प्रहार से सिर फोड़कर, मस्तक पर गीला चमड़ा बांधकर मारना

6. धोखा देकर भाला आदि से मारकर हंसना

7. मायाचार कर उसे छिपाना या शास्त्रार्थ छिपाना

8. मिथ्या आक्षेप लगाना

9. भरी सभा में मिश्र भाषा प्रयोग कर कलह करना

10. विश्वस्त मंत्री द्वारा राजा को राज्यभ्रष्ट कर देना

11-12. मिथ्या ही अपने को ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी प्रसिद्ध करना

13 उपकारी का ही धन अपहरण करना

14. उपकारी पर अपकार करना

15. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना

16-17. अनेकों के रक्षक नेता या स्वामी आदि को मारना

18. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना,

19. तीर्थंकरों की निन्दा करना

20. मोक्ष मार्ग की द्वेष पूर्वक निन्दा करके भव्य जीवों को मार्ग भ्रष्ट करना

21-22. उपकारी आचार्य उपाध्याय की अवहेलना करना। उनका आदर, सेवा-भक्ति न करना।

23-24. बहुश्रुत या तपस्वी नहीं होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत या तपस्वी कहना

25. समर्थ होते हुए भी कुलषित भावों के कारण सेवा नहीं करना

26. संघ में भेद उत्पन्न करना

27. जादू-टोना आदि करना

28. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना

29. देवों की शक्ति का अपलाप (अस्वीकार) करना, उनकी निन्दा करना

30. देवी देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसायों की तीव्रता या क्रूरता के होने पर इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दसवीं दशा

संयम तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण आगे के भव में ऐच्छिक सुख पूर्ण अवस्था प्राप्त करने के लिए दांव पर लगा देना 'निदान' (नियाणा करना) कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम तप की पूंजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है अर्थात् द्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व एवं नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्म भाव के निदानों से मोक्ष प्राप्ति में दूरी पड़ती है। अतः निदान कर्म त्याज्य है।

नौ निदान-

1. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष के भोगों का निदान।

2. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री के भोगों का निदान।

3. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री के भोगों का निदान।

4. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष के भोगों का निदान।

5. 6-7 संकल्पनुसार दैविक सुख का निदान।

8. श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान।

9. साधु जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित संयम तप की आराधना करनी चाहिए।

नोट- विस्तृत जानकारी के लिए ब्यावर के प्रकाशित छेद सूत्रों के हिन्दी विवेचन का स्वाध्याय करना चाहिए।

टिप्पण- 1. पांचवा निदान - स्वयं की देवी, स्वयं विकुर्वित देवी एवं अन्य की देवी के भोगों की चाहना करना।

छट्ठे निदान में अन्य देवों की देवी की चाहना नहीं की जाती है और सातवें में स्वयं की विकुर्वित देवी की चाहना भी नहीं होती है। अनिदानकृत आराधक श्रमण के कोई भी चाहना नहीं होती है। वह वहां सहज दैविक सुख में ही संतुष्ट रहता है।

।। दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र का सारांश समाप्त ।।

परिशिष्ट–1

आठवीं दशा के विकृत एवं विच्छेद होने का सम्प्रेक्षण

इस दशा का नाम 'पर्युषणाकल्प है' इसका उल्लेख ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणे में है तथा दशाश्रुतस्कन्ध निर्युति गाथा में 7 में 'कप्पो' ऐसा नाम भी उपलब्ध है।

दशाश्रुतस्कंध सूत्र की सभी दशाओं में एक-एक विषय का ही निरूपण किया गया है। तदनुसार इस दशा में भी 'पर्युषणा कल्प' सम्बन्धी एक विषय का ही प्रतिपादन स्थविर भगवंत श्री भद्रबाहु स्वामी ने किया है। निर्युक्तिकार के समय तक उसका वही रूप रहा है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा में संयम-समाचारी के कुछ विषयों का विवेचन किया है और प्रारम्भ में ' पर्युषण' शब्द की व्याख्या की है। सम्पूर्ण सूत्र की निर्युक्ति गाथा 67 हैं। जिसमें प्रारम्भ की 23 गाथाओं में केवल पर्युषण का विस्तृत विवेचन है।

वर्तमान में उपलब्ध संक्षिप्त पाठ की रचना में सम्पूर्ण कल्प-सूत्र (पर्युषणाकल्प-सूत्र) का समावेश किया गया है। उस कल्पसूत्र में 24 तीर्थंकरों के जीवन का वर्णन है। उनमें भगवान महावीर के पांच कल्याणकों का विस्तृत वर्णन है और शेष तीर्थंकरों के कल्याणकों का संक्षिप्त वर्णन है। बाद में यह भी सूचित किया है कि भगवान महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुए 680 वर्ष बीत गये हैं और पार्श्वनाथ भगवान को मोक्ष गये 1230 वर्ष बीत गये हैं। तदनन्तर संवत्सर सम्बन्धी मत-भेद का भी कथन है। वीर-निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों की - स्थविरावली है। उनमें भी मतभेद और संक्षिप्त-विस्तृत वाचना भेद है। अंत में चातुर्मास समाचारी है। चिन्तन करने पर इन विभिन्न विषयों के बारहसौ श्लोक प्रमाण जितनी बड़ी आठवीं दशा का होना उचित प्रतीत नहीं होता है।

दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र है। छेदसूत्रों के विषय और उनकी रचना पद्धति कुछ भिन्न ही है। बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्र छेद सूत्र हैं। इनमें छोटे-छोटे उद्देशक हैं और केवल आचार का विषय है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के निर्युक्तिकार भी पांचवी गाथा में इस सूत्र की छोटी छोटी दशाएं होने का ही निर्देश करते हैं और बड़ी दशाएं अन्य अंगसूत्रों में है ऐसा कथन करते हैं। अतः वर्त्तमान में उपलब्ध कल्पसूत्र को समाविष्ट करने वाला संक्षिप्त पाठ प्राचीन प्रतीत नहीं होता है तथा निर्युक्ति व्याख्या से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। क्योंकि निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में पर्युषणासूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या की है जबकि कल्पसूत्र में सर्वप्रथम नमस्कार मंत्र तथा तीर्थकर वर्णन है और पर्युषणा का सूत्र 900 श्लोक प्रमाण वर्णन के बाद में है।

कुछ चिन्तकों का यह मत है कि 'आठवीं दशा को अलग करके कल्पसूत्र नाम अंकित कर दिया गया है, अतःसम्पूर्ण कल्पसूत्र भद्रबाहु स्वामी रचित आठवीं दशा ही है।' यह एक कल्पना मात्र है और इसे बिना सोचे-विचारे, अनेकों ने सत्य मान लिया है।

नंदी सूत्र में तीन कल्प सूत्रों के नाम हैं- 1. कप्पसुत्तं (बृहत्कल्प-सूत्र) 2. चुल्लकप्पसुत्तं 3. महाकप्पसुत्तं। किन्तु इस पर्युषणा कल्पसूत्र का कहीं नाम नहीं है। नंदी सूत्र का संकलनकाल वीरनिर्वाण की दशवीं शताब्दी का माना जाता है। तब तक इस कल्पसूत्र का स्वतंत्र अस्तित्त्व ही नहीं था, यह स्पष्ट और सुनिश्चित है।

आर्य भद्रबाहु स्वामी ने दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, कल्पसूत्र (बृहत्कल्प सूत्र) और व्यवहार सूत्र इन तीन छेद सूत्रों की रचना की है, इनमें से एक सूत्र का नाम कल्पसूत्र है ही, तो उन्हीं के दशाश्रुतस्कन्ध की एक दशा को अलग करके नया कल्पसूत्र का स्वतंत्र संकलन करना किसी भी विद्वान द्वारा कैसे आवश्यक या उचित माना जा सकता है?

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिकार ने प्रथम गाथा में भद्रबाहु स्वामी को 14 पूर्वी कहकर वंदन किया है और तीन छेद सूत्रों का कर्ता कहा है।

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयणाणिं।
सुत्तस्सकारगमिसिं, दसासुकप्पेयववहारे ।। निर्युक्तिगाथा-1 ।।

चूर्णिकार ने भी इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहा है कि-निर्युक्तिकार इस प्रथम गाथा में सूत्रकार को आदि मंगल के रूप में प्रणाम करते हैं। अतः यह सहज सिद्ध है कि चूर्णिकार के समय तक स्वोपज्ञ निर्युक्ति कहने की भ्रांत धारणा भी नहीं थी और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूत्रकार भद्रबाहु स्वामी से निर्युक्तिकार भिन्न हुए हैं। क्योंकि निर्युक्तिकार स्वयं सूत्रका भद्रबाहु स्वामी को वंदन करते हैं। अतः स्वोपज्ञ निर्युक्ति मानना भी सर्वथा असंगत है। दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति करते हुए आठवीं दशा की निर्युक्ति भी की है। उसमें न तो इस संक्षिप्त पाठ की सूचना की है और न ही अलग संकलित किए गये कल्पसूत्र की कोई चर्चा करी है।

निर्युक्तिकार ने आठ आचार-प्रधान आगमों की निर्युक्ति की है। यदि पर्युषणाकल्पसूत्र आठवीं दशा से अलग होता तो उसका निर्देश या उसकी व्याख्या अवश्य करते। अतः यह निश्चित है कि निर्युक्तिकार के समय तक भी इस बारसा कल्पसूत्र अर्थात् पर्युषणा कल्पसूत्र का अस्तित्त्व नहीं था। साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका परिचायक यह नाम विक्रम की बारहवीं शताब्दी पूर्व के किसी भी आगम या ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है।

आचार्य मलयगिरि के समय तक प्रायः सभी आगमों की निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका आदि व्याख्याएं रची गई थीं, किन्तु इस कल्पसूत्र की व्याख्या करने का किसी भी विद्वान ने संकल्प नहीं किया और कहीं भी किसी ने इसका नाम-निर्देशित भी नहीं किया।

एक प्रचलित धारणा यह भी है कि 'ध्रुवसेन राजा के पुत्र शोक को दूर करने के लिये कालकाचार्य ने आठवीं दशा का सभा में वाचन किया और उस समय से ही यह अलग सूत्र के रूप में प्रचलित हुआ। उसका आज तक पर्युषण के दिनों में सभा के बीच वाचन किया जाता है।' यह भी एक कल्पना कल्पित करके जोड़ दी गई है इसमें मौलिकता तनिक भी नहीं है।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य अनेक हुए हैं, उनमें अंतिम कालकाचार्य देवर्द्धिगणि के समय वीरनिर्वाण की दसवीं सदी में और विक्रम की छठवीं सदी के प्रारम्भ में हुए हैं।

ध्रुवसेन राजा भी तीन हुए हैं, जिनमें प्रथम ध्रुवसेन वीरनिर्वाण के 11 वीं शताब्दी के मध्यकाल में, दूसरे 12 वीं शताब्दी के मध्यकाल में और तीसरे 12 वीं शताब्दी के अंतिम काल में हुए हैं। प्रधम ध्रुवसेन राजा के पुत्र-शोक की घटना वीरनिर्वाण के बाद ग्यारवीं शताब्दी के 54 वें वर्ष में घटी है। उस समय में आनन्दपुर में कालकाचार्य के चातुर्मास करने का कोई भी उल्लेख इतिहास से सिद्ध नहीं हो सकता है।

सामान्य साधुओं को और साध्वियों को भी छेदसूत्र नहीं पढ़ाये जाने की धारणा और परम्परा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऐसे इस छेदसूत्र के अध्ययन का पुत्र-शोक दूर करने के लिये राजसभा में वाचन करने का कथन किंचित् भी उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपलब्ध कल्पसूत्र का यह स्वतंत्र स्वरूप प्राचीन कालीन सिद्ध नहीं होता है। अतः दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में उसके सम्पूर्ण अस्तित्त्व का अथवा उसके संक्षिप्त पाठ का बाद में संकलित होना या प्रक्षिप्त करना स्वतः सिद्ध है।

अनुप्रेक्षा से फलित निष्कर्ष यह है कि विक्रम की 12वीं,13 वीं शताब्दी में चुल्लकल्पसूत्र, महाकल्पसूत्र या पट्टावलियां आदि के संग्रह से यह सूत्र संकलित किया गया और इसके साथ पर्युषणाकल्प नामक आठवीं दशारूप समाचारी को परिवर्धित या परिवर्तित करके अन्त में जोड़ा गया है तथा उस समूचे संग्रहसूत्र को चौदह पूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर प्रसिद्ध किया गया और प्राचीनता दिखाने के लिए सभा में वाचन का नाम भी कल्पित व असंगत कथा द्वारा कालाकाचार्य से जोड़ दिया गया। यहां तक कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा में भी पूरा पर्युषणाकल्पसूत्र लिख दिये जाने का दुस्साहस होने लगा। इस प्रकार 2100 श्लोक-प्रमाण पूर्ण दशाश्रुतस्कन्ध कल्पित कर उसको चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर उसका महत्त्व बढ़ाया गया है।

इससे अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि 'आठवीं' दशा में उपलब्ध सम्पूर्ण पर्युषणाकल्पसूत्र रूप संक्षिप्त पाठ मौलिक नहीं हैं।

पर्युषणाकल्प सूत्र में स्थविरावली के बाद समाचारी के प्रारम्भ का सूत्र भी मौलिक और शुद्ध नहीं है, उस सूत्र का भावार्थ देखने से यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

समाचारी - प्रकरण के प्रथम सूत्र में यह कहा गया कि ''श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर वर्षावास किया। उसी प्रकार गणधरों ने किया, उसी प्रकार उनके शिष्यों ने एवं स्थविरों ने किया है और उसी प्रकार आजकल विचरने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ करते है तथा हमारे आचार्य उपाध्याय भी उसी प्रकार वर्षावास करते हैं और हम भी वर्षावास का एक मास और बीस दिन बीतने पर (भादवासुदी पंचमी) को चातुर्मास करते हैं। उसके पहले भी अर्थात् चतुर्थी को करना कल्पता है किन्तु उसके बाद में करना नहीं कल्पता है।''

दशाश्रुतस्कन्ध से हटाये गये पर्युषणाकल्प अध्ययन की साधु समाचारी वर्णन के पाठ का यह प्रथम सूत्र है। चौदहपूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ़ बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र भी है। इनके सूत्रों से मिलान करने पर समाचारी का यह सूत्र उनकी रचना शैली के समकक्ष प्रतीत नहीं होता है क्योंकि इस सूत्र के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उद्भूत होते हैं। यथा

1. भगवान् ने कौनसा वर्षावास किस ग्राम या नगर में एक मास और बीस दिन बाद किया? क्योंकि भगवान् ने तो सभी चातुर्मास आषाढ़ी चौमासी के पूर्व ही स्थिर किये, ऐसे उल्लेख आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध है।

वर्षावास के लिए ठहरने के स्थान की चार मास पर्यन्त आज्ञा लेकर ही संत सतियों के रहने की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है। इतिहास में एक भी उल्लेख ऐसा उपलब्ध नहीं है कि किसी भी अमुक साधु ने एक मास और बीस दिन बाद भादवा शुक्ला पंचमी को चौमासा बिठाया हो।

भगवान् के नाम से किसी प्रकार का विधान करना वह भी छेदसूत्र की पद्धति नहीं है। निर्युक्तिकार ने भी प्रथम सूत्र की व्याख्या 23 गाथाओं में की है उनमें कहीं भगवान् महावीर स्वामी के वर्षावास के निर्णय का कथन नहीं है।

2. 'भगवान ने जैसा किया वैसा ही गणधरों ने किया' वैसा ही उनके शिष्यों ने एवं स्थविरों ने किया, वैसा ही आजकल के श्रमण तथा हमारे आचार्य और हम करते हैं। पहले दिन पर्युषण कर सकते हैं किन्तु बाद में नहीं कर सकते। ऐसी क्रमबद्ध रचना को चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी की रचना कहना भी असंगत है।

3. उक्त सूत्र में 'हम' शब्द का प्रयोग करने वाला कौन है? भद्रबाहु जैसे महान् श्रुतधर इस प्रकार कहें, यह कल्पना करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार पूर्वा पर के तथ्यों पर चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण का वह प्रथम सूत्र और अन्य अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित है, अतः यह समाचारी भी भद्रबाहु की रचना प्रतीत नहीं होती है।

इस दशा का जो स्वरूप निर्युक्तिकार के सामने था वह उपलब्ध कल्पसूत्र में दिखाई नहीं देता है। अतः इस आठवीं दशा को संक्षिप्त पाठ वाली कहने की अपेक्षा आचारांग के सातवें अध्ययन के समान विलुप्त कहना ही उचित प्रतीत होता है।

यहां अनेक संस्करणों में जो संक्षिप्त मूल-पाठ है वह पर्युषणा कल्पसूत्र का प्रथम सूत्र और अन्तिम सूत्र का अंश लेकर संकलित किया हुआ है। यह परम्परा का पालन मात्र है।

आगमों के सूत्रपाठ का एक अक्षर भी आगे पीछे, कम, ज्यादा, इधर-उधर करना बहुत बड़ा दोष व ज्ञानातिचार माना गया है। फिर भी समय-समय पर अनेक ऐसे प्रक्षेप आगमों में हुए हैं। उनमें से यह भी एक ज्वलंत उदाहरण है।

उपलब्ध कल्पसूत्र का 291 वां अंतिम उपसंहार सूत्र जो है उसका भावार्थ यह है कि 'यह सम्पूर्ण (1200 श्लोक प्रमाण का पर्युषणा कल्पसूत्र) अध्ययन (आठवीं दशा) भगवान् महावीर स्वामी ने राजगृह नगर में देवयुक्त परिषद् में बारम्बार कहा।' इस उपसंहार सूत्र को मनीषी पाठक पढ़कर आश्चर्य करेंगे कि भगवान् के जीवन का सारा वर्णन उनके ही मुख से परिषद में कहलाना और निर्वाण के 980 वर्ष या 993 वर्ष बीतने का कथन, स्थविरों की वंदना के पाठ सहित

स्थविरावली तथा असंगत पाठों से युक्त समाचारी को महावीर के श्रीमुख से कहलवाना और उसी आठवीं दशा को 14 पूर्वी भद्रबाहु रचित कहना कितना बेतुका प्रयास है। जिसे किसी भी तरह सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह कल्पसूत्र भगवान महावीर ने राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान में बारम्बार कहा था तो किस दिन कहा? क्या एक ही दिन में कहा या अलग-अलग दिनों में कहा? बारम्बार क्यों कहा? कितने घन्टों तक निरंतर कहा? - इत्यादि प्रश्नों का सही समाधान कुछ नहीं मिल सकता है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा के जिन-जिन विषयों की व्याख्या की है उनसे भी उक्त प्रश्नों का निर्णय नहीं हो पाता। निर्युक्ति की 61 वीं उपसंहार-गाथा है, उसके बाद उपलब्ध 6 गाथाओं को भी मौलिक नहीं कहा जा सकता।

इकसठ गाथाओं में आये विषयों का सारांश इस प्रकार है-

1. साधु-साध्वी को वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर अर्थात् भादवा सुदी पंचमी को पर्युषणा (संवत्सरी) करनी चाहिए।

2, साधु साध्वी जिस मकान में निवास करें वहां उन्हें प्रत्येक दिशा में आधा कोस सहित आधा योजन से आगे नहीं जाना चाहिए।

3. चातुर्मास में साधु-साध्वी को विगय का सेवन नहीं करना चाहिए। रोगादि कारण से विगय सेवन करना हो तो आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

4. वर्षावास में साधु-साध्वी को शय्या संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है अर्थात् जीव रक्षा हेतु आवश्यक समझना चाहिए।

5. वर्षावास में साधु साध्वी को तीन मात्रक ग्रहण करना कल्पता है यथा-1. उच्चार (बड़ी नीत का) मात्रक 2. प्रश्रवण मात्रक 3. खेल-कफ मात्रक।।

6. साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद गाय के रोम जितने बाल रखना नहीं कल्पता है अर्थात् गाय के रोम जितने बाल हों तो भी लोच करना आवश्यक होता है।

7. साधु-साध्वी को चातुर्मास में पूर्व भावित श्रद्धावान् के अतिरिक्त किसी को दीक्षा देना नहीं कल्पता है।

8. चातुर्मास में साधु-साध्वी को समिति गुप्ति की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए।

9. साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद किसी भी पूर्व क्लेश (कषाय) को अनुपशान्त रखना नहीं कल्पता है।

10. साधु-साध्वी को वर्ष भर के सभी प्रायश्चित्त तपों को चातुर्मास में वहन कर लेना चाहिए।

आगे 62 वीं गाथा में कहा है 'तीर्थंकर और गणधरों की स्थविरावली 24 वें तीर्थंकर के शासन में कही जाती है' और शेष (63-67) 5 गाथाओं में अल्प वर्षा में गोचरी जाने का विधान किया गया है।

उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र में तो तीर्थंकर, गणधर और स्थविरों के वर्णन पहले हैं और उसके बाद सामाचारी का वर्णन है। किन्तु निर्युक्ति में सामाचारी के प्रायश्चित्तों का विधान करने वाली उपसंहार गाथा के बाद में उसका कथन है। अतः उसका कोई महत्त्व नहीं है अपितु ऐसा कथन अनेक आशंकाओं का जनक भी है अर्थात अपने आग्रह की सिद्धि के लिए यह गाथा रचकर जोड़ दी गई है।

स्थविरावली के कथन के बाद वर्षा में गोचरी जाने का विधान 5 निर्युक्ति गाथाओं में है। वह भी दशवैकालिक सूत्र तथा आचारांग सूत्र से विपरीत विधान है। अतः संदेहास्पद है अर्थात् उपसंहार के बाद होने से और आगम विपरीत कथन करने वाली होने से ये पांच गाथाएं भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार निर्युक्ति की अंतिम छ गाथाएं प्रक्षिप्त ज्ञात होती है। जब सूत्र पाठों में भी इतना परिवर्तन हो जाय तो निर्युक्ति में होना क्या आश्चर्य है?

उक्त सभी विचारणाओं का तात्पर्य यह है कि पर्यूषणा कल्प सूत्र स्वतंत्र संकलित सूत्र है, न कि दशाश्रुतस्कंध सूत्र की आठवीं दशा है। अतः आठवीं दशा का संक्षिप्त पाठ जो समूचे पर्यूषणा कल्पसूत्र को समाविष्ट करता हुआ दिखाया जाता है वह अशुद्ध है अर्थात् कल्पित है। यह निर्युक्ति आदि व्याख्याओं से भी स्पष्ट सिद्ध है।

पर्यूषणा कल्प सूत्र को आठवीं दशा एवं भद्रबाहु स्वामी रचित तथा भगवद् भाषित मानने में अनेक विरोध एवं विकल्प उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार व्यवच्छिन्न हुई वर्तमान में इस आठवीं दशा के आदि, मध्य और अंतिम मूल-पाठ का सही निर्णय निर्युक्ति व्याख्या के आधार से किया जाना भी कठिन है।

अतः उपलब्ध संक्षिप्त सूत्र को स्वीकार करने की अपेक्षा तो इस दशा को व्यवच्छिन्न मानकर संतोष करना ही श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट-2

दशा-3

विनय एवं आशातना का बोध-

भगवती सूत्र में वीतराग धर्म का मूल, विनय कहा गया है। दशवै. अ. 9 में वृक्ष की उपमा देकर कहा गया है कि - ''जैसे वृक्ष के मूल से ही स्कंध आदि सभी विभागों का विकास होता है उसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अंतिम फल मोक्ष है। विनय से ही कीर्त्ति, श्रुत, श्लाघा और सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति होती है''। विनय सभी गुणों का प्राण है। जिस प्रकार निष्प्राण शरीर निरुपयोगी हो जाता है उसी प्रकार विनय के अभाव में सभी गुण-समूह व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी प्रगति नहीं कर पाते हैं।

अविनीत शिष्य को बृहत्कल्प सूत्र उ. 4 में शास्त्र की वाचना के अयोग्य बताया गया है।

गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना ये दोनों ही आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एवं गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तों की आशातना भी होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार होती हैः देवगुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार (या सभ्य व्यवहार का अभाव) कहा जाता है।

आवश्यक सूत्र के चौथे अध्याय में तेंतीस आशातनाओं में ऐसी सभी प्रकार की आशातनाओं का कथन है। किन्तु इस तीसरी दशा में केवल गुरु और रत्नाधिक (अधिक संयम पर्याय वाले) की आशातना का ही कथन किया गया है।

निशीथ सूत्र के दसवें. उद्देशक में गुरु व रत्नाधिक की आशातना का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और तेरहवें एवं पन्द्रहवें उद्देशक में क्रमशः गृहस्थ तथा सामान्य साधु की आशातना का प्रायश्चित्त विधान है। गुरु व रत्नाधिक की तेंतीस आशातनाएं इस प्रकार हैं

चलना, खड़े रहना और बैठना तीन क्रियाओं की अपेक्षा नौ आशातनाएं कही गई हैं। गुरु या रत्नाधिक के आगे या समश्रेणी में अथवा पीछे अत्यन्त निकट चलने से उनकी आशातना होती है।

आगे चलना अविनय आशातना है, समकक्ष चलना विनयाऽभाव आशातना है, पीछे अत्यन्त निकट चलना अविवेक आशातना है। इसी तरह खड़े रहने और बैठने के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इन आशातनाओं से शिष्य के गुणों का ह्रास होता है, लोगों में अपयश होता है और वह गुरुकृपा प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः गुरु या रत्नाधिक के साथ बैठना, चलना, खड़े रहना हो तो उनसे कुछ पीछे या कुछ दूर रहना चाहिए। कभी उनके सम्मुख बैठना आदि हो तो भी उचित दूरी पर विवेकपूर्वक बैठना चाहिये। यदि गुरु से कुछ दूरी पर चलना हो तो विवेकपूर्वक आगे भी चला जा सकता है। गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा होने पर आगे पार्श्वभाग में या निकट कहीं भी बैठने आदि में आशातना नहीं होती है।

शेष आशातनाओं का सारांश यह है कि गुरु या रत्नाधिक के साथ आना-जाना आलोचनादि प्रत्येक प्रवृत्ति में शिष्य यही ध्यान रखे कि ये प्रवृत्तियां उनके करने के बाद करे। उनके वचनों को शान्त मन से सुनकर स्वीकार करें। अशनादि आहार पहले उनको दिखावे। उन्हें बिना पूछे कोई कार्य न करे। उनके साथ आहार करते समय आसक्ति से मनोज्ञ आहार न खावे। उनके साथ वार्तालाप करते समय या विनय-भक्ति करने में और प्रत्येक व्यवहार करने में उनका पूर्ण सम्मान रखे। उनके शरीर की तथा उपकरणों की भी किसी प्रकार से अवज्ञा न करें।

गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा से यदि कोई प्रवृत्ति करे और उसमें आशातना दिखे तो भी आशातना नहीं कही जाती है। प्रत्येक शिष्य को चाहिए कि वह अशातनाओं को समझकर अपने जीवन को विनयशील बनावें और आशातनाओं से बचे। क्योंकि गुरु या रत्नाधिक की आशातना से इस भव और परभव में आत्मा का अहित होता है। इस विषय का स्पष्ट दृष्टांत सहित वर्णन दशवै. अ. 9 में है। प्रत्येक साधक को उस अध्ययन का मनन एवं परिपालन करना चाहिए।

परिशिष्ट-3

दशा-4

आठ संपदावान आचार्य का नेतृत्व-

1. सर्वप्रथम आचार्य का 'आचार-सम्पन्न' होना आवश्यक है क्योंकि आचार की शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है।

2. अनेक साधकों का मार्गदर्शक होने से 'श्रुतज्ञान से सम्पन्न होना भी आवश्यक है। बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है।

3. ज्ञान और क्रिया भी 'शारीरिक सौष्ठव' होने पर ही प्रभावक हो सकते हैं, रुग्ण या अशोभनीय शरीर धर्म-प्रभावना में सहायक नहीं होता है।

4. धर्म के प्रचार प्रसार में प्रमुख साधन वाणी भी है। अतः तीन सम्पदाओं के साथ-साथ 'वचन संपदा' भी आचार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

5. बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यों की संपदा भी आवश्यक है। क्योंकि सर्वगुणसम्पन्न अकेला व्यक्ति भी विशाल कार्य क्षेत्र में अधिक सफल नहीं हो सकता। अतः वाचनाओं के द्वारा अनेक बहुश्रुत-गीतार्थ प्रतिभासम्पन्न शिष्यों को तैयार करना होता है अतः 'वाचना देने में कुशल' होना आवश्यक है।

6. शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, रुचि, आचार वाले होते हैं। अतः आचार्य का सभी के संरक्षण तथा संवर्धन के योग्य 'बहुमुखी बुद्धिसम्पन्न' होना आवश्यक है।

7. विशाल समुदाय में अनेक परिस्थितियां तथा उलझनें उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समुचित समाधान करने के लिये मतिसंपदा के साथ ही प्रयोगमति सम्पदा का होना भी आवश्यक है। अन्य अनेक मतमतांतरों के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ के प्रसंग उपस्थित होने पर योग्य रीति से उनका प्रतिकार करना होता है। ऐसे समय में तर्क बुद्धि और श्रुत का प्रयोग धर्म की अत्यधिक प्रभावना करने वाला होता है।

8. उपरोक्त गुणों से धर्म की प्रभावना होने पर सर्वत्र यश की वृद्धि होने से 'शिष्यपरिवार की वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशाल शिष्यसमुदाय के संयम की यथाविधि अराधना हो, इसके लिये विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन, सेवा, विनय व्यवहार की 'समुचित व्यवस्था' और संयम समाचारी के पालन की देख-रेख, सारणा-वारणा का सुव्यवस्थित होना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार आठों ही सम्पदाएं परस्पर एक दूसरे की पूरक तथा स्वतः महत्त्वशील हैं। ऐसे गुणों से सम्पन्न आचार्य का होना प्रत्येक गण- (गच्छ-समुदाय) के लिये अनिवार्य है जैसे कुशल नाविक के बिना नौका के यात्रियों को समुद्र में पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है, वैसे ही आठ सम्पदाओं से सम्पन्न आचार्य के अभाव में संयमसाधकों की साधना सदा विराधना रहित रहे, या उसकी सर्वांगीण शुद्ध आराधना हो यह भी सम्भव नहीं है।

प्रत्येक साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह जब तक पूर्ण योग्य और गीतार्थ-बहुश्रुत न बन जाय तब तक उपरोक्त योग्यता से सम्पन्न आचार्य के नेतृत्व में ही अपना संयमी जीवन सुरक्षित रहे, इसके लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

किसी कर्म संयोगवश श्रेष्ठ योग्यता से असंपन्न गुरु आचार्य या गच्छ का सहवास प्राप्त हो जाय और उसे अपनी संयम साधना एवं आत्म समाधि में संतोष न हो तो उसे विवेक-पूर्वक अकषाय भाव से अपने गच्छ या गुरु का परिवर्तन करना कल्पता है। ठाणांग सूत्र में गच्छ परिवर्तन के लिए ऐसे ही अनेक कारणों का स्पष्टीकरण किया है। बृहत्कल्प सूत्र उद्दे. 4 में गच्छ या गुरु के परिवर्तन की विवेकशील विधि का कथन किया गया है।

अतः घर छोड़ने वाले साधक को कैसा भी संयोग मिल गया हो उसमें दीर्घ दृष्टि से. हानि-लाभ का परिप्रेक्षण कर गंभीरता पूर्वक नया निर्णय लेना जिनाज्ञा में है, ऐसा उपरोक्त निर्दिष्ट आगम पाठों से समझना चाहिये। ध्यान यह रहे कि आगम दृष्टिकोणों की एवं आगम विधि विधानों की अवहेलना न होनी चाहिए एवं वचन व्यवहार से गुरु रत्नाधिक की अन्य कोई भी आशातना नहीं होनी चाहिए।

परिशिष्ट–4

दशा–4

आचार्य आदि प्रमुखों के कर्त्तव्य–

आठ संपदाओं से सम्पन्न भिक्षु को जब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है, तब वह सम्पूर्ण संघ का धर्मशास्ता हो जाता है। तब उसे भी संघ संरक्षण एवं संवर्द्धन के अनेक कर्तव्यों के उत्तरदायित्व निभाने होते हैं। उनमें प्रमुख उत्तरदायित्व चार प्रकार के हैं

1. आचारविनय 2. श्रुतविनय 3. विक्षेपणाविनय 4. दोषनिर्घातनाविनय।

1. आचार विनय– गणी (आचार्य) का मुख्य कर्तव्य है कि सबसे पहले शिष्यों को आचार सम्बन्धी शिक्षाओं से सुशिक्षित करे। वह आचार सम्बन्धी शिक्षा चार प्रकार की है--

(अ) संयम की प्रत्येक प्रवृत्ति के विधि-निषेधों का ज्ञान कराना, यतिधर्म, परीषहजय आदि का यथार्थ बोध देना।

(ब) अनेक प्रकार की तपश्चर्याओं के भेद-प्रभेदों का ज्ञान कराना। तप करने की शक्ति और उत्साह बढ़ाना। निरन्तर तपश्चर्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए आगमोक्त क्रम से तपश्चर्या की एवं पारणा में परिमित पथ्य आहारादि के सेवन की विधि का ज्ञान कराना।

(स) गीतार्थ अगीतार्थ भद्रिक परिणामी आदि सभी की संयम-साधना निर्विघ्न संपन्न होने के लिए आचारशास्त्रों तथा छेदसूत्रों के आधार से बनाये गये गच्छ सम्बन्धी नियमों, उपनियमों, (समाचारी) का सम्यक् ज्ञान कराना।

(द) गण की सामूहिक चर्या को त्याग कर एकाकी विहार चर्या करने की योग्यता का, वय का तथा विचरणकाल में सावधानियां रखने का ज्ञान कराना, एवं एकाकी विहार करने की क्षमता प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान कराना क्योंकि

भिक्षु का द्वितीय मनोरथ यह है कि 'कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्तव्य से मुक्त होकर एकाकी विहारचर्या धारण करूं। ' अतः एकाकी विहारचर्या की विधि का ज्ञान कराना आचार्य का चौथा आचारविनय है।

आचारांग सूत्र श्रु. 1 अ. 5 और 6 में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार की एकाकी विहारचर्या के लक्षण बताये गये हैं। उनमें से अप्रशस्त एकल विहारचर्या के वर्णन को लक्ष्य में रखकर वर्तमान में एकल विहारचर्या के निषेध की परम्परा प्रचलित है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र एवं भिक्षु का द्वितीय मनोरथ तथा गणव्युत्सर्ग तप आदि के इन आगम वर्णनों के उपलब्ध होते हुए एकल विहारचर्या का सर्वथा विरोध करना आगमसम्मत नहीं कहा जा सकता। इस पाठ की व्याख्या में भी स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य एकाकी विहारचर्या धारण करने के लिए दूसरों को उत्साहित करे तथा स्वयं भी अनुकूल अवसर पर निवृत्त होकर इस चर्या को धारण करे। इस सूत्र की निर्युक्ति चूर्णि के संपादक मुनिराज श्री भी यही सूचित करते हैं कि एकान्त निषेध करना उचित नहीं है एवं ऐसा प्ररूपण अनंत संसार बढ़ाने का कारण है।

यह आचार्य का चार प्रकार का 'आचारविनय' है।

2. श्रुतविनय- 1-2. आचार धर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ आचार्य का दूसरा कर्तव्य है - आज्ञाधीन शिष्यों को सूत्र व अर्थ की समुचित वाचना देकर श्रुत-सम्पन्न बनाना।

3. उस सूत्रार्थ के ज्ञान से तप संयम की वृद्धि के उपायों का ज्ञान कराना अर्थात् शास्त्रज्ञान को जीवन में क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हें हित शिक्षा देना।

4. सूत्र रुचि वाले शिष्यों को प्रमाण नय की चर्चा द्वारा अर्थ परमार्थ समझाना। छेद सूत्र आदि सभी आगमों की क्रमशः वाचना देना। वाचना के समय आने वाले विघ्नों का शमन कर श्रुतवाचना पूर्ण कराना।

यह आचार्य का चार प्रकार का 'श्रुतविनय' है।

3. विक्षेपणाविनय- 1. जो धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ है, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाना।

2. जो अणगारधर्म के प्रति उत्सुक नहीं हैं उन्हें अणगारधर्म स्वीकार करने के लिए उत्साहित करना।

अथवा

1. यथार्थ संयम धर्म समझाना।

2. संयम धर्म के यथार्थ ज्ञाता को ज्ञानादि में अपने समान बनाना।

3. किसी अप्रिय प्रसंग से किसी भिक्षु की संयम धर्म से अरुचि हो जाय तो उसे विवेक पूर्वक पुनः स्थिर करना।

4. श्रद्धालु शिष्यों के संयमधर्म की पूर्ण आराधना कराने में सदैव तत्पर रहना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'विक्षेपणाविनय' हैं।

4. दोषनिर्घातनाविनय- शिष्यों की समुचित व्यवस्था करते हुए भी विशाल समूह में साधना करते हुए कभी कोई साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण कषायों के वशीभूत होकर किसी दोष विशेष के पात्र हो सकते हैं।

1. उनके क्रोधादि अवस्थाओं का सम्यक् प्रकार से छेदन करना।

2. राग-द्वेषात्मक परिणति का तटस्थापूर्वक निवारण करना।

3. अनेक प्रकार की आकांक्षाओं के अधीन शिष्यों की आकांक्षाओं को उचित उपायों से दूर करना।

4. इन विभिन्न दोषों का निवारण कर संयम में सुदृढ़ करना अथवा शिष्यों के उक्त दोषों का निवारण करते हुए भी अपनी आत्मा को संयमगुणों में परिपूर्ण बनाये रखना।

शिष्य-समुदाय में उत्पन्न दोषों को दूर करना। यह आचार्य का चार प्रकार का 'दोषनिर्घातनाविनय 'है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य-सम्पन्न जो राजा, प्रजा का प्रतिपालक होता है वही यशकीर्त्ति को प्राप्त कर सुखी होता है, वैसे ही जो आचार्य शिष्यसमुदाय की विवेकपूर्वक परिपालना करता हुआ संयम की आराधना कराता है, वह शीघ्र ही मोक्ष गति को प्राप्त करता है। भगवती सूत्र श. 5 उ.6 में कहा है कि सम्यक् प्रकार से गण का परिपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय उसी भव में या दूसरे भव में अथवा तीसरे भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आचार्य के स्थान पर अन्य कोई भी उपाध्याय प्रवर्त्तक स्थविर गुरु आदि गच्छ के प्रमुख अनुशास्ता हो उन सभी को उक्त कर्तव्यों का पालन और गुणों को धारण करना आवश्यक समझना चाहिए।

परिशिष्ट-5

दशा-6

श्रावक की ग्यारह पडिमाओं का विश्लेषण-

सामान्य रूप से कोई भी सम्यग्दृष्टि आत्मा व्रत धारण करने पर व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रतधारी भी हो सकता है या बारह व्रतधारी भी हो सकता है। प्रतिमाओं में भी अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान ही धारण किये जाते हैं, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है उसमें कोई आगार नहीं रखा जाता है और नियत समय में अतिचार रहित नियम का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है।

जिस प्रकार भिक्षु-प्रतिमा धारण करने वाले को विशुद्ध संयम पर्याय और विशिष्ट श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासक-प्रतिमा धारण करने वाले को भी बारह व्रतों के पालन का अभ्यास होना और कुछ श्रुतज्ञान होना भी आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सांसारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही तथापि सातवीं प्रतिमा तक अनेक छोटे बड़े गृहकार्यों का त्याग आवश्यक नहीं होता है, किन्तु प्रतिमा के नियमों का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक होता है। आठवीं प्रतिमा से अनेक गृहकार्यों का त्याग प्रारम्भ हो जाता है एवं ग्यारहवीं प्रतिमा में सम्पूर्ण गृह कार्यों का त्याग करके वह श्रमण के समान आचार का पालन करता है।

ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले को आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। स्वेच्छा से वह पालन कर सकता है अर्थात पहली प्रतिमा में सचित्त का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण करना, वह चाहे तो कर सकता है।

किन्तु आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करना नियमतः आवश्यक होता है अर्थात् सातवीं प्रतिमा धारण करने वाले को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, कायोत्सर्ग, पौषध आदि प्रतिमाओं का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक होता है।

1. पहली दर्शनप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक 12 व्रतों का पालन करता है किन्तु वह दृढ़प्रतिज्ञ सम्यक्त्वी होता है। मन, वचन व काया से वह सम्यक्त्व में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगाता है तथा देवता या राजा आदि किसी भी शक्ति से किंचित मात्र भी सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता है अर्थात् किसी भी आगार के बिना तीन करण, तीन योग से एक महीना तक शुद्ध सम्यक्तव की आराधना करता है। इस प्रकार वह प्रथम दर्शन प्रतिमा वाला व्रतधारी श्रावक कहलाता है।

कुछ प्रतियों में 'से दंसणसावए भवइ' ऐसा पाठ भी मिलता है उसका तात्पर्य भी यही है कि वह दर्शनप्रतिमाधारी व्रती श्रावक है क्योंकि जो एक भी व्रतधारी नहीं होता है उसे दर्शनश्रावक कहा जाता है। किन्तु प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पहले 12 व्रतों का पालक तो होता ही है। अतः उसे केवल 'दर्शन श्रावक' ऐसा नहीं समझना चाहिए।

2. दूसरी व्रतप्रतिमा धारण करने वाला यथेच्छ एक या अनेक, छोटे या बड़े कोई भी नियम प्रतिमा के रूप में धारण करता है जिनका उसे अतिचार रहित पालन करना आवश्यक होता है।

3. तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक सुबह, दोपहर व शाम को नियत समय पर ही सदा निरतिचार सामायिक करता है एवं देशावकाशिक (14 नियम धारण) व्रत का आराधन करता है तथा पहली दूसरी प्रतिमा के नियमो का भी पूर्ण पालन करता है।

4. चौथी पौषध प्रतिमाधारी श्रावक पूर्व की तीनों प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए महीने में पर्व-तिथियों के छह प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से आराधना करता है। इस प्रतिमा के धारण करने से पहले भी श्रावक पौषध व्रत का पालन तो करता ही है किन्तु प्रतिमा के रूप में नहीं।

5. पांचवीं कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी श्रावक पहले की चारों प्रतिमाओं का सम्यक पालन करते हुए पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करता है।

6. छठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक श्रावक पूर्व प्रतिमाओं का पालन करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्नान का और रात्रि भोजन का त्याग करता हैं तथा धोती की एक लांग खुली रखता हैं।

पांचवी-छठवीं प्रतिमा के मूल पाठ में लिपि-दोष से कुछ पाठ विकृत हुआ है जो ध्यान देने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है- प्रत्येक प्रतिमा के वर्णन में आगे की प्रतिमा के नियमों के पालन का निषेध किया जाता है। पांचवी प्रतिमा में

छठवीं प्रतिमा के विषय का निषेध-पाठ विधि रूप में जुड़ जाने से और चूर्णिकार द्वारा सम्यक् निर्णय न किये जाने के कारण मतिभ्रम से और भी पाठ विकृत हो गया है।

ब्यावर से प्रकाशित छेद सूत्र के त्रीणि सूत्राणि में उसे शुद्ध करने का परिश्रम किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का ही स्नान त्याग उचित है। क्योंकि पाचवीं प्रतिमा में एक-एक मास में केवल 6 दिन ही स्नान का त्याग और दिन में कुशील सेवन का त्याग किया जाय तो सम्पूर्ण स्नान का त्याग कब होगा? तथा केवल 6 दिन ही स्नान का त्याग और दिन में ब्रह्मचर्य पालन का कथन प्रतिमाधारी के लिये महत्त्व नहीं रखता है। यदि पांचवी प्रतिमा के पूरे पांच मास ही स्नान का त्याग करने का अर्थ किया जाय तो भी असंगत है। क्योंकि पांच मास तक रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करें और स्नान का पूर्ण त्याग रखें इन दोनों नियमों का सम्बन्ध अव्यावहारिक होता है। अतः आगम प्रकाशन समिति ब्यावर का स्वीकृत पाठ ही उचित ध्यान में आता है।

लिपिप्रमादादि के कारणों से ही इन दोनों प्रतिमाओं के नाम समवायांग आदि सूत्र में भिन्न है तथा ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में अनेक भिन्नताएं मिलती हैं।

7. सातवीं सचित्तत्याग प्रतिमा का आराधक श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग करता है। किन्तु उन पदार्थों को अचित्त बनाने के त्याग नहीं करता है।

8. आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक स्वयं आरम्भ करने का सम्पूर्ण त्याग करता है किन्तु दूसरों को आदेश देकर सावध कार्य कराने का उसके त्याग नहीं होता है।

6.नौवीं प्रेष्यत्याग प्रतिमा में श्रावक आरम्भ करने व कराने का त्यागी होता है किन्तु स्वतः ही कोई उसके लिए आहारादि बना दे या आरम्भ कर दे तो वह उस पदार्थ का उपयोग कर सकता है।

10. दसवीं उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक दूसरे के निमित्त बने आहारादि का उपयोग कर सकता है। स्वयं के निमित्त बने हुए आहारादि का उपयोग नहीं कर सकता है। उसका व्यावहारिक जीवन श्रमण जैसा नहीं होता है। इसलिए उसे कोई भी सांसारिक वार्ता पूछ सकता है। अतः किसी के पूछने पर - 'मैं जानता हूं या नहीं जानता हूं' इतना ही उत्तर देना कल्पता है। इससे अधिक उत्तर देना नहीं कल्पता है किसी वस्तु के यथा स्थान पर न मिलने पर इतना उत्तर देने से भी पारिवारिक लोगों को संतोष हो सकता है। इस प्रतिमा में श्रावक क्षुरमुंडन कराता है अथवा बाल रखता है।

11. ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमाधारी श्रावक शक्य संयमी जीवन की मर्यादाएं स्वीकार करता है। किन्तु यदि लोच न कर सके तो मुंडन करवा सकता है। वह भिक्षु के समान गवेषणा के सभी नियमों का पालन करता है।

इस प्रतिमा की अवधि समाप्त होने के बाद वह प्रतिमाधारी सामान्य श्रावक जैसा जीवन बिताता है। इसी कारण इस प्रतिमा-आराधनकाल में वह स्वयं को भिक्षु न कहकर 'मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूं' इस प्रकार कहता है।

12. पारिवारिक लोगों से प्रेम सम्बन्ध का आजीवन त्याग न होने के कारण वह ज्ञात कुलों में ही गोचरी के लिए जाता है। यहां ज्ञात कुल से पारिवारिक और अपारिवारिक ज्ञातिजन सूचित किये गये हैं। भिक्षा के लिये घर में प्रवेश करने पर वह इस प्रकार सूचित करे कि 'प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा दो।'

श्रावक प्रतिमा सम्बन्धी भ्रम का निवारण-

श्रावक प्रतिमा के सम्बन्ध में यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि 'प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निरंतर बेले, तीसरी में तेले यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में ग्यारह-ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जाती है। ' किन्तु इस विषय में कोई आगम प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना संगत भी नहीं है, क्योंकि इतनी तपस्या तो भिक्षु प्रतिमा में भी नहीं की जाती है। श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छः पौषध करने का विधान है यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास में 24 चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है। प्रतिमाधारी द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नहीं है। अतः 24 चौले पौषध युक्त करना आवश्यक नियम होने पर महीने के छः पौषध का विधान निरर्थक हो जाता है। जबकि तीसरी प्रतिमा से चौथी प्रतिमा की विशेषता भी यही है कि महीने के छः पौषध किये जावें। अतः कल्पित तपस्या का क्रम सूत्र-सम्मत नहीं है। आनन्द आदि श्रावकों के अन्तिम साधना काल में तथा प्रतिमा-आराधना के बाद शरीर की कृषता का जो वर्णन है वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है उसमें भी इस प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई विशिष्ट तप भी कर सकता है। आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधना काल में की होगी किन्तु ऐसा स्पष्ट वर्णन आगम में नहीं है। यदि उन्होंने कोई भी तप आगे की प्रतिमाओं में किया हो तो भी सब के लिए विधान मानना सूत्रोक्त प्रतिमा वर्णन से असंगत होता है, ऐसा समझना चाहिए।

परिशिष्ट-6

दशा-7

भिक्षु प्रतिमा सम्बन्धी शंका समाधान-

1. संयम की उत्कृष्ट आराधना करते हुए योग्यता प्राप्त गीतार्थ भिक्षु कर्मों की विशेष निर्जरा के लिये बारह भिक्षु-प्रतिमाएं स्वीकार करता है।

सातवीं दशा में बारह प्रतिमाओं के नाम दिये गये हैं। टीकाकार ने इनकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि 'दो मासिया, ति मासिया' इस पाठ में 'द्वितीय एक मासिकी, तृतीया एक मासिकी' इस प्रकार अर्थ करना चाहिए। क्योंकि इन प्रतिमाओं का पालन निरन्तर शीत और ग्रीष्मकाल के आठ मासों में ही किया जाता है। चातुर्मास में इन प्रतिमाओं का पालन नहीं किया जाता। पूर्व की प्रतिमाओं के एक, दो मास भी आगे की प्रतिमाओं में जुड़ जाते हैं, अतः 'दोमासिकी त्रिमासिकी' कहना भी असंगत नहीं है। यदि ऐसा अर्थ न करे तो प्रथम वर्ष में तीन प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, दूसरे वर्ष में चौथी प्रतिमा पालन करके छोड़ना होगा, इस प्रकार बीच में छोड़ते हुए पांच वर्ष में प्रतिमाओं का आराधन करना उचित नहीं कहा जा सकता। टीकानुसार उपरोक्त अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है। अतः दूसरी प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक के नाम इस प्रकार समझना-

1. एक मासिकी दूसरी भिक्षु प्रतिमा,
2. एक मासिकी तीसरी भिक्षु प्रतिमा,
3. एक मासिकी चौथी भिक्षु प्रतिमा,

4. एक मासिकी पांचवी भिक्षु प्रतिमा,

5. एक मासिकी छठवीं भिक्षु प्रतिमा,

6. एक मासिकी सातवीं भिक्षु प्रतिमा,

पू. आचार्य श्री आत्माराम जी म. सा. द्वारा संपादित दशाश्रुत स्कन्ध में ऐसी ही छाया, अर्थ एवं विवेचन किया है। आगाम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित इस सूत्र में भी ऐसा ही अर्थ विवेचन स्पष्टीकरण किया है।

2. प्रतिमाधारी भिक्षु को हाथ, पैर, मुंह आदि को अचित्त जल से धोना भी नहीं कल्पता है। किन्तु अशुचि के लेप को वह दूर कर सकता है तथा भोजन के बाद हाथ मुंह धो सकता है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य भिक्षु को भी उक्त दो कारणों के बिना हाथ पैर आदि धोना नहीं कल्पता है तो प्रतिमाधारी के लिये इस नियम में क्या विशेषता है?

इसका समाधान यह है कि सामान्य भिक्षु अपवाद सेवन कर सकता है। किन्तु प्रतिमाधारी अपवाद सेवन नहीं कर सकता है। सामान्य भिक्षु अपवादिक स्थिति में रोगोपशांति के लिये औषध सेवन और अंगोपांग पर जल सिंचन या उनका प्रक्षालन भी कर सकता है किन्तु प्रतिमाधारी भिक्षु ऐसा नहीं कर सकता है। यही उनकी विशेषता है।

3. तीन प्रकार के ठहरने के स्थान न मिले और सूर्यास्त का समय हो जाय तो सूर्यास्त के पूर्व ही योग्य स्थान देखकर रुक जाना कल्पता है। वह स्थल आच्छादित हो या खुला आकाश वाला हो, तो भी सूर्यास्त के बाद एक कदम भी चलना नहीं कल्पता है।

ऐसी स्थिति में यदि भिक्षु के ठहरने के आस पास की भूमि सचित्त हो तो उसे निद्रा या ऊंघ लेना नहीं कल्पता है। सतत् सावधानीपूर्वक जागृत रहते हुए स्थिर आसन से रात्रि व्यतीत करना कल्पता है। मल-मूत्र की बाधा हो तो यतना पूर्वक पूर्व प्रतिलेखित भूमि में जा सकता है और परठ कर पुनः उसी स्थान पर आकर उसे स्थित होना कल्पता है।

सूत्र में खुले आकाश वाले स्थान के लिये ही 'जलंसी' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि खुले स्थान में निरन्तर सूक्ष्म स्नेह काय की वृष्टि होना भगवती सूत्र श. 1, उद्देशक 6 में कहा है। अतः उस शब्द से नदी, तालाब आदि जलाशय नहीं समझना चाहिए। बृहत्कल्प सूत्र उ.2 में ऐसे स्थान के लिए 'अब्भावगासियंसि' शब्द का प्रयोग है। वहां यह बताया गया है कि साध्वी को खुले आकाश वाले स्थान में या वृक्ष के नीचे आदि असुरक्षित स्थानों में नहीं ठहरना चाहिये। साधु ऐसे असुरक्षित स्थानों में और खुले आकाश में ठहर सकता है। प्रतिमाधारी भिक्षु अचेल या सचेल अथवा केवल एक वस्त्रधारी भी हो सकता है। भगवतीसूत्र कथित सूक्ष्म स्नेह काय तो हवा से भी अबाधित है अर्थात् वह हवा से प्रेरित होकर अछाया के स्थान से छाया वाले स्थान में प्रविष्ट नहीं हो सकती (इसीलिए तो छाया वाले स्थान के किनारे पर बैठना सोना साधुओं के लिए वर्जित नहीं है) आगमकारों ने प्रतिमाधारी भिक्षु को एवं सामान्य भिक्षु को खुले आकाश में ठहरने का विधान किया है। संयम के मौलिक नियमों में प्रतिमाधारी को कोई भी छूट नहीं होती है अपितु वह तो संयम की सभी विधियों का विशिष्ट विशिष्टतम आराधन करता है। संयम के नियमों में अतिचार एवं अपवाद सेवन तो उनके लिए पूर्णतः वर्जित होते हैं।

अतः प्रतिमाधारी का खुले आकाश में ठहरना अपवाद रूप नहीं समझा जा सकता। क्योंकि आगम में खुले आकाश में साधु को ठहरने का निषेध न होकर ठहरने का विधान करने वाला पाठ है।

अतः विलम्ब हो जाने से सूर्यास्त के पूर्व सहज ही प्रतिमाधारी भिक्षु योग्य खुले स्थान में ठहर जाता है।

एवं सामान्य भिक्षु भी योग्य स्थान के अभाव में जंगल में या खुले में ठहर सकता है और ये भिक्षु तत्सम्बन्धी उत्पन्न होने वाले शीत, तृण स्पर्श, भूमि स्पर्श एवं भय आदि को समभाव से सहन करते हैं।

परिशिष्ट–7

दशा –7

भिक्षु प्रतिमा के आसनों का स्पष्टीकरण–

आठवीं और नवमीं प्रतिमा का प्रथम आसन 'उत्तानासन' और 'दंडासन' है। ये दोनों आकाश की तरफ मुख करके सोने के हैं, किन्तु इनमें अन्तर यह है कि उत्तानासन में हाथ पांव आदि फैलाये हुए या अन्य किसी भी अवस्था में रह सकते हैं और दंडासन में मस्तक से पाव तक पूरा शरीर दंड के समान सीधा लम्बा रहता है और हाथ पैर अन्तर रहित रहते हैं।

इसी प्रकार उक्त दोनों प्रतिमाओं का द्वितीय आसन 'एक पार्श्वासन' और लकुटासन' है। ये दोनों एक पसवाड़े (करवट) से सोने के है किन्तु इनमें अन्तर यह है कि ' एक पार्श्वासन' में भूमि पर एक पार्श्वभाग से सोना है और लकुटासन में करवट से सोकर मस्तक एक हथेली पर टिकाकर और पांव पर पांव चढ़ाकर लेटे रहना होता है। इस प्रकार लकुटासन में मस्तक और एक पांव भूमि से ऊपर रहता है। जबकि एक पार्श्वासन में एक करवट का मस्तक से पांव तक पूरा शरीर भूमि पर लगा होता है।

दोनों प्रतिमाओं का तृतीय आसन 'निषद्यासन' और 'उत्कुटुकासन' है। ये दोनों बैठने के आसन हैं। निषद्यासन में पालथी लगाकर पर्यंकासन से सुख पूर्वक बैठा जाता है और 'उत्कुटुक आसन' में दोनों पांवों को समतल रखकर उन पर पूरे शरीर को रखते हुए बैठना होता है। यह उत्कृष्ट गुरु वंदन का (खमासमणा देने का) आसन है।

दसवीं प्रतिमा के तीनों आसनों की यह विशेषता है कि वे न बैठने के हैं, न सोने के हैं और न सीधे खड़े रहने के हैं किन्तु बैठने तथा खड़े रहने के मध्य की अवस्था के हैं। प्रथम गोदुहासन में पूरे शरीर को दोनों पांवों के पंजों पर रखना पड़ता है। इसमें जंघा और उरु (साथल) आपस में मिले हुए रहते हैं और दोनों नितम्ब एड़ी पर टिके हुए रहते हैं।

दूसरे वीरासन में भी पूरा शरीर दोनों पंजों के आधार पर ही रखना पड़ता है किन्तु इसमें नितम्ब एडी से कुछ ऊपर उठे हुए रखने पड़ते हैं तथा जंघा और उरू (साथल) में भी कुछ दूरी रखनी पड़ती है। इस प्रकार कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो आकार अवस्था उसकी होती है वैसा ही लगभग इस आसन का आकार समझना चाहिए।

तीसरा आसन आम्रकुब्जासन है। विकल्प से इसका अंतकुब्जासन नाम और उसकी व्याख्या भी उपलब्ध होती है। इस आसन में भी पूरा शरीर तो पैरों के पंजों पर रखना पड़ता है, घुटने कुछ टेढ़े रखने होते हैं, शेष शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखना पड़ता है। जिस प्रकार आम ऊपर से गोल और नीचे से कुछ टेढ़ा होता है इसी प्रकार यह आसन किया जाता है।

किसी भी एक आसन से 24 घण्टे रहना यद्यपि कठिन है फिर भी दसवीं प्रतिमा के तीनों आसन अत्यन्त कठिन है। सामान्य व्यक्ति के लिये तो इन आसनों में एक घन्टा रहना भी अशक्य होता है।

परिशिष्ट-8

दशा-10

निदान सम्बन्धी तर्क वितर्क-

इस दशा में श्रेणिक राजा व चेलना रानी के निमित्त से निदान करने वाले श्रमण-श्रमणियों के मानुषिक भोगों के निदान का वर्णन प्रारम्भ में किया गया, फिर क्रमशः दिव्य भोग तथा श्रावक एवं साधु अवस्था के निदान का कथन किया गया है। इनके सिवाय अन्य भी कई प्रकार के निदान होते हैं यथा- किसी को दुख देने वाला बनूं या इसका बदला लेने वाला बनूं, मारने वाला बनूं इत्यादि। उदाहरण के रूप में श्रेणिक के लिए कोणिक का दुखदाई होना, वासुदेवों का प्रतिवासुदेव को मारना, द्वीपायनऋषि का द्वारिका को विनष्ट करना, द्रौपदी के पांच पति होना व संयमधारण भी करना, ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती होना और सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होना इत्यादि।

निदान के विषय में यह सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के संकल्प करने मात्र से उस ऋद्धि की प्राप्ति कैसे हो जाती है?

समाधान यह है कि किसी के पास रत्न या सोने-चांदी का भण्डार है, उसे रोटी कपड़े आदि सामान्य पदार्थों के लिए दे दिया जाए तो वे सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। वैसे ही शाश्वत मोक्षसुख देने वाली तप संयम की विशाल साधना के फल से मानुषिक या दैविक तुच्छ भोगों का प्राप्त होना कोई महत्त्व की बात नहीं है। इसे समझने के लिए एक दृष्टांत भी दिया जाता है-

एक किसान के खेत के पास किसी धनिक राहगीर ने दाल-बाटी,चूरमा बनाया। किसान का मन चूरमा आदि खाने के लिए ललचाया, किसान के मांगने पर धनिक ने कहा कि यह तेरा खेत बदले में दे तो भोजन मिले। किसान ने स्वीकार किया और भोजन कर वह बड़ा आनंदित हुआ।

जैसे खेत के बदले एक बार मनचाहा भोजन का मिलना कोई महत्त्व नहीं रखता, वैसे ही तप संयम की मोक्षदायक साधना से एक भव के भोग मिलना महत्त्व नहीं रखता।

किन्तु जैसे खेत के बदले भोजन खा लेने के बाद दूसरे दिन से वर्ष भर तक किसान पश्चाताप से दुखी होता है वैसे ही तप संयम के फल से एक भव का सुख प्राप्त हो जाय किन्तु मोक्षदायक साधना खोकर नरकादि के दुखों का प्राप्त होना निदान का ही फल है।

जिस प्रकार खेत के बदले एक दिन का मिष्ठान भोजन प्राप्त करने वाला किसान मूर्ख गिना जाता है वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना का साधक निदान करे तो वह महामूर्ख ही कहलायेगा। अतः भिक्षु को किसी प्रकार का निदान करना ही नहीं चाहिए किन्तु उसे तो संयम-तप की निष्काम साधना करना ही श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट-9

उपसंहार

इस दशाश्रुतस्कन्ध की उत्थानिकाएं (अध्ययन के प्रारम्भिक वाक्य) विचित्र हैं, अतः ये चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी के द्वारा निर्यूढ है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। न ही इन्हें गणधर सुधर्मा स्वामी द्वारा ग्रथित कह सकते हैं और न एक पूर्वधारी देवर्द्धि गणी द्वारा सम्पादित कह सकते हैं। क्योंकि इन उत्थानिकाओं में भगवान् से कहलवाया गया है कि ''इस प्रथम दशा में स्थविर भगवंतों ने बीस असमाधिस्थान कहे हैं।'' जबकि तीर्थंकर या केवली किसी छद्मस्थ विहित विधि-निषेधों का कथन नहीं करते।

पांचवी दशा की उत्थानिका तो और भी विचारणीय है। इस उत्थानिका के प्रारम्भ में कहा है कि स्थविर भगवंतों ने ये दस चित्तसमाधिस्थान कहे हैं। बाद में कहा- भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ-निग्रन्थियों को आमन्त्रित करके दस चित्तसमाधिस्थान कहे ।इस प्रकार एक ही उत्थानिका में दो प्रकार के कथन पाठक स्वयं पढ़ें और सोचें कि वास्तविकता क्या है?

आठवीं दशा के पाठों में भी जो परिवर्तन के प्रयत्न हुए हैं वे यहां दिए गए प्रथम परिशिष्ट में देखें तथा आठवीं दशा का और दसवीं दशा का (उपसंहार पाठ) भी अत्यंत विचारणीय है। इन विचित्रताओं को देखकर यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि तीन छेद सूत्रों के समान इस सूत्र की पूर्ण मौलिकता वर्तमान में नहीं रही है। अर्थात् मूल पाठ में भी कुछ संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन हुए हैं। अतः बहुश्रुतों को विवेक युक्त निर्णय करके अध्ययन, अध्यापन एवं प्ररूपण या विश्लेषण करना चाहिए।

।। दशाश्रुतस्कंध परिशिष्ट समाप्त ।।

जो दूसरों को गिराने का प्रयत्न करता है हीलना निंदा करता है वह महान संसार में परिभ्रमण करता है।

-सूय. अ. 2 उद्दे. 2 गाथा. 2।

कोई व्यक्ति अपना रहे तब तक प्रशंसा करना और अपना न रहे तो निन्दा तिरस्कार करना यह हीन भावना और अधार्मिकता है। ऐसे व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्मों से भारी बनाते हैं।

बृहत्कल्प - सूत्र

प्रथम उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-5- वनस्पति के मूल से लेकर बीज पर्यन्त दस विभागों में जितने खाने योग्य विभाग हैं वे अचित्त होने पर ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु साध्वी कन्द मूल फल आदि के अविधि से किए गए बड़े-बड़े टुकड़े अचित्त होने पर भी ग्रहण नहीं कर सकती है।

सूत्र 6-9- ग्राम नगर आदि में एक मास रहना कल्पता है। यदि उसके उपनगर आदि हों तो उसमें अलग-अलग अनेक मास कल्प तक ठहरा जा सकता है। किन्तु जहां रहे वहीं भिक्षा के लिए भ्रमण करना चाहिए, अन्य उपनगरों में नहीं। साध्वी का एक कल्प दो मास का होता है।

सूत्र 10-11-एक परिक्षेप एवं एक गमनागमन के मार्ग वाले ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक काल में नहीं रहना चाहिए किन्तु उसमें अनेक मार्ग या द्वार हो तो वे एक काल में भी रह सकते हैं।

सूत्र 12-13- पुरुषों के अत्यधिक गमनागमन वाले तिराहे, चौराहे या बाजार आदि में बने हुए उपाश्रयों में साध्वियों को नहीं रहना चाहिए किन्तु साधु उन उपाश्रयों में ठहर सकते हैं। *'साधुओं को गांव के बाहर ही ठहरना चाहिए'* ऐसी एकान्त प्ररुपणा करना उत्सूत्र प्ररुपणा है यह इन सूत्रों से स्पष्ट होता है।

सूत्र 14-15- द्वार रहित स्थान में साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए, परिस्थिति वश यदि ठहरना पड़े तो पर्दा लगाकर द्वार को बंद कर लेना चाहिए। किन्तु ऐसे स्थानों पर भिक्षु ठहर सकते हैं।

सूत्र 16-17- सुराही के आकार का प्रश्रवण मात्रक साध्वी रख सकती है किन्तु साधु नहीं रख सकता है।

सूत्र 18-साधु-साध्वी को वस्त्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखना कल्पता है।

सूत्र 19- पानी के किनारे साधु-साध्वी को बैठना आदि क्रियाए नहीं करनी चाहिए।

सूत्र 20-21- चित्रों से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

सूत्र 22-24- साध्वियों को शय्यातर के संरक्षण में ही ठहरना चाहिए किन्तु भिक्षु बिना संरक्षण के भी ठहर सकता है।

सूत्र 25-29- स्त्री-पुरुषों के निवास रहित मकान में ही साधु-साध्वियों को ठहरना चाहिए। केवल पुरुषों के निवास वाले मकान में भिक्षु और केवल स्त्रियों के निवास वाले मकान में साध्वियां ठहर सकती है। केवल स्त्री या पुरुष भी जहां होंगे वहां पीने का पानी एवं प्रकाश के लिए दीपक तथा भोजन बनाने हेतु अग्नि तो होगी ही किंतु वह बाधक नहीं है ऐसा इस सूत्र से ही स्पष्ट होता है।

सूत्र 30-31- द्रव्य (छत्त की अपेक्षा) या भाव (स्त्री के शब्द रूप आदि से) प्रतिबद्ध उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है कदाचित् साध्वियां रह सकती हैं। स्वतंत्र छत वाले स्वतंत्र मकान हो जिनकी भीतें (दीवारें) एक दूसरे के लगी हुई हो वह प्रतिबद्ध नहीं है किंतु एक छत और उसमें अलग-अलग कमरे हैं तो वे प्रतिबद्ध है।।

सूत्र 32-33- स्त्रियों से प्रतिबद्ध मार्ग वाले स्थान उपाश्रय में भिक्षु को रहना नहीं कल्पता है साध्वियां कदाचित् रह सकती है।

सूत्र 34 किसी के साथ क्लेश हो जाय तो स्वयं को सर्वथा उपशान्त होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा संयम की आराधना नहीं होती है।

सूत्र 35-36- साधु-साध्वियों को चातुर्मास में एक स्थान पर ही रहना चाहिए तथा हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में शक्ति अनुसार विचरण करते रहना चाहिए।

सूत्र 37 जिन राज्यों में परस्पर विरोध चल रहा हो वहां बारम्बार गमनागमन नहीं करनाचाहिए।

सूत्र 38-41- साधु या साध्वियां गोचरी आदि के लिये गये हों और वहां कोई वस्त्रादि लेने के लिए कहे तो आचार्यादि की स्वीकृति की शर्त रख कर ही ग्रहण करे। यदि वे स्वीकृति दें तो रखे अन्यथा लौटा देवें।

सूत्र 42-43- साधु-साध्वियां रात्रि में आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या संस्तारक ग्रहण न करें। कभी विशेष परिस्थिति में शय्या संस्तारक ग्रहण किया जा सकता है तथा चुराये गये वस्त्र पात्रादि कोई पुनः लाकर दे तो उन्हें रात्रि में भी ग्रहण किया जा सकता हैं।

सूत्र 44-45- रात्रि में या विकाल में साधु-साध्वियों को विहार नहीं करना चाहिए तथा दूर क्षेत्र में होने वाली संखड़ी में आहार ग्रहण करने के लिए भी रात्रि में नहीं जाना चाहिए।

सूत्र 46-47- साधु-साध्वियों को रात्रि में उच्चार प्रश्रवण या स्वाध्याय के लिये उपाश्रय से कुछ दूर (100 हाथ से आगे) अकेले नहीं जाना चाहिए किन्तु किसी को साथ लेकर जा सकते हैं। किसी की अधिक भय की प्रकृति हो या क्षेत्र स्थिति हो तो अनेक साधु या अनेक साध्वी साथ में जा सकते हैं।

सूत्र 48- चारों दिशाओं में आर्य क्षेत्रों की सीमा सूत्र में बताई गई है उसके भीतर साधु-साध्वियों को विचरना कल्पता है। किन्तु उन्हें संयम की उन्नति का विवेक तो सर्वत्र अवश्य रखना ही चाहिए।

दूसरे उद्देशक का सारांश :

सूत्र 1-3- जिस मकान में धान्य बिखरा हुआ हो उसमें नहीं ठहरना किन्तु व्यवस्थित राशिकृत हो तो मास कल्प एवं मुहरबंद (ताला लगा) हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

सूत्र 4-7- जिस मकान की सीमा में मद्य के घड़े या अचित्त शीत या उष्ण जल के घड़े भरे हुए पड़े हों अथवा अग्नि या दीपक सम्पूर्ण रात्रि जलते हों तो वहां साधु-साध्वी को नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य मकान के अभाव में एक या दो रात्रि ठहरा जा सकता है।

सूत्र 8-10- जिस मकान की सीमा में खाद्य पदार्थ के बर्तन यत्र-तत्र पड़े हों तो वहां नहीं ठहरना चाहिए किन्तु एक किनारे पर व्यवस्थित रखें हों तो मास कल्प एवं मुहरबंद (ताला बंद) हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

सूत्र 11-12- धर्मशाला में, असुरक्षित स्थानों में एवं खुले आकाश में साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए किन्तु साधु वहां ठहर सकते हैं।

सूत्र 13- शय्या (मकान) के अनेक स्वामी हों तो एक की आज्ञा ले कर उसे मानना एवं अन्य के घरों से आहारादि ग्रहण करना।

सूत्र 14-16- शय्यादाता एवं अन्य लोगों का आहार किसी स्थान पर संग्रहित किया गया हो, शय्यातर के घर की सीमा में हो या सीमा से बाहर हो तो भी अलग रहते हुए उस शय्यातर के आहार में से ग्रहण करना नहीं कल्पता है। किन्तु शय्यादाता के घर की सीमा से बाहर हो एवं अन्य संग्रहित आहार में शय्यातर का आहार मिला दिया गया हो तो ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्र 17-18- साधु-साध्वी को शय्यादाता के अलग रखे हुए आहार को अन्य आहार में मिलवाना नहीं कल्पता है एवं ऐसा करने पर उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 19-22- शय्यादाता की आहूतिका (अन्य का आया) एवं निह्वतिका का (अन्य को भेजा गया) आहार उस शय्यातर के स्वामित्व में हो तब तक ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अन्य के आधीन हो तब ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्र 23-24- शय्यातर के स्वामित्व युक्त आहारादि पदार्थों में से जब शय्यातर के स्वामित्व का अंश पूर्ण विभक्त होकर अलग कर दिया जावे, तब शेष आहार में से ग्रहण करना कल्पता है किन्तु शय्यातर का अंश पूर्णतः अलग न किया हो तो उसमें से ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र 25-28 - शय्यादाता के पूज्य पुरुषों को सर्वथा समर्पित किए गए आहार में से ग्रहण करना कल्पता है किन्तु 'प्रातिहारिक' दिया गया हो तो उसमें से लेना नहीं कल्पता है। तथा वह आहार शय्यादाता या उसके पारिवारिक सदस्यों के हाथ से लेना नहीं कल्पता

सूत्र 29-30- साधु-साध्वियां पांच जाति के वस्त्र एवं पांच जाति के रजोहरण में से किसी भी जाति का वस्त्र या रजोहरण ग्रहण कर सकते हैं। पांच वस्त्र-1. ऊन आदि, 2. बांस अलसी आदि का, 3. सण का, 4. सूत का, 5. वृक्ष की छाल।

रजोहरण पांच- 1. ऊन का, 2. ऊंट की जट का, 3. सण का, 4. घास का बना, 5. मूंज का

तीसरे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-2- साधु को साध्वी के उपाश्रय में और साध्वी को साधु के उपाश्रय में बैठना, सोना आदि प्रवृतियां नहीं करनी चाहिए। केवल स्वाध्याय एवं वाचना के लिए बैठना कल्पता है। उसके अतिरिक्त नहीं बैठना चाहिए। एवं जाना भी नहीं चाहिए।

सूत्र 3-6- रोम रहित चर्म खण्ड आवश्यक होने पर साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं किन्तु सरोम चर्म उन्हें नहीं कल्पता है। आगाढ़ परिस्थितिवश गृहस्थ के सदा उपयोग में आने वाला सरोम चर्म एक रात्रि के लिये साधु ग्रहण कर सकता है किन्तु साध्वी के लिए तो उसका सर्वथा निषेध है। -

सूत्र 7-10- बहुमूल्य वस्त्र एवं अखण्ड थान या आवश्यकता से अधिक लम्बा वस्त्र-साध्वी-साधु को नहीं रखना चाहिए।

सूत्र 11-12- गुप्तांग के निकट पहने जाने वाले लंगोट जांघिया आदि उपकरण साधु को अकारण नहीं रखना चाहिये किन्तु साध्वी को ये उपकरण रखना आवश्यक है।

सूत्र 13 साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु अन्य प्रवर्त्तिनी आदि की निश्रा से वह वस्त्र की याचना कर सकती है।

सूत्र 14-15- दीक्षा लेते समय साधु-साध्वी को रजोहरण गोच्छग (प्रमार्जनिका) एवं आवश्यक पात्र ग्रहण करने चाहिए तथा मुंहपत्ति, चद्दर, चोलपट्टक आदि के लिये भिक्षु अधिकतम तीन थान के माप जितने वस्त्र ले सकता है। एवं साध्वी चार थान के माप जितने वस्त्र ले सकती है। थान का माप सूत्र में एवं भाष्य, टीका में नहीं बताया गया है। अतः भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। पात्र की संख्या भी स्पष्ट न होने से भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिएं हैं।

सूत्र 16-17- साधु-साध्वी को चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु शीत एवं ग्रीष्म ऋतु में वे वस्त्र ले सकते हैं।

सूत्र 18-20- स्वस्थ साधु-साध्वी को आवश्यक होने पर वस्त्र एवं शय्या संस्तारक दीक्षा पर्याय के अनुक्रम से ग्रहण करने चाहिये एवं वन्दना भी दीक्षा पर्याय के क्रम से करनी चाहिए।

सूत्र 21-23- स्वस्थ साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर में बैठना आदि सूत्रोक्त निषिद्ध कार्य नहीं करने चाहिए तथा वहां अमर्यादित वार्तालाप या उपदेश भी नहीं देना चाहिए। कभी आवश्यक हो तो खड़े खड़े ही मर्यादित कथन किया जा सकता है।

सूत्र 24-26- शय्यातर एवं अन्य गृहस्थ के शय्या संस्तारक को विहार करने के पूर्व अवश्य लौटा देना चाहिए तथा जिस अवस्था में ग्रहण किया हो वैसा ही व्यवस्थित करके लौटाना चाहिए।

सूत्र 27- शय्या संस्तारक (पाट बाजोट आदि) खो जाने पर उसकी खोज करना एवं न मिलने पर उसके स्वामी को खो जाने की सूचना देकर अन्य शय्या संस्तारक ग्रहण करना, यदि खोज करने पर मिल जाए तो आवश्यकता न रहने पर लौटा देना चाहिए।

सूत्र 28-32- साधु-साध्वी उपाश्रय में, शून्य गृह में या मार्ग आदि में कहीं पर भी आज्ञा लेकर ठहरें हों और उनके विहार करने के पूर्व ही दूसरे साधु विहार, करके आ जाए तो वे उसी पूर्वग्रहित आज्ञा से वहां ठहर सकते हैं किन्तु नवीन आज्ञा लेने में आवश्यकता नहीं होती।

यदि शून्य (रहवास या मालिक से रहित) गृह का कोई स्वामी प्रकट हो जाए तो पुनः उसकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

सूत्र 33- ग्रामादि के बाहर सेना का पड़ाव हो तो भिक्षा के लिए साधु-साध्वी अन्दर जा सकते हैं, किन्तु उन्हें वहां रात्रि निवास करना नहीं कल्पता है। रात्रि निवास करने पर गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 34- साधु-साध्वी जिस उपाश्रय में ठहरे हों वहां से वे किसी भी एक दिशा में अढ़ाई कोस तक गमनागमन कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। आहार-पानी ले जाना तो दो कोस तक ही कर सकते हैं। दो कोस = 4000 धनुष अर्थात् लगभग सात किलोमीटर।

चौथे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1- हस्तकर्म, मैथुन सेवन एवं रात्रि भोजन का अनुद्घातिक गुरु प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 2- तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर पारांचिक नामक दसवां प्रायश्चित्त आता है। 1. अति (तीव्र) द्वेष, 2. अति (तीव्र) प्रमाद, 3. साधु-साधु परस्पर कुशील सेवन।

सूत्र 3-तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर अनवस्थाप्य नामक नवमां प्रायश्चित्त आता है। 1. साधर्मिक की चोरी 2. अन्यधर्मी की चोरी 3. मारपीट हिंसा आदि।

सूत्र 4-9- तीन प्रकार के नपुसंकों को दीक्षित, मुंडित या उपस्थापित करना आदि नहीं कल्पता है। 1. कृत या स्वाभाविक नपुंसक 2. वातप्रकोप से वेद धारण न कर सकने वाला 3. चिंतन मात्र से शीघ्र ही वीर्य गिर जाने वाला।

सूत्र 10-11- तीन अवगुण वाले को वाचना नहीं देना किन्तु तीन गुण वाले को वाचना देना 1. विनयवंत 2. तनुकषायी 3. विगयमुक्त। प्रतिपक्ष में-1. अविनीत 2. दीर्घ कषायी 3.विगयाशक्त।

सूत्र 12-13- तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना कठिन होता है और तीन प्रकार के व्यक्तियों को समझाना सरल होता है। 1. कलुषित हृदयी 2. मूर्ख 3. दुराग्रही कृतजी (वक्र)। प्रतिपक्ष में- 1. पवित्र हृदयी 2. बुद्धिमान 3. सरल नम्र परिणामी।

सूत्र 14-15- विशेष परिस्थिति में सेवा करने वाले स्त्री पुरुष के स्पर्श आदि से भिक्षु भिक्षणी मैथुन सेवन के संकल्प युक्त सुखानुभव करे तो उसे चतुर्थ व्रत के भंग होने का गुरु चौमासी प्रायश्चित आता है।

सूत्र 16- प्रथम प्रहर में ग्रहण किया आहार पानी चतुर्थ प्रहर में नहीं रखना। सूत्र 17- दो कोश से आगे आहार पानी नहीं ले जाना।

सूत्र 18- अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहारादि को नहीं खाना किन्तु अनुपस्थापित नवदीक्षित भिक्षु खा सकता है।

सूत्र 19- प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को औद्देशिक आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है अन्य तीर्थंकर के साधुओं को कल्पता है।

सूत्र 20-28- अध्ययन करने हेतु, गण परिवर्तन करने हेतु एवं अध्ययन कराने आदि हेतु से अन्य गण में जाना हो तो आचार्य आदि की आज्ञा लेकर सूत्रोक्त विधि से कोई भी साधु या पदवीधर जा सकता है।

सूत्र 29- काल धर्म प्राप्त भिक्षु को उसके साधर्मिक साधु गृहस्थ से प्रतिहारिक उपकरण लेकर गांव के बाहर एकान्त में ले जाकर परठ सकते हैं।

सूत्र 30- क्लेश को उपशान्त किये बिना भिक्षु को गोचरी आदि नहीं जाना चाहिए। क्लेश को उपशान्त करने पर यथोचित प्रायश्चित्त ही देना एवं लेना चाहिए। आगम विपरीत प्रायश्चित्त देना भी नहीं और कोई दे तो लेना भी नहीं चाहिए।

सूत्र 31- आचार्य परिहार तप वहन करने वाले को साथ ले जाकर एक दिन गोचरी दिलवावे, बाद में आवश्यक होने पर ही वैयावृत्य आदि कर सकते हैं।

सूत्र 32- अधिक प्रवाह वाली नदियों को एक मास में एक बार से अधिक बार पार नहीं करना चाहिए। किन्तु जंघार्द्ध प्रमाण-घुटने से नीचे, जल प्रवाह वाली नदी को सूत्रोक्त विधि से एक मास में अनेक बार भी पार किया जा सकता है।

सूत्र 33-36- घास के बने मकानों की ऊंचाई कम हो तो वहां नहीं ठहरना चाहिए। किन्तु अधिक ऊंचाई हो तो ठहरा जा सकता है। चातुर्मास किया जा सकता है।

पांचवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-4- देव या देवी स्त्री का या पुरुष का रूप विकुर्वित कर साधु-साध्वी का आलिंगन आदि करे तब वे उसके स्पर्श आदि से मैथुन भाव का अनुभव करे तो उन्हें गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 5- अन्य गण से कोई भिक्षु आदि क्लेश करके आवे तो उसे समझाकर शांत करना एवं पांच दिन आदि का दीक्षा छेद प्रायश्चित्त देकर पुनः उसके गण में भेज देना।

सूत्र 6-9- यदि आहार ग्रहण करने के बाद या खाते समय यह ज्ञात हो जाए कि सूर्यास्त हो गया है या सूर्योदय नहीं हुआ है तो उस आहार को परठ देना चाहिए। यदि खावे तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। -

सूत्र 10- रात्रि के समय मुंह में उद्गाल आ जाए तो उसे नहीं निगलना चाहिए किन्तु परठ देना चाहिए।

सूत्र 11- गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त बीज, रज या त्रस जीव आ जाए तो उसे सावधानी पूर्वक निकाल देना चाहिए। यदि नहीं निकाल सके तो उतना संसक्त आहार परठ देना चाहिए।

सूत्र 12- गोचरी करते हुए कभी आहार में सचित्त जल की बूंद आदि गिर जाए तो गर्म आहार को खाया जा सकता है और ठण्डे आहार को परठ देना चाहिए। अथवा कुछ देर से अचित होने की संभावना हो तो बाद में खाया जा सकता है।

सूत्र 13-14- रात्रि में मल मूत्र त्याग करती हुई निर्ग्रन्थी के गुप्तांगों का कोई पशु या पक्षी स्पर्श करे या उसमें अवगाहन करे और निर्ग्रन्थी मैथुन भाव से उसका अनुमोदन करे तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 15-17- निर्ग्रन्थी को गोचरी, स्थंडिल या स्वाध्याय आदि के लिये अकेले नहीं जाना चाहिए तथा विचरण एवं चातुर्मास भी अकेले नहीं करना चाहिए। (किंतु साधु को अकेले गोचरी जाने या विहार करने का यहां निषेध नहीं है। अन्यत्र भी अयोग्य भिक्षु के लिए ही निषेध फलित होता है। सर्वथा निषेध साधु के लियेआगम में नहीं है।

सूत्र 18-21- निर्ग्रन्थी को वस्त्र रहित होना, पात्र रहित होना, शरीर को वोसिरा कर रहना, ग्राम के बाहर आतापना लेना नहीं कल्पता है किन्तु सूत्रोक्त विधि से वह उपाश्रय में आतापना ले सकती है।

सूत्र 22-32- निर्ग्रन्थी को किसी भी प्रकार के आसन से प्रतिज्ञाबद्ध होकर रहना नहीं कल्पता है। बिना प्रतिज्ञा के कोई भी योग्य आसन कर सकती है।

सूत्र 33-44- आकुंचन पट्ट, आलम्बनयुक्त आसन, छोटे स्तम्भ युक्त पीढ़े, नाल युक्त तुम्बा, काष्ठ दण्ड युक्त पात्र केसरिका (पूंजणी) या पाद्पौंछन साध्वी को रखना नहीं कल्पता है किन्तु साधु इन्हें रख सकता है।

सूत्र 45- प्रबल कारण के बिना साधु-साध्वी एक दूसरे के मूत्र को पीने एवं आचमन-मालिस करने के उपयोग में नहीं ले सकते हैं।

सूत्र 46-48- साधु-साध्वी रात रखे हुए आहार-पानी औषध या लेप्य पदार्थों को प्रबल कारण के बिना उपयोग में नहीं ले सकते किन्तु प्रबल कारण से वे उन पदार्थों का दूसरे दिन में उपयोग कर सकते हैं।

सूत्र 49- परिहार तप वहन करने वाला भिक्षु सेवा के लिये जावे उस समय यदि अपनी किसी मर्यादा का उल्लंघन कर ले तो उसे सेवा कार्य से निवृत्त होने पर अत्यल्प प्रायश्चित्त देना चाहिए।

सूत्र 50- अत्यन्त पौष्टिक आहार आ जाने के बाद साध्वी को अन्य आहार की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। किन्तु उस आहार से निर्वाह न हो सके इतनी अल्प मात्रा में ही आया हो तो पुनः गोचरी लाने के लिये जा सकती है।

छठे उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1- साधु-साध्वी को छः प्रकार के अकल्पनीय वचन नहीं बोलना चाहिए। -1. झूठ, 2. हीलित,3. खिंसित, 4. परुष वचन, 5. गृहस्थ के संबोधन, 6. क्लेशोत्पादक वचन।

सूत्र 2- किसी भी साधु पर असत्य आरोप नहीं लगाना। क्योंकि प्रमाणाभाव में स्वयं को प्रायश्चित्त का पात्र होना पड़ता है।

सूत्र 3-6- परिस्थितिवश साधु-साध्वी एक दूसरे के पैर में से कंटक निकाल सकते हैं और आंख में पड़ी रज आदि भी निकाल सकते हैं।

सूत्र 7-18- सूत्रोक्त विशेष परिस्थितियों में साधु किसी भी साध्वी को सहारा दे सकता है एवं परिचर्या भी कर सकता है। उन्मत, पागल, भयाक्रांत, अशांतचित्त आदि।

सूत्र 19- साधु-साध्वी संयम नाशक छः दोषों को जानकर उनका परित्याग करे। 1. अस्थिर काय रहना, 2. चक्षुलोलुप होना, 3. वाचाल होना, 4. तिनतिनाट करना, 5. इच्छाओं के अधीन होना, 6. निदानकारी होना।

सूत्र 20- संयम पालन करने वालों की भिन्न-भिन्न साधना की अपेक्षा से छः प्रकार की आचार मर्यादा होती है। स्थविरकल्प, जिनकल्प परिहार विशुद्ध कल्प आदि।

नोट- विस्तृत जानकारी के लिए व्यावर से प्रकाशित हिन्दी विवेचन युक्त छेद सूत्र का अध्ययन करना चाहिए।

॥ बृहत्कल्प सूत्र सारांश समाप्त ॥

****

परिशिष्ट-1

(उद्देशक 1 सूत्र 1-5)

ताल-प्रलंब सूत्र पर विचारणा-

सूत्रपठित 'ताल-प्रलम्ब' पद सभी फलों का सूचक है। ' एक के ग्रहण करने पर सभी सजातीय ग्रहण कर लिए जाते हैं'- इस न्याय के अनुसार 'ताल-प्रलम्ब' पद से ताल-फल के अतिरिक्त आम, अनार आदि फल भी ग्रहण करना अभीष्ट है।

इसी प्रकार 'प्रलम्ब' पद को अन्तःदीपक (अन्त के ग्रहण से आदि एवं मध्य का ग्रहण) मानकर मूल, कन्द, स्कन्ध आदि भी ग्रहण किये गये हैं।

प्रथम, द्वितीय सूत्र में 'आम' पद का अपक्क अर्थ और 'अभिन्न' पद का शस्त्रअपरिणत अर्थ एवं 'भिन्न' पद का शस्त्र परिणत अर्थ है।

तीसरे, चौथे और पांचवें सूत्र में अभिन्न पद का अखण्ड अर्थ एवं पक्क पद का शस्त्रपरिणत अर्थ अभीष्ट है।

भाष्य में 'तालप्रलम्ब' पद से वृक्ष के दस विभागों को ग्रहण किया गया है यथा -

मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाल पत्ते य।
पुप्फे फले य बीए, पलंब सुत्तम्मि दस भेया ।।

बृहत्कल्प उद्दे. 1, भाष्य गा. 854

इन पांच सूत्रों का संयुक्त अर्थ यह है कि साधु और साध्वी पक्क या अपक्क 1. मूल, 2. कन्द, 3. स्कन्ध, 4. त्वक्, 5. शाल, 6. प्रवाल, 7. पत्र, 8. पुष्प, 9. फल और 10. बीज अशस्त्र परिणत हों तो उन को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु ये ही यदि शस्त्रपरिणत हो जाए तो साधु और साध्वी ग्रहण कर सकते हैं।

इन सूत्रों में प्रयुक्त 'आम, पक्क , भिन्न एवं अभिन्न' इन चारों पदों की भाष्य में द्रव्य एवं भाव से चौभंगियां करके भी यही बताया गया है कि भाव से पक्क या भाव से भिन्न अर्थात् शस्त्रपरिणत तालप्रलम्ब हो तो भिक्षु को ग्रहण करना कल्पता है।

प्रथम सूत्र में कच्चे तालप्रलम्ब शस्त्रपरिणत न हो तो अग्राह्य कहे हैं एवं **दूसरे सूत्र** में उन्हीं को शस्त्रपरिणत (भिन्न) होने पर ग्राह्य कहा है।

जिस प्रकार **दूसरे सूत्र** में द्रव्य और भाव से भिन्न होने पर कच्चे ताल-प्रलम्ब ग्राह्य कहे हैं उसी प्रकार **तीसरे सूत्र** में द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब भिन्न या अभिन्न हो तो भिक्षु के लिये ग्राह्य कहे हैं। **चौथे सूत्र** में द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब भी अभिन्न हो तो साध्वी को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। **पांचवें सूत्र** में द्रव्य और भाव से पक्क तालप्रलम्ब के बड़े-बड़े लम्बे टुकड़े लेने का साध्वी के लिये निषेध करके छोटे छोटे टुकड़े हो तो ग्राह्य कहे हैं।

अचित्त होते हुए भी पांचवे सूत्र में अखण्ड या लम्बे खण्ड साध्वी को लेने के निषेध का कारण इस प्रकार है -

अभिन्न-अखण्ड केला आदि फल का तथा शकरकंद, मूला गाजर आदि कंद-मूल का लम्बा आकार देखकर किसी निर्ग्रन्थी के मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और वह उससे अनंगक्रीड़ा भी कर सकती है, जिससे उसके संयम और स्वास्थ्य की हानि होना सुनिश्चित है। अतः निर्ग्रन्थी को अभिन्न फल या कन्द आदि लेने का निषेध किया गया है। साथ ही कदली आदि फलों के, मूला आदि कन्दों के अविधि पूर्वक किए गये लम्बे खण्ड जिन्हें देखकर कामवासना का जागृत होना सम्भव हो उन्हें लेने का भी निषेध किया गया है। किन्तु विधिपूर्वक भिन्न अर्थात् इतने छोटे-छोटे खण्ड किए हुए हों कि जिन्हें देखकर पूर्वोक्त विकार भाव जागृत न हो तो ऐसा फल या कन्द आदि साध्वी ग्रहण कर सकती हैं।

जो फल पक कर वृक्ष से स्वयं नीचे गिर पड़ता है अथवा पक जाने पर वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, उसे द्रव्यपक्क कहते हैं। वह द्रव्यपक्क फल भी सचित्त सजीव और बीज गुठली आदि से संयुक्त होता है। अतः जब उसे शस्त्र से विदारित कर, गुठली आदि को दूर कर ले अथवा जिसमें अनेक बीज हों उसे अग्नि आदि में पकाकर उबालकर या भूनकर सर्वथा असंदिग्ध रूप से अचित्त निर्जीव कर लिया गया हो तब वह भाव पक्क शस्त्र-परिणत कहा जाता है, एवं ग्राह्य होता है।

इससे विपरीत-अर्थात् छेदन भेदन किये जाने पर या अग्नि आदि में पकाने पर भी अर्द्धपक्क होने की दशा में उसके सचित्त रहने की सम्भावना हो तो वह भाव से अपक्क अर्थात् शस्त्र-अपरिणत कहा जाता है, एवं अग्राह्य होता है। विस्तृत विवेचन एवं चौभंगियों के लिये भाष्य एवं वृत्ति का अवलोकन करना चाहिए।

वनस्पति के विभागों की सजीव अवस्थाएं-आगम चिन्तन

वनस्पति की जातियां व विभाग-

आगमों में बादर वनस्पति काय के दो भेद किए हैं -

1. प्रत्येक वनस्पति काय,

2. साधारण वनस्पति काय।

प्रत्येक वनस्पति काय के बारह प्रकार हैं-

यथा- 1. वृक्ष, 2.गुच्छ, 3. गुल्म, 4. लता, 5. बेल, 6. तृण, 7. 'वलय, 8. पर्व, 9.कुहणा, 10. जलरूहा, 11. धान्य, 12. हरित। उत्तरा. अ. 36 तथा प्रज्ञापना पद।

प्रत्येक वनस्पति काय में भी सभी वनस्पतियों के दस विभाग होते हैं यथा- 1. मूल, 2. कंद, 3. स्कन्ध, 4. त्वचा, 5. शाखा, 6. कोंपल, 7. पत्र, 8. पुष्प, 9. फल, 10. बीज।

विभागों में जीवों की संख्या-

इनमें भी प्रारम्भिक कच्ची अवस्था में अमुक अमुक लक्षण पाए जाए तो उन दसों विभाग (मूल से लेकर बीज पर्यन्त) में अनन्त जीव हो सकते है और बाद में लक्षण परिवर्तन होने पर अनन्त जीव नहीं रहते हैं।

आलु आदि जिन पदार्थों को साधारण वनस्पति कहा गया है उनके भी मूल कंद यावत् बीज पर्यन्त 10 विभाग होते हैं। इनमें सूचित किए गए नाम से जो कंद या मूल विभाग है वह तो अचित्त होने के पूर्व तक अनन्त काय-अनन्त जीवी ही रहता है ऐसा समझना चाहिए और शेष 8 विभाग (बीज पर्यन्त) में सूत्र कथित लक्षण पाए जाए तब तक वे अनन्त काय रह सकते हैं। जब लक्षण न पाए जाए तो वे विभाग अनन्त काय नहीं रहते हैं, प्रत्येक काय हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण वनस्पति के कन्द या मूल के सिवाय विभाग प्रत्येक काय हो सकते हैं और प्रत्येक वनस्पति के दसों विभाग में कच्ची प्रारम्भिक अवस्था में अनन्त जीव भी रह सकते हैं।

अनंत काय के लक्षण इस प्रकार है-

वृक्षों में जीव संख्या-

अनन्त काय के लक्षणों के अभाव में प्रत्येक वनस्पति काय मूल कन्द आदि दस विभागों युक्त सम्पूर्ण वृक्ष असंख्यात जीवी या संख्यात जीवी दो प्रकार के होते हैं।

तथा इनके मूल कन्द यावत् बीज पर्यन्त विभाग असंख्यात या संख्यात अथवा एक जीव वाले भी होते है और कोई विभाग निर्जीव भी हो जाते हैं।

वृक्ष का मुख्य जीव-

वृक्ष का मुख्य जीव एक स्वतन्त्र होता है जिसके आत्म प्रदेश वृक्ष के दसों विभागों तक रहते हैं और पूरे वृक्ष की अवगाहना उसकी अवगाहना कहलाती है। उस जीव के आयु समाप्त हो जाने पर 'पउट्टपरिहार' न हो तो पूरा वृक्ष धीरे-धीरे सूखकर ठूंठ बन जाता है। यदि मुख्य जीव के मरने के बाद 'पउट्टपरिहार' हो जाए अर्थात् अन्य जीव आकर या वही जीव पुनः मुख्य जीवपने उत्पन्न हो जाए तो वृक्ष की स्थिति नए आए जीव की उम्र पर्यन्त रहती है और उस नए आए जीव की पर्याप्त होते ही अवगाहना भी पूर्ण वृक्ष की अवगाहना जितनी हो जाती है।

विभागों के मुख्य जीव-

वृक्ष के दस विभागों में मुख्य जीव अलग-अलग होते हैं। 'पत्र' विभाग में मुख्य जीव एक ही होता है शेष 9 विभागों में मुख्य जीव एक या अनेक या असंख्य भी हो सकते हैं।

विभागों के मुख्य जीवों के आश्रय में जीव-

इन सभी मुख्य जीवों के नेश्राय (आश्रय) से अमुक लक्षण अवस्थाओं में अनन्त, असंख्य या संख्य जीव भी रह सकते है अर्थात् अनन्त काय के लक्षण हो जब तक अनन्त जीव, पूर्ण कच्ची या हरी अवस्था में रहे तब तक असंख्य जीव और अर्ध पक्क व पक्व अवस्था में संख्याते जीव तथा अनेक जीव और पूर्ण पक्क व शुष्क अवस्था में अनेक या एक जीव होते हैं और कई विभाग सूखने पर निर्जीव भी हो जाते हैं।

जीव संख्या निष्कर्ष-

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि से मूल से लेकर बीज तक के सभी विभाग किसी स्थिति में अनन्त जीवी, असंख्य जीवी संख्य जीवी अनेक जीवी एक जीवी और निर्जीव भी हो सकते हैं।

स्थितियां-

वृक्ष के दसों विभागों की भिन्न भिन्न उत्कृष्ट स्थितियां भी भगवती सूत्र शतक 11 तथा शतक 21, 22,23 में बताई गई हैं।

किसी प्रकार का व्याघात न हो तो उन-उन स्थिति पर्यन्त वे विभाग जीव युक्त अर्थात् सचित रह सकते हैं। तथा व्याघात होने पर उसके पूर्व भी अचित्त हो सकते हैं।

अर्थात् उनकी उत्कृष्ट स्थिति नहीं होकर मध्यम स्थिति होती है। व्याघात दो प्रकार का है यथा -

1. स्वाभाविक आयु समाप्ति पर, 2. शस्त्र से छेदन भेदन होने पर।

बीज और फलों की अवस्था–

वृक्ष के मूल से लेकर पुष्प पर्यंत के आठ विभागों के सचित्त अचित्त होने का निर्णय प्रायः निर्विवाद है अर्थात् ये विभाग सूख जाने पर या शस्त्र प्रयोग हो जाने पर ही अचित्त होते हैं और जब तक गीले हो या अग्नि आदि से पूर्ण शस्त्र परिणत नहीं हो तब तक सचित्त है।

फल–

वनस्पति का नवमां विभाग 'फल' है। यह भी सूखने पर या अग्नि आदि से शस्त्र परिणत होने पर अचित्त हो जाता है और यदि पूर्ण पक्व फल है तो बीज और बीटके के अलग हो जाने पर स्वाभाविक ही अचित्त है सूखने पर या अग्नि पर शस्त्र परिणत होने का प्रश्न ही नहीं रहता है। तो भी यह फल विभाग बीज या बीजों से सम्बद्ध होता है इस कारण पूर्व के आठ विभागों के समान इसकी निर्विवाद अचितता स्वतन्त्र नहीं है।

एक बीजी फल– कोई फल में एक बीज (गुठली) होती है वह फल के साथ ही पूर्ण पक जाती है और सरलता से फल से अलग भी हो जाती है ऐसे पके फलों के शेष अंश की अचितता निर्विवाद है फिर भी फल का बीटका स्वस्थ है अर्थात् सड़ गल नहीं गया है तो सचित्त है। साथ ही पके फलों के छिलके भी सचित्त अचित्त दोनों अवस्था में रहते हैं।

1. ताजे चमकदार एवं सख्त स्पर्श वाले सचित्त हैं।

2. गल जाने से नरम हो गए हो, चमक कम हो गई हो अथवा मूल रंग में कुछ काले दाग या परिवर्तन आया हो तो वे अचित्त हैं।

बहु बीजी फल– किसी फल में 4-5, किसी में 8-10 किसी में 50-100 अथवा सैकड़ों बीज होते हैं।

किसी में खसखस से भी बीज छोटे होते हैं और किसी में अच्छे बड़े होते हैं।

किसी में काले, किसी में कत्थाई और किसी में पीले रंग के बीज होते हैं और कोई सफेद रंग के ही दिखते हैं।

इनमें जो बीज कठोरता युक्त हो जाते है वे परिपक्क और एक जीवी होते है और सहज ही फल के गिर से अलग निकल जाते हैं। किन्तु जो कठोर नहीं होते हैं और जो सफेद कौमल छोटे या कुछ बड़े बीज होते हैं वे अपरिपक्क और संख्य या असंख्य जीवी होते हैं, और फल के गिर में से सहज नहीं निकल पाते।।

कई फलों में सभी परिपक्क बीज रहते हैं और कई फलों में परिपक्क और अपरिपक्क (सफेद या नरम) दोनों प्रकार के बीज रहते हैं।

इसलिए इन बीजों, छिलकों और बीटकों के कारण फल की अचितता निर्विवाद नहीं रहती है सभी पहलुओं की विचारणा करने पर ही उसकी अचितता का निर्णय होता है।

वनस्पतिक का उत्पादक बीज–

वृक्ष की उत्पत्ति का मूल कारण होने से अन्तिम दसवें विभाग को बीज कहा गया है। किसी-किसी वनस्पति के उत्पत्ति में बीज के सिवाय अन्य विभाग भी कारण बनते हैं अतः उन्हें भी आगम में केवल बीज न कहकर बीज शब्द के साथ सूचित किया जाता है यथा-

''अग्गबीया, मूल बीया, पोर बीया, खंद बीया, वनस्पतियां।''

वनस्पति के ये स्थान बीज रूप नहीं होते हुए भी अर्थात् खंद, मूल, पर्व होते हुए भी बीज का कार्य (वृक्ष उत्पत्ति रूप कार्य) करने वाले हैं। इन चार प्रकार की वनस्पतियों के भी फल और बीज स्वतन्त्र भी हो सकते हैं। तथापि उनके ये विभाग बीज का कार्य करने वाले होने से बीज रूप कहलाते हैं। इसलिए कई वृक्ष कलम करने से लगते है तथापि सभी वनस्पतियां अपने बीज से तो ऊगती ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।

साधारणतया उगने वाला विभाग बीज है और कोई-कोई वनस्पति खंद पर्व आदि से उगती है। खंद पर्व आदि तो सूखने के बाद नहीं ऊगते। अतः ये सचित गीली अवस्था में ही ऊगते हैं। किन्तु बीज विभाग पकने व सूखने के बाद ही ऊगते हैं गीली अवस्था में नहीं ऊगते।

बीजों का सचित्त काल (उम्र)–

ठाणांग सूत्र व भगवती सूत्र में धान्यों की 3 वर्ष, द्विदलों की 5 वर्ष और शेष अन्य बीजों की 7 वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति बताई है। तीन प्रकार की स्थितियों में समस्त वनस्पति के बीजों का समावेश हो जाता है अर्थात् 7 वर्ष से अधिक कोई भी बीज सजीव नहीं रहता है। इनकी यह स्थिति वृक्ष पर तो बहुत अल्प ही बीतती है किन्तु वृक्ष से अलग होने के बाद और सूखने के बाद ज्यादा बीतती है। इस प्रकार दस विभाग में यह बीज विभाग ही ऐसा है जो सूखने पर भी वर्षों तक सचित्त रहता है और ऊगने की शक्ति धारण किए रहताहै।

विकसित और परिपक्क अवस्था–

फल और बीज का पहले पूर्ण विकास होता है पूर्ण विकास के बाद उसमें परिपक्क अवस्था आती है।

जब फल की पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती है तब बीज की भी पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती है और फल के परिपक्क होने के साथ कई बीज भी परिपक्क होने लगते हैं। कई फल वृक्ष पर ही पूर्ण परिपक्क होने के बाद तोड़े जाते है और कई पूर्ण परिपक्क अवस्था के पूर्व ही तोड़ कर अन्य प्रयोगों से पूर्ण परिपक्क बनाए जाते है। वृक्ष पर पूर्ण परिपक्क बनने वाले फलों के बीज में तो ऊगने की योग्यता बन ही जाती है। किन्तु अन्य प्रयोगों से परिपक्क बनने वाले कई फलों के बीज परिपक्क बनते है और कई नहीं बनते। तथा अनेक बीज वाले एक फल में भी कोई बीज परिपक्क होते है और कई नहीं होते।

उत्पादक (ऊगने की) शक्ति-

वृक्ष पर या बाद में जो बीज पूर्ण परिपक्व नहीं बनते है उनमें पूर्ण विकसित अवस्था होकर भी ऊगने की योग्यता नहीं आती है। जो पूर्ण परिपक्व हो जाते है वे ही ऊग सकते हैं।

फल की पूर्ण विकसित अवस्था होने पर बीज की भी पूर्ण विकसित अवस्था हो जाती : है वह लम्बी स्थिति तक सचित्त रह सकता है किन्तु ऊगने की योग्यता तो पूर्ण परिपक्व होने पर ही होती है।

अतः कई बीजों में ऊगने की योग्यता रहती है और कई में नहीं। जिनमें ऊगने की योग्यता है वे 3-5-7 वर्ष की स्थिति समाप्त होने पर अचित्त हो जाने पर भी ऊगते हैं।

अतः फल की पूर्ण विकसित अवस्था का पूर्ण विकसित बीज अपनी स्थिति पर्यन्त सचित्त रह सकता है और फल की पूर्ण परिपक्व अवस्था का पूर्ण परिपक्क बीज अपनी स्थिति पर्यन्त तथा उस के बाद अचित्त हो जाने पर भी अखण्ड रहे तब तक ऊग सकता है।

इससे यह समझना चाहिए कि ऊगने का लक्षण अलग है और सचित्त होने का लक्षण अलग है दोनों का कुछ तो सम्बन्ध है किन्तु अविनाभाव सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है।

बीज और फल के गिर का सम्बन्ध-

फल में बीज पूर्ण परिपक्क न हुए हो या फल स्वयं पूर्ण परिपक्क न हुए हों तो फल विभाग (गिर) भी पूर्ण अचित्त नहीं कहा जा सकता है। फल के पूर्ण परिपक्व होने के बाद उसके बीटके में और बीज में जीव रहता है शेष गिर विभाग अचित्त हो जाता है। यदि फल में बीज का विकास ही नहीं हुआ या बीज पूर्ण परिपक्व नहीं हुए तो उनका गिर सचित्त या मिश्र होता है शस्त्र परिणत होने पर ही वह अचित्त हो सकता है उसके पूर्व नहीं।

तीन योनि-

पन्नवणा सूत्र के योनि पद 9 में वनस्पति की सचित्त अचित्त मिश्र तीनों योनि बताई है, अतः पूर्ण अचित्त बीज भी ऊग सकते है। इस आगम प्रमाण से भी ऊगने व सचित्त होने के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है। किन्तु यही स्पष्ट होता है कि वनस्पति सचित्त, अचित्त बीजों से भी ऊगती है और समुर्छिम अर्थात् बिना बीज के भी ऊगती है।

वृक्षों के दो विभाग-

पन्नवणा पद प्रथम में वृक्षों के दो विभाग किए है जो उनके फल की अपेक्षा से किए गए है। यथा- एक बीज (गुठली) वाले और अनेक बीज वाले। किन्तु वहां तीसरा 'अबीया' भेद नहीं किया है। अतः किसी भी पूर्ण विकसित फल को अबीज कहना उचित नहीं कहा जा सकता।

निर्णय करने में धारणा या जीतव्यवहार को प्रमुख नहीं करना चाहिए।

व्युत्क्रम से प्रमुखता देने में स्वार्थ-भाव या राग-द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्ष भाव नहीं रहता है। इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अंतिम अंश में राग द्वेष एवं पक्षपात भाव से रहित होकर यथाक्रम से व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सूत्र निर्दिष्ट क्रम से एवं निष्पक्ष भाव से व्यवहार करने वाले को आराधक कहा गया है 7 अतः पक्षभाव से एवं व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह स्पष्ट है।

व्यवहार शब्द का विस्तृत अर्थ करने पर यह भी फलित होता है कि संयमी जीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्ररुपित तत्त्व से सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद की स्थिति का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगम व्यवहारी हो तो उनके निर्णय को स्वीकार कर के विवाद को समाप्त कर देना चाहिए।

यदि आगम व्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नहीं मानना चाहिए। क्योंकि आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुत व्यवहार प्रमुख है।

वर्तमान में सर्वोपरी प्रमुख स्थान आगमों का है, उसके बाद व्याख्याओं एवं ग्रन्थों का स्थान है तत्पश्चात स्थविरों द्वारा धारित कंठस्थ धारणा या परम्परा का है। व्याख्याओं या अन्यों में भी पूर्व पूर्व के आचार्यों की रचना का प्रमुख स्थान है।

अतः वर्तमान में सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्याकार अन्य का महत्व नहीं होता है। उसी प्रकार शास्त्रप्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्व नहीं है। इसलिए शास्त्र ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी यथाक्रम विवेकपूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अतः इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्ष भाव से आगम तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवती सूत्र श. 8 उ. 8 में तथा ठाणांग अ. 5 उ. 2 में भी यह सूत्र है।

सारांश यह है कि प्रायश्चित्तों का या अन्य तत्त्वों का निर्णय इन पांच व्यवहारों द्वारा क्रम पूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं अर्थात् किसी विषय में आगम पाठ के होते हुए भी धारणा या परम्परा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

एवं जिस विषय में प्राचीन ग्रन्थों या व्याख्या ग्रन्थों का यदि प्रमाण हो जो आगम से अविरुद्ध हो उसकी अपेक्षा धारणा या परम्परा या व्यक्तिगत गच्छों के निर्णय को प्रमुखता देना भी अनुचित ही समझना चाहिए।

इसलिए जिस विषय में आगम प्रमाण या अन्य प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो तो वहां परम्परा या धारणा का अथवा व्यक्तिगत निर्णयों का आग्रह नहीं करना चाहिए।

किंतु संपूर्ण जैन समाज की एकता एवं सुव्यवस्था के लिए किसी ग्रन्थ या व्याख्याओं की बात को गौण भी करना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए बशर्ते कि वह निर्णय या वह निर्णित पद्धति आगम आज्ञा से विरुद्ध न हो।

इस प्रकार संघ हितैषी ज्ञानी आत्माओं को निष्पक्ष भाव से विवेक पूर्वक आवश्यक तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए यही इस सूत्र का प्रमुख आशय है।

पांच व्यवहारों का समझा मर्म। मिला उसे सच्चा जिन धर्म ।।

परिशिष्ट-2

(उद्देशक 1 सूत्र 34)

कलह उत्पत्ति एवं उसकी उपशांति-

यद्यपि भिक्षु आत्मसाधना के लिये संयम स्वीकार कर प्रतिक्षण, स्वाध्याय, ध्यान आदि संयम-क्रियाओं में अप्रमत्त भाव से विचरण करता है तथापि शरीर, आहार, शिष्य, गुरु, वस्त्र, पात्र आदि कषाय के निमित्त बन जाते हैं क्योंकि--

1. प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव, क्षयोपशम, विवेक भी भिन्न-भिन्न होता है।

2. क्रोध मान आदि कषायों की उपशांति भी सभी की भिन्न-भिन्न होती है।

3. परिग्रह त्यागी होते हुए भी द्रव्यों एवं क्षेत्रों के प्रति अममत्व भाव में भिन्नता रहती है।

4. विनय, सरलता, क्षमा, शान्ति आदि गुणों के विकास में सभी को एक समान सफलता नहीं मिल पाती है।

5. अनुशासन करने में एवं अनुशासन पालने में भी सभी की शान्ति बराबर नहीं रहती है।

6. भाषा प्रयोग का विवेक भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होता है।

इत्यादि कारणों से साधना की अपूर्ण अवस्था में प्रमादवश उदयभाव से भिक्षुओं भिक्षुओं के आपस में कभी भी कषाय या क्लेश उत्पन्न हो सकता है।

भाष्यकार ने कलह उत्पत्ति के कुछ निमित्त कारण इस प्रकार बताये हैं- 1. शिष्यों के लिये, 2. उपकरणों के लिये, 3. कटु वचन के उच्चारण से, 4. भूल सुधारने की प्रेरणा करने के निमित्त से, 5. परस्पर संयम निरपेक्ष चर्चा वार्ता एवं विकथाओं के निमित से, 6. श्रद्धा सम्पन्न विशिष्ट स्थापना कुलों में गोचरी करने या नहीं करने के निमित्त से।

कलह उत्पन्न होने के बाद भी संयमशील मुनि के संज्वलन कषाय के कारण अशान्त अवस्था अधिक समय नहीं रहती है वह सम्भल कर आलोचना प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र में एक विशिष्ट सम्भावना बताकर उसका समाधान किया गया है कि कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशान्त न होना चाहे तब दूसरे उपशान्त होने वाले भिक्षु को यह सोचना चाहिये कि क्षमापना, शान्ति, उपशान्ति आदि आत्मनिर्भर है, परवश नहीं। यदि योग्य उपाय करने पर भी दूसरा उपशान्त न हो और

व्यवहार में शान्ति भी न लावे तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशान्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वयं के पूर्ण उपशान्त एवं कषाय रहित हो जाने से स्वयं की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशान्त रहने पर उसकी ही विराधना होती है दोनों की नहीं। अतः भिक्षु के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वयं पूर्ण उपशान्त हो जाए।

इस विषय में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि अन्य भिक्षु उपशान्त न होवे और उक्त व्यवहार भी शुद्ध न करें तो अकेले को उपशान्त होना क्यों आवश्यक है? इसके उत्तर में समझाया गया है कि 'कषायों की उपशान्ति करना' यही संयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक स्थिति में शान्त रहना यही संयमधारण करने का एवं पालन करने का सार है। अतः अपने संयम की आराधना के लिये स्वयं को सर्वथा उपशांत हो जाना अत्यन्त आवश्यक समझना चाहिए।

परिशिष्ट-3

(उद्देशक 1 सूत्र 46 - 47)

शौच एवं स्वाध्यायार्थ रात्रि में गमनागमन विधि-

मल मूत्र त्यागने के स्थान को 'विचार -भूमि' कहते हैं और स्वाध्याय के स्थान को 'विहार-भूमि' कहते हैं।

रात्रि के समय या सन्ध्याकाल में यदि किसी साधु को मल-मूत्र-विसर्जन के लिए जाना आवश्यक हो तो उसे अपने स्थान से बाहर विचार-भूमि में अकेला नहीं जाना चाहिए।। इसी प्रकार उक्त काल में यदि स्वाध्यायार्थ विहार-भूमि में जाना हो तो उपाश्रय बाहर अकेले नहीं जाना चाहिए। किन्तु वह एक या दो साधुओं के साथ जा सकता है।

उपाश्रय का भीतरी भाग एवं उपाश्रय के बाहर सौ हाथ का क्षेत्र उपाश्रय की सीमा में गिना गया है उससे दूर (आगे) जाने की अपेक्षा से सूत्र में 'बहिया' शब्द का प्रयोग किया गया है अथवा 'गांव के बाहर' ऐसा अर्थ भी 'बहिया' शब्द का होता है।

स्वाध्याय के लिये या मल-विसर्जन के लिये दूर जाकर पुनः आने में समय अधिक लगता है। इस कारण से अकेले जाने में अनेक आपत्तियों एवं आशंकाओं की सम्भावना रहती है। यथा-

1. प्रबल मोह के उदय से या स्त्री-उपसर्ग से पराजित होकर अकेला भिक्षु ब्रह्मचर्य खंडित कर सकता है। 2. सर्प आदि जानवर के काटने से, मूर्छा आने से या कोई टक्कर लगने से कहीं गिरकर पड़ सकता है। 3. चोर ग्रामरक्षक आदि पकड़ सकते हैं एवं मारपीट कर सकते हैं। 4. स्वयं भी कहीं भाग सकता है। 5. अथवा आयु समाप्त हो जाए तो उसके मरने की बहुत समय तक किसी को जानकारी भी नहीं हो पाती है। इत्यादि कारणों से रात्रि में अकेले भिक्षु को मल त्यागने एवं स्वाध्याय करने के लिए उपाश्रय की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिए। उपाश्रय की सीमा में ही जाने पर उक्त दोषों की सम्भावना प्रायः नहीं रहती है। क्योंकि वहां तो अन्य साधुओं का जाना-आना बना रहता है एवं कोई आवाज होने पर भी सुनी जा सकती है।

साधुओं की संख्या अधिक हो और मकान छोटा हो अथवा उपाश्रय में अस्वाध्याय का कोई कारण हो जाए तो रात्रि में स्वाध्याय के लिए अन्यत्र गमनागमन किया जाता है, अन्यथा रात्रि में ईर्या का काल न होने से गमनागमन करने का निषेध ही है।

उपाश्रय की याचना करते समय ही उसके मल-मूत्र त्यागने की भूमि से सम्पन्न होने का अवश्य ध्यान रखना चाहिए ऐसा विधान आचा. श्रु. 2, अ. 2, उ. 2 में तथा दशवै अ. 8, गा. 52 में किया गया है। मल-मूत्र आदि शरीर के स्वाभाविक वेगों को रोका नहीं जा सकता है इसलिए रात्रि में भी आवश्यक होने पर किसी साधु को बाहर जाना पड़ सकता है।

भाष्यकार ने बताया है कि यदि साधु भयभीत होने वाला न हो एवं उपर्युक्त दोषों की सम्भावना न हो तो साथ के साधुओं को सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है। दो साधु हैं और एक बीमार है अथवा तीन साधु है एक बीमार है और एक को उसकी सेवा में बैठना आवश्यक है तो उसे सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है। अनेक कारणों से अथवा अभिग्रह, पडिमा आदि धारण करने से एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु भी कभी रात्रि में बाहर जाना आवश्यक हो तो सावधानी रखकर जा सकते हैं। किन्तु उत्सर्गविधि से सूत्र में कहे अनुसार एक या दो साधुओं को साथ में लेकर ही जाना चाहिए। एक से भी अधिक साधुओं को साथ ले जाने का कारण यह है कि कहीं-कहीं अत्यधिक भयजनक स्थान होते हैं।

साध्वी को तो दिन में भी गोचरी आदि कहीं भी अकेले जाने का निषेध ही है। अतः रात्रि में तो इसका ध्यान रखना अधिक आवश्यक है। दो से अधिक साध्वियों के जाने का अर्थात् तीन या चार के जाने का कारण केवल भयजनक स्थिति या भयभीत होने की प्रकृति ही समझना चाहिए। शेष विवेचन भिक्षु सम्बन्धी विवेचन के समान ही समझनाचाहिए। किन्तु साध्वियों को किसी प्रकार के अपवाद में भी अकेले जाना उचित नहीं है अतः कोई विशेष परिस्थिति हो तो श्राविका को साथ में लेकर जाना ही श्रेयस्कर होता है।

अन्य किसी विशेष परिस्थिति में साधु-साध्वी उच्चारमात्रक में मलविसर्जन कर प्रातः काल भी परठ सकते हैं एवं उसका यथा योग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर सकते हैं।

परिशिष्ट–4

(उद्देशक 2 सूत्र 7)

रात्रि भर अग्नि या पानी रहने वाले स्थान–

जिस मकान में सारी रात या दिन-रात अग्नि जलती है उस (कुम्भकारशाला या लोहार शाला आदि) में भिक्षु को ठहरना नहीं कल्पता है। यदि ठहरने के स्थान में एवं गमनागमन के मार्ग में अग्नि नहीं जलती हो, किन्तु अन्यत्र कहीं भी (मकान के विभाग में) जलती हो, तो ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि या दिन-रात जहां दीपक जलता है वह स्थान भी अकल्पनीय है।

अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरने के दोष–

1. अग्नि के या दीपक के निकट से गमनागमन करने में अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है। 2. हवा से कोई उपकरण अग्नि में पड़कर जल सकता है। 3. दीपक के कारण आने वाले त्रस जीवों की विराधना होती है। 4. शीत निवारण करने का संकल्प उत्पन्न हो सकता है।

आचा. श्रु. 2, अ. 2, उ. 3 में भी अग्नियुक्त स्थान में ठहरने का निषेध है एवं निशीथ उ. 16 में इसका प्रायश्चित्त विधान है। इसे भी सर्व रात्रि की अपेक्षा ही समझना चाहिए।

इन आगमस्थलों में अल्पकालीन अग्नि या दीपक का निषेध नहीं किया गया है क्योंकि इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक में पुरुष सागारिक उपाश्रय में साधु को एवं स्त्री सागारिक उपाश्रय में साध्वी को ठहरने का विधान है। जहां अग्नि या दीपक जलने की सम्भावना भी रहती है अतः इन सूत्रों से सम्पूर्ण रात्रि अग्नि जलने वाले स्थानों का निषेध समझना चाहिए।

अन्य विवेचन पूर्व सूत्र के समान समझना चाहिए।

जिन स्थानों में पुरुष या स्त्री किसी भी स्व पक्ष का निवास होगा वहां अग्नि और पानी तो रहेगा ही। क्योंकि वे पीने के लिए पानी रखेंगे एवं अन्य कार्य के लिए समय पर अग्नि और दीपक जलाएंगे।

किन्तु उनका पीने का पानी अलग विभाग में रखा जावेगा एवं उनके दीपक और अग्नि भी अलग विभाग में होंगे अथवा अल्पकालीन होंगे सम्पूर्ण दिन रात जलने वाले नहीं होंगे।

भाष्यकार ने अग्नि और दीपक सम्बन्धी होने वाले जो दोष बताये हैं। वे अधिकतर खुले दीपक में घटित होते हैं तथापि वर्त्तमान की बिजली में भी कुछ कुछ घटित होते हैं। अर्थात् त्रस जीवों की विराधना एवं प्रकाश का उपयोग लेने के परिणाम या प्रवृत्ति होना उसमें भी सम्भव है।

निष्कर्ष यह है कि गृहस्थ की निश्रा वाले अलग विभाग में पानी रहे या अल्प समय के लिए कहीं पर भी अग्नि दीपक जले तो भिक्षु को ठहरने में बाधा नहीं है।

किन्तु रात्रि भर अग्नि दीपक जले या साधु की निश्रा वाले विभाग में जल दिन रात रहे तो वहां नहीं ठहरना चाहिए अन्य स्थान के अभाव में 1-2 रात्रि ठहरा जा सकता है।

साधु के ठहरने के बाद गृहस्थों के लिए अल्प कालीन जल या दीपक की व्यवस्था की जाती है उसकी कोई बाधा नहीं समझना चाहिए।

पानी के निषेध सूत्र में अचित जल का ही कथन है। तथापि सचित जल की विराधना सम्भव हो तो वहां भी नहीं ठहरना चाहिए।

परिशिष्ट-5

(उद्देशक 2 सूत्र 4)

''उतने दिन का प्रायश्चित्त'' यह कथन मिथ्या है-

किसी भी सूत्र कथित मर्यादा के उल्लंघन के लिए जब प्रायश्चित्त कथन किया जाता है तब उसमें एक वचन की अपेक्षा 'से संतरा छेए वा परिहारे वा' यह वाक्य प्रयोग किया जाता है और बहुवचन के लिए 'सच्चेसिं तेसिं तप्पतियं छेए वा परिहारे वा' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

बहुवचन का उक्त प्रयोग व्यवहार सूत्र में पांच बार हुआ है और एक वचन का उक्त प्रयोग बृहत्कलप और व्यवहार सूत्र में अनेकों बार हुआ है।

इन सभी स्थलों पर टीकाकार ने एक ही प्रकार से अर्थ किया है उसका भावार्थ यह है कि-

1. **एकवचन-** उस संयत को अपने किए गये मर्यादा उल्लंघन का पांच अहोरात्र आदि का छेद या लघुमासिक आदि तप का प्रायश्चित्त आता है अर्थात् मर्यादा उल्लंघन की विचार परिणति छेद प्रायश्चित्त योग्य हो तो छेद का और तप प्रायश्चित्त योग्य हो तो तप का प्रायश्चित्त आता है। एकान्त छेद का आग्रह सूत्र में नहीं है।

2. **बहुवचन-** उन सभी को अपनी मर्यादा उल्लंघन के निमित्त यथा योग्य छेद या तप प्रायश्चित्त आता है। यहां भी छेद का आग्रह नहीं है।

छेद सूत्रों की व्याख्याओं में जहां भी छेद प्रायश्चित्त का स्पष्टीकरण किया जाता है वहां जघन्य 5 दिन का कथन करके फिर पांच पांच दिन क्रमशः बढाकर कथन किया जाता है। उत्कृष्ट छः मास का छेद कहा जाता है। उसके आगे छेद प्रायश्चित्त नहीं है ऐसा कथन किया जाता है। उत्कृष्ट छेद छः मास का तीन बार देने के बाद उसी दोष में नई दीक्षा का (मूल) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

स्पष्ट और एक मत से प्राचीन व्याख्याओं के उपलब्ध होते हुए भी किसी भ्रम विशेष से एवं गतानुगतिकवृत्ति से ऐसी परम्परा भी चल पड़ी है कि **'से संतरा छेए वा परिहारे वा'** वाक्य होने से उतने ही दिन का छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए। किंतु ऐसी प्ररुपणा और प्रवृत्ति पूर्णतः निराधार एवं आगम विपरीत है।

ऐसी व्याख्या टीकाकार ने या अन्य प्राचीन व्याख्याकारों ने कहीं पर भी नहीं की है। अतः ऐसी व्याख्या करना और छः मास से अधिक वर्ष दो वर्ष का भी छेद प्रायश्चित्त दे देना एवं अल्पतम प्रायश्चित्त भी उतने दिन का छेद ही देना सर्वथा अनुचित एवं मन कल्पित दुराग्रह मात्र है।

पारिहारिक भिक्षु के पास बैठ जाने पर या ज्ञात कुल में गोचरी चले जाने पर अथवा आचार्य उपाध्याय प्रवर्त्तिनी पद व्यवस्था में बराबर सहयोग न देने पर **'उतने ही दिन के प्रायश्चित्त'** का कथन निरर्थक सिद्ध होता है क्योंकि वहां दिनों का कोई प्रश्न नहीं हैं।

अतः किसी भी मर्यादा उल्लंघन के प्रायश्चित्त विधान के लिए प्रयुक्त **'से संतरा छेए वा परिहारे वा'** वाक्य से यथा योग्य 5 दिन 10 दिन आदि का छेद या लघु मास, गुरु मास आदि तप का प्रायश्चित्त कहा जाता है ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि भ्रमित एवं निराधार अर्थ प्ररुपणा को छोड़ कर सत्य और सर्व व्याख्याकार सम्मत एवं आगम सम्मत अर्थ को स्वीकार करना चाहिए।

उद्देशक 2 सूत्र 4 का टीकांश इस प्रकार है-

''से''- तस्य संयतस्य, 'स्वांतरात्' - स्वस्वकृतं यदन्तर-त्रिरात्रचतुरात्रादि काल अवस्थानरुपं, तस्मात्, 'छेदो वा' - पंच रात्रि दिवादिः, 'परिहारो वा' - मासलघुकादितपोविशेषो भवति इति सूत्रार्थः।

टीका में कहीं संक्षिप्त कहीं विस्तृत इसी भावार्थ की व्यख्या सर्वत्र की गई है। 'उतने ही दिन का प्रायश्चित्त' ऐसी व्याख्या कहीं भी नहीं की गई है। टब्बों की रचना के बाद ही ऐसे अर्थ की परंपरा चल पड़ी है जो प्राचीन प्रमाणों के अभाव में भ्रममूलक ही सिद्ध होती है।

परिशिष्ट-6

(उद्देशक 4 सूत्र 19)

दसकल्प और उनके विकल्प-

जो साधु आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्प में स्थित होते हैं और पंच याम रूप धर्म का पालन करते हैं ऐसे प्रथम और अंतिम तीर्थकर के साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं।

जो आचेलक्यादि दस प्रकार के कल्प में स्थित नहीं है किन्तु कुछ ही कल्पों में स्थित हैं और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के साधु अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

जो आहार गृहस्थों ने कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया है, उसे वे नहीं ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आहार अकल्पस्थित जिन साधुओ के लिए बनाया गया है उसे अन्य अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं और सभी कल्पस्थित साधु ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

10 कल्प (साधु के आचार) इस प्रकार है-

1. अचेलकल्प- अमर्यादित वस्त्र न रखना किन्तु मर्यादित वस्त्र रखना। रंगीन वस्त्र न रखना किन्तु स्वाभाविक रंग का अर्थात् सफेद रंग का वस्त्र रखना। मूल्यवान चमकीले वस्त्र न रखना किन्तु अल्प मूल्य के सामान्य वस्त्र रखना।

2. औद्देशिक कल्प- अन्य किसी भी साधर्मिक या सांभोगिक साधुओं के उद्देश्य से, बनाया गया आहार आदि औद्देशिक दोष वाला होता है। ऐसे आहार आदि को ग्रहण नहीं करना।

3. शय्यातरपिंडकल्प- शय्यादाता (मकान मालिक) का आहारादि ग्रहण नहीं करना।

4. राजपिंड कल्प- मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहारादि नहीं लेना।

5. कृतिकर्मकल्प- रत्नाधिक को वंदन आदि विनय व्यवहार करना।

6. व्रतकल्प- पांच महाव्रतों का पालन करना अथवा चार याम का पालन करना। चार याम में चौथे और पांचवें महाव्रत का सम्मिलित नाम 'बहिद्धादाणं' है।

7. ज्येष्ठकल्प- जिसकी बड़ी दीक्षा (उपस्थापना) पहले हुई हो, वह ज्येष्ठ कहा जाता है साध्वियों के लिये सभी साधु ज्येष्ठ होते हैं। अतः उन्हें ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करना।

8. प्रतिक्रमण कल्प- नित्य नियमित रूप से दैवसिक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

9. मासकल्प- हेमंत-ग्रीष्म ऋतु में विचरण करते हुए किसी भी ग्रामादि में एक मास से अधिक नहीं ठहरना तथा एक मास ठहरने के बाद वहां दो मास तक पुनः आकर नहीं ठहरना। साध्वी के लिये एक मास के स्थान पर दो मास का कल्प समझना।

10. चातुर्मासकल्प- वर्षा ऋतु में चार मास तक एक ही ग्रामादि में स्थित रहना किन्तु विहार नहीं करना। चातुर्मास के बाद उस ग्राम में नहीं रहना। एवं आठ मास (और बाद में चातुर्मास काल आ जाने से बारह मास) तक पुनः वहां आकर नहीं रहना।

ये दस ही कल्प प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियों को पालन करना आवश्यक होता है। मध्यम तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों को चार कल्प का पालन करना आवश्यक होता है, शेष छः कल्पों का पालन करना आवश्यक नहीं होता।

चार आवश्यक कल्प- 1. शय्यातरपिंडकल्प, 2. कृतिकर्मकल्प, 3. व्रतकल्प, 4. ज्येष्ठकल्प।

छः ऐच्छिक कल्पों का स्पष्टीकरण-

1. अचेल- अल्प मूल्य या बहुमूल्य, रंगीन या स्वाभाविक, किसी भी प्रकार के वस्त्र अल्प या अधिक परिमाण में इच्छानुसार या मिले जैसे ही रखना।

2. औद्देशिक- स्वयं के निमित्त बना हुआ आहारादि नहीं लेना किन्तु अन्य किसी भी साधर्मिक साधु के लिये बने आहारादि इच्छानुसार लेना।

3. राजपिंड- मूर्धाभिषिक्त राजाओं का आहार ग्रहण करने में इच्छानुसार करना।

4. प्रतिक्रमण- नियमित प्रतिक्रमण इच्छा हो तो करना किन्तु पक्खी चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करना।

5. मासकल्प- किसी भी ग्रामादि में एक मास या उससे अधिक इच्छानुसार रहना या कभी भी वापिस वहां आकर ठहरना।

6. चातुर्मास कल्प- इच्छा हो तो चार मास एक जगह ठहरना या नहीं ठहरना किन्तु संवत्सरी के बाद कार्तिक सुदी पूनम तक एक जगह ही रहना। उसके बाद इच्छा हो तो विहार करना, इच्छा न हो तो न करना।

परिशिष्ट-7

(उद्देशक 4 सूत्र 20 से 28)

बारह संभोग एवं उनका विवेक-

साधु मण्डली में एक साथ बैठना-उठना, खाना-पीना, तथा अन्य दैनिक कर्तव्यों का एक साथ पालन करना 'संभोग' कहलाता है।

समवायांग सूत्र के समवाय 12 में संभोग के बारह भेद बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार है-

1. उपधि- वस्त्र पात्र आदि उपकरणों को परस्पर देना-लेना।

2. श्रुत- शास्त्र की वाचना देना-लेना।

3. भक्तपान- परस्पर आहार पानी या औषध का लेन-देन करना।

4. अंजली प्रग्रह- संयम पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं के पास हाथ जोड़ कर खड़े रहना या उनके सामने मिलने पर मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना।

5. दान- शिष्य का देना-लेना।

6. निमंत्रण- शय्या, उपधि, आहार, शिष्य एवं स्वाध्याय आदि के लिए निमंत्रण देना।

7. अभ्युत्थान- दीक्षा पर्याय में किसी ज्येष्ठ साधु के आने पर खड़े होना।

8. कृतिकर्म- अंजलि ग्रहण, आवर्त्तन, मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना एवं सूत्रोच्चारण कर विधि पूर्वक वंदन करना।

9. वैयावृत्य- अंग मर्दन आदि शारीरिक सेवा करना, आहार आदि लाकर के देना, वस्त्रादि सीना या धोना, मल-मूत्र आदि परठना अथवा ये सेवा कार्य अन्य भिक्षु से करवाना।

10. समवसरण- एक ही उपाश्रय में बैठना, सोना, रहना आदि प्रवृत्तियां करना।

11. सन्निषद्या- एक आसन पर बैठना अथवा बैठने के लिए आसन देना।

12. कथा-प्रबंध- सभा में एक साथ बैठकर या खड़े रहकर प्रवचन देना।

एक गण के या अनेक गणों के साधुओं में ये बारह ही प्रकार के पारस्परिक व्यवहार विहित होते हैं वे परस्पर 'सांभोगिक' साधु कहे जाते हैं।

जिन साधओं में **'भक्तपान'** के अतिरिक्त ग्यारह व्यवहार होते हैं वे परस्पर अन्य सांभोगिक साधु कहे जाते हैं। आचार-विचार लगभग समान होने से वे समनोज्ञ साधु भी कहे जाते हैं।

समनोज्ञ साधुओं से साथ ही ये ग्यारह या बारह प्रकार के व्यवहार किये जाते हैं किन्तु असमनोज्ञ अर्थात पार्श्वस्थादि एवं स्वछंदाचारी के साथ ये बारह प्रकार के व्यवहार नहीं किये जाते हैं। लोक व्यवहार या अपवाद रूप में गीतार्थ के निर्णय से उनके साथ कुछ व्यवहार किये जा सकते हैं। उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। किन्तु अकारण या गीतार्थ के अभाव में ये व्यवहार करने पर प्रायश्चित्त आता है।

गृहस्थ के साथ ये सभी व्यवहार नहीं किये जाते हैं।

साध्वियों के साथ उत्सर्ग विधि से छः व्यवहार ही होते हैं एवं छः व्यवहार आपवादिक स्थिति में किये जा सकते हैं।

उत्सर्ग व्यवहार	अपवाद व्यवहार
1. श्रुत (दूसरा)	1. उपधि (पहला)
2. अंजलि प्रग्रह (चौथा)	2. भक्त-पान (तीसरा)
3. शिष्य दान (पांचवा)	3. निमंत्रण (छठा)
4. अभ्युत्थान (सातवां)	4. वैयावृत्य (नवमां)
5. कृतिकर्म (आठवां)	5. समवसरण (दसवां)
6. कथा-प्रबंध (बारहवां)	6. सन्निषद्या (ग्यारहवां)

प्रायश्चित्त-

ये बारह व्यवहार गृहस्थ के साथ करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

स्वच्छंदाचारी के साथ ये व्यवहार करने पर गुरु चौमासी और पार्श्वस्थादि के साथ करने पर लघु चौमासी या लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

साध्वियों के साथ अकारण आपवादिक व्यवहार करने पर लघु चौमासी और गीतार्थ की आज्ञा के बिना करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

अन्य सांभोगिक समनोज्ञ भिक्षुओं के साथ भक्त-पान का व्यवहार करने से लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि लोक व्यवहार या आपवादिक स्थिति में गीतार्थ की निश्रा से भी जो आवश्यक व्यवहार (अंजलिप्रग्रह आदि) पार्श्वस्थादि के साथ नहीं करता है वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है एवं ऐसा करने से जिनशासन की अभक्ति और अपयश होता है।

गच्छ परिवर्त्तन की आज्ञा- (उद्देशक-4 सूत्र 20 से 28)

सूत्र-पठित वाक्यों से यह सूचित किया गया है कि जब कोई साधु यह देखें कि इस संघ में रहते हुए, एक मण्डली में खान-पान एवं अन्य कृतिकर्म करते हुए भावविशुद्धि के स्थान पर संक्लेशवृद्धि हो रही है, और इस कारण से मेरे ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि की समुचित साधना नहीं हो रही है, तब वह अपने को संक्लेश से बचाने के लिए तथा ज्ञान-चारित्रादि की वृद्धि के लिए अन्य गण में, जहां पर कि अधिक धर्मलाभ की संभावना हो, जाने की इच्छा करे तो वह जिसकी निश्रा में रह रहा है उनकी अनुज्ञा लेकर जा सकता है।

परिशिष्ट -8

(उद्देशक 5 सूत्र 10)

उद्गाल (उग्गाला) एवं उसका विवेक-

जब कभी कोई साधु मात्रा से अधिक खा-पी लेता है, तब उसे उद्गाल आता है और पेट का अन्न और पान मुख में आ जाता है। इसलिए गुरुजनों का उपदेश है कि साधु को सदा मात्रा से कम ही खाना-पीना चाहिए।

कदाचित् साधु के अधिक मात्रा में आहार-पान हो जाए और रात में या सायंकाल में उद्गाल आ जाए तो उसे सूत्रोक्त विधि के अनुसार वस्त्र आदि से मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए। जो उस उगाल आये भक्त-पान को वापस निगल जाता है वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने एक रूपक दिया है।

जैसे कड़ाही में मात्रा से कम दूध आदि ओटाया या रांधा पकाया जाता है तो वह उसके भीतर ही उबलता पकता रहता है, बाहर नहीं आता। किन्तु जब कड़ाही में भरपूर दूध या अन्य कोई पदार्थ भर कर ओटाया या पकाया जाता है तब उसमें उबाल आने पर वह कड़ाही से बाहर निकल जाता है और कभी तो वह चूल्हे की आग तक को बुझा देता है।

इसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने से उद्गाल आ जाता है और कम आहार करने से उद्गाल नहीं आता है।

परिशिष्ट-9

(उद्देशक 5 सूत्र 46 - 48)

रात्रि में खाद्य पदार्थ रखना या उपयोग में लेना-

इन सूत्रों में रात्रि में रखे गये पदार्थों का परिस्थितिवश खाने एवं उपयोग में लेने का विधान किया गया है। इससे रात्रि में खाना या उपयोग में लेना न समझकर परिवासित (रात्रि में रखे गये) पदार्थों को दिन में उपयोग में लेने का ही समझना चाहिये। दुर्लभ द्रव्यों को रात में रखने की एवं प्रबल रोगांतक में दिन में उपयोग लेने की छूट सूत्र से समझ लेनी चाहिये। भिन्न-भिन्न पदार्थो को रात्रि में किस विवेक से किस प्रकार रखना इसकी विधि भाष्य से जाननी चाहिए। यहां प्रथम प्रहर का अर्थ करना सूत्रार्थ और शब्दार्थ को छिपाकर मन कल्पित अर्थ करना है। प्रमाण के लिये प्राचीन व्याख्या व कोष देखने चाहिए।

परिशिष्ट-10

(उद्देशक 5 सूत्र 20-32)

साध्वी को अभिग्रह युक्त आसन निषेध-

वीरासण गोदोही मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पति।
ते पुण पडुच्च चेट्ठं, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्प ।। 5956 ।।

अर्थ- वीरासन और गोदोहिकासन को छोड़कर प्रवृति की अपेक्षा सभी आसन साध्वी को करने कल्पते हैं। सूत्रों में जो निषेध किया है वह अभिग्रह की अपेक्षा से किया है।

वीरासन और गोदुहिकासन ये स्त्री की शारीरिक समाधि के अनुकूल नहीं होते हैं, इस कारण से भाष्यकार ने निषेध किया है।

यद्यपि अभिग्रह आदि साधनाएं विशेष निर्जरा के स्थान है फिर भी साध्वी के लिये ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा में बाधक होने से इन आसन संबंधी अभिग्रहों का निषेध किया गया है। भाष्य में विस्तृत चर्चा सहित इस विषय को स्पष्ट किया गया है तथा वहां अगीतार्थ भिक्षुओं को भी इन अभिग्रहों के धारण करने का निषेध किया है।

परिशिष्ट-11

(उद्देशक 5 सूत्र 33 - 36)

अवलंबन युक्त आसनों के विधि निषेध-

'आकुंचनपट्टक' का दूसरा नाम 'पर्यस्तिकापट्टक' है। यह चार अंगुल चौड़ा एवं शरीरप्रमाण जितना सूती वस्त्र होता है। भींत आदि का सहारा न लेना हो तब इसका उपयोग किया जाता है।

जहां दीवाल.आदि पर उदई आदि जीवों की सम्भावना हो और वृद्ध ग्लान आदि को अवलम्बन लेकर बैठना आवश्यक हो तो इस पर्यस्तिकापट्ट से कमर को एवं घुटने ऊंचे करके पैरों को बांध देने पर आराम कुर्सी के समान अवस्था हो जाती है और दीवाल का सहारा लेने के समान शरीर को आराम मिल जाता है।

पर्यास्तिकापट्ट लगाकर इस तरह बैठना गर्वयुक्त आसन होता है। साध्वी के लिये इस प्रकार बैठना शरीर-सरंचना के कारण लोक निंदित होता है। इसलिए सूत्र में उनके लिये पर्यस्तिकापट्टक का निषेध किया गया है।

भाष्यकार ने बताया है कि अत्यन्त आवश्यक होने पर साध्वी को पर्यस्तिकापट्टक लगाकर उसके ऊपर वस्त्र ओढ़कर बैठने का विवेक रखना चाहिए। साधु को भी सामान्यतया पर्यस्तिकापट्ट नहीं लगाना चाहिये क्योंकि विशेष परिस्थिति में उपयोग करने के लिये ही यह औपग्रहिक उपकरण है।

पूर्व सूत्रों में अवलम्बन लेने के लिये पर्यस्तिका वस्त्र का कथन करने के बाद आगे के सूत्रों में अवलम्बन युक्त कुर्सी आदि आसनों का वर्णन है। आवश्यक होने पर भिक्षु इन साधनों का उपयोग कर सकता है। इनके न मिलने पर पर्यस्तिकापट्ट का उपयोग किया जाता है। जिन भिक्षुओं को पर्यस्तिकापट्ट की सदा आवश्यकता प्रतीत होवे तो वे उसे अपने पास रख सकते हैं। क्योंकि कुर्सी आदि साधन सभी क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होते।

सूत्र में साध्वी को अवलम्बन युक्त इन आसनों का भी निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी कभी सामान्य रूप से भी कुर्सी आदि उपकरण उपयोग में लेना आवश्यक समझें तो अवलम्बन लिये बिना वे उनका विवेक पूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

पाट या बाजोट आदि पर सींग जैसे ऊंचे उठे हुए छोटे-छोटे स्तम्भ होते हैं ! वे गोल एवं चिकने होने से पुरुष चिह्न जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिये इनका उपयोग करना साध्वी के लिये निषेध किया गया है। साधु को भी अन्य पीठ-फलग मिल जावे तो विषाण युक्त पीठ फलग आदि उपयोग में नहीं लेने चाहिए। क्योंकि सावधानी न रहने पर इनकी टक्कर से गिरने की या चोट लगने की सम्भावना रहती है और नुकीले हों तो चुभने की भी सम्भावना रहती है।

परिशिष्ट-12

(उद्देशक 9 सूत्र 41-42)

जैनागम में स्वमूत्र का उपयोग-

सूत्रोक्त प्रतिमाओं को धारण करने के बाद चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है, केवल स्वमूत्र पान करना खुला रहता है अर्थात् उन दिनों में जब जब जितना भी मूत्र आवे उसे सूत्रोक्त नियमों का पालन करते हुए पी लिया जाता है।

नियम इस प्रकार है- (1) दिन में पीना, रात्रि में नहीं। (2) कृमि, वीर्य, रज या चिकनाई युक्त हो तो नहीं पीना चाहिए। शुद्ध हो तो पीना चाहिए।

प्रतिमाधारी भिक्षु के उक्त रक्त, स्निग्धता आदि विकृतियां किसी रोग के कारण या तपस्या एवं धूप की गर्मी के कारण हो सकती है, ऐसा भाष्य में बताया गया है। कभी मूत्र पान से ही शरीर के विकारों की शुद्धि होने के लिए भी ऐसा होता है।

यद्यपि इस प्रतिमा वाला चौविहार तपस्या करता है और रात-दिन व्युत्सर्ग तप में रहता है फिर भी वह मूत्र की बाधा होने पर कायोत्सर्ग का त्याग कर मात्रक में प्रस्त्रवण त्याग करके उसका प्रतिलेखन करके पी लेता है। फिर पुनः कायोत्सर्ग में स्थित हो जाता है। यह इस प्रतिमा की विधि है।

इस प्रतिमा का पालन करने वाला मोक्षमार्ग की आराधना करता है। साथ ही उसके शारीरिक रोग दूर हो जाते है और कंचनवर्णी बलवान शरीर हो जाता है।

प्रतिमा-आराधना के बाद पुनः उपाश्रय में आ जाता है। भाष्य में उसके पारणे में आहार-पानी की 49 दिन की क्रमिक विधि बताई गई है।

लोकव्यवहार में मूत्र को एकांत अशुचिमय एवं अपवित्र माना जाता है किन्तु वैद्यक ग्रन्थों में इसे 'सर्वोषधि' शिवांबु आदि नामों से कहा गया है और जैनागमों में भिक्षु को ''मोयसमायारे' कह कर गृहस्थों को शुचिसमाचारी वाला कहा गया है।

अभि. रा. कोश में 'निशाकल्प' शब्द में साधु के लिए रात्रि में पानी के स्थान पर इसे आचमन करने में उपयोगी होना बताया है। स्वमूत्र का विधि पूर्वक पान करने पर एवं इसका शरीर की त्वचा पर अभ्यंगन करने पर अनेक असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। चर्मरोग के लिए या किसी प्रकार की चोट खरोंच आदि के लिए यह एक सफल औषध है अतः आगमों में मूत्र को एकान्त अपवित्र या अशुचिमय नहीं मानकर अपेक्षा से पेय एवं अपेक्षा से अशुचिमय भी माना है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि जनसाधारण शौचवादी होते हैं और मूत्र को एकान्त अपवित्र मानते हैं, अतः प्रतिमाधारी भिक्षु चारों और प्रतिलेखन करके कोई भी व्यक्ति न देखें, ऐसे विवेक के साथ मूत्र का पान करे। तदनुसार भिक्षुओं को भी प्रस्त्रवण सम्बन्धी कोई भी प्रवृत्ति करनी हो तो जनसाधारण से अदृष्ट एवं अज्ञात रखते हुए करने का विवेक रखना चाहिए।

वर्तमान में भी मूत्रचिकित्सा का महत्व बहुत बढ़ा है, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। जिसमें कैंसर, टी. बी. आदि असाध्य रोगों के उपशांत होने के उल्लेख भी मिलते है।

(उद्देशक 5 सूत्र 45)

यद्यपि मूत्र अपेय है फिर भी वैद्य के कहने पर रक्तविकार, कोढ आदि कष्टसाध्य रोगों में अथवा सर्प-दंश या शीघ्र प्राणहरण करने वाले आतंक होने पर साधु और साध्वियों को मूत्र पीने की और शोथ खुजली आदि रोग होने पर उससे मालिश करने की छूट प्रस्तुत सूत्र में दी गई है।

अनेक रोगों में गाय, बकरी आदि का तथा अनेक रोगों में स्वयं के मूत्रपान का चिकित्सा शास्त्र में विधान किया गया है।

इन कारणों से कभी साधु-साध्वी को परस्पर मूत्र के आदान-प्रदान करने का प्रसंग आ सकता हैं। इसी अपेक्षा से सूत्र में विधान किया गया है तथा सामान्य स्थिति में परस्पर लेन-देन करने का निषेध भी किया है।

आचमन का अर्थ शुद्धि करना भी होता है किन्तु यहां पर प्रबल रोग सम्बन्धी विधान होने से मालिश करने का अर्थ ही प्रसंगानुकूल है।

।। बृहत्कल्पसूत्रपरिशिष्टसमाप्त ।।

व्यवहार सूत्र

प्रथम उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-14- एक मास से लेकर छः मास तक प्रायश्चित्त स्थान का एक बार या अनेक बार सेवन करके कोई कपट रहित आलोचना करे तो उसे उतने मास का प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करे तो उसे एक गुरु मास का अधिक प्रायश्चित्त आता है और छः मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त होने पर छः मास का ही प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 15-18- प्रायश्चित्त वहन करते हुए पुनः दोष लगाकर दो चौभंगी में से किसी भी भंग से आलोचना करे तो उसका प्रायश्चित्त देकर आरोपणा कर देनी चाहिए। ये अठारह सूत्र निशीथ उद्देशक 20 के अठारह सूत्र के समान है।

सूत्र 19- पारिहारिक एवं अपारिहारिक भिक्षु को एक साथ बैठना, रहना आदि प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए एवं आवश्यक हो तो स्थविरों की आज्ञा लेकर ऐसा कर सकते हैं।

सूत्र 20-22- पारिहारिक भिक्षु शक्ति हो तो तप वहन करते हुए सेवा में जावे और शक्ति अल्प हो तो स्थविरभगवन्त से आज्ञा प्राप्त करके तप छोड़कर भी जा सकता है। मार्ग में विचरण की दृष्टि से उसे कहीं जाना या ठहरना नहीं चाहिए। रोग आदि के कारण ज्यादा ठहर सकता है। अन्यथा एक जगह एक रात्रि ही रुक सकता है।

सूत्र 23-25- एकल विहारी भूतपूर्व आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक या सामान्य भिक्षु असफलता के कारण पुनः गच्छ में आने की इच्छा करे तो उसे तप या छेद प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रख लेना चाहिए।

सूत्र 26-30- पार्श्वस्थादि (पांचों) यदि गच्छ में पुनः आना चाहे और उनके कुछ भी संयम भाव शेष रहे हों तो तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर उसे गच्छ में सम्मिलित कर लेना चाहिए। संयम शेष न हो तो पुनः नई दीक्षा देना चाहिए।

सूत्र 31- किसी विशेष परिस्थिति से अन्य लिंग (या गृहस्थ-लिंग) धारण करने वाले भिक्षु को पुनः स्वलिंग धारण कर गच्छ में रहना हो तो उसे आलोचना के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र 32- कोई संयम छोड़ कर गृहस्थ वेश स्वीकार कर लें और पुनः गच्छ में आना चाहें तो उसे नई दीक्षा के सिवाय कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र 33- यदि किसी भिक्षु को अपने अकृत्य स्थान की आलोचना करनी हो तो -

(1) अपने आचार्य के पास करें।

(2) उनके अभाव में स्वगच्छ के अन्य बहुश्रुत साधु के पास करे।

(3) उनके अभाव में अन्य गच्छ के बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य के पास करे।

(4) उनके अभाव में केवल वेषधारी बहुश्रुत भिक्षु के पास करे।

(5) उसके अभाव में दीक्षा छोड़े हुए बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास करे।

(6) उसके अभाव में सम्यक् दृष्टि या समभावी ज्ञानी के पास आलोचना करे एवं स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करे।

(7) एवं उसके अभाव में ग्राम के बाहर अरिहंत सिद्ध प्रभु की साक्षी से आलोचना करके स्वयं प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

दूसरे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-5- विचरण करने वाले दो या दो से अधिक भिक्षुओं द्वारा आचार्यादि की अनुपस्थिति में भी परिहार तप वहन किया जा सकता है।

सूत्र 6-17- रुग्ण भिक्षुओं की किसी भी अवस्था में उपेक्षा नहीं करना चाहिए या उन्हें गच्छ से नहीं निकालना चाहिए, किन्तु उनकी यथोचित सेवा करनी चाहिए।

सूत्र 18-22- नवमें, दसवें प्रायश्चित्त प्राप्त भिक्षु को गृहस्थ लिंग धारण करवाकर ही उपस्थापन करना चाहिए। कदाचित् बिना गृहस्थ लिंग के भी पुनः दीक्षा देना गच्छ प्रमुख के निर्णय पर निर्भर रहता है।

सूत्र 23-24- आक्षेप एवं विवाद पूर्ण स्थिति में स्पष्ट प्रमाणित होने पर ही, प्रायश्चित्त देना एवं प्रमाणित न होने पर, स्वयं दोषी के दोष स्वीकार करने पर ही प्रायश्चित्त देना।

सूत्र 25- जिसके श्रुत एवं दीक्षा पर्याय एक पाक्षिक हो ऐसे भिक्षु को पद देना।

सूत्र 26- परिहार तप पूर्ण होने के बाद भी कुछ दिन आहार अलग रहता है। छः मास की अपेक्षा उत्कृष्ट एक मास तक भी आहार अलग रखा जाता है, जिससे बिना समविभाग के वह दूध आदि का सेवन कर सके।

सूत्र 27- परिहार तप वहन करने वाले को स्थविर की आज्ञा होने पर ही आहार दिया जा सकता है। एवं विशेष आज्ञा लेकर ही वह कभी परिस्थितिवश विगय का सेवन कर सकता है।

सूत्र 28-29- स्थविर की सेवा में रहा हुआ पारिहारिक भिक्षु कभी आज्ञा होने पर दोनों की गोचरी साथ में ला सकता है किन्तु उसे साथ में नहीं खाना चाहिए। अलग अपने हाथ या पात्र में लेकर ही खाना चाहिए।

तीसरे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-2- बुद्धिमान, विचक्षण तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला और आचारांग निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाला ऐसा 'भाव पलिछन्न' भिक्षु प्रमुख (सिंघाड़ा प्रमुख) बन कर विचरण कर सकता है किन्तु गच्छ प्रमुख आचार्यादि की आज्ञा बिना विचरण करने पर वह यथा योग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र 3-4- कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला भिक्षु आचार सम्पन्न, बुद्धि सम्पन्न, विचक्षण, बहुश्रुत, जिन प्रवचन की प्रभावना में दक्ष तथा कम से कम आचारांग एवं निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाला हो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

जो भिक्षु तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो किन्तु उक्त गुण सम्पन्न न हो तो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

सूत्र 5-6- उपाध्याय के योग्य गुणों के सिवाय यदि दीक्षा पर्याय पांच वर्ष और अर्थ सहित कण्ठस्थ श्रुत में कम से कम आचारांग, सूत्रकृतांग और चार छेद सूत्र हों तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त किया जा सकता है तथा वे आठ संपदा आदि दशाश्रुतस्कंध दशा 4 में कहे गुणों से भी सम्पन्न होने चाहिए।

पांच वर्ष की दीक्षा वाला भिक्षु उक्त गुण सम्पन्न न हो तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

सूत्र 7-8- उपरोक्त गुण सम्पन्न एवं कम से कम आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला तथा पूर्वोक्त आगम सहित ठाणांग समवायांग सूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला भिक्षु गणावच्छेदक पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला उक्त गुण सम्पन्न न हो तो उसे गणावच्छेदक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

सूत्र 9-10- किसी विशेष परिस्थिति में अन्य गुणों से सम्पन्न योग्य भिक्षु हो तो उसे आवश्यक दीक्षा पर्याय और श्रुत कंठस्थ न हो तो भी आचार्य उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। गच्छ में अन्य किसी भिक्षु के योग्य न होने पर एवं अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर ही यह विधान समझना चाहिए। इस विधान से नवदीक्षित भिक्षु को उसी दिन आचार्य बनाया जा सकता है।

सूत्र 11- चालीस वर्ष की उम्र से कम उम्र वाले एवं तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय से कम संयम वाले साधु साध्वियों को आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना स्वतन्त्र विचरण करना या रहना नहीं कल्पता है क्योंकि इनका दो के संरक्षण में रहना आवश्यक है-1 आचार्य 2 उपाध्याय। इसलिए इस उक्त वयवाले साधुओं को आचार्य और उपाध्याय से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए।

सूत्र 12- उक्त वयवाली साध्वियों को आचार्य उपाध्याय एवं प्रवर्त्तिनी इन तीन से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए। इनमें से किसी के काल धर्म प्राप्त हो जाने पर भी उस पद पर अन्य को नियुक्त करना साधु साध्वियों के लिए आवश्यक कहा गया है।

सूत्र 13-17- आचार्यादि पद पर नियुक्त भिक्षु का चतुर्थव्रत भंग हो जाए तो उसे आजीवन सभी पद के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है।

पद त्याग करके चतुर्थव्रत भंग करने पर या सामान्य भिक्षु के द्वारा चतुर्थव्रत भंग करने पर वह तीन वर्ष के बाद योग्य हो तो किसी भी पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

सूत्र 18-22- यदि पदवीधर किसी अन्य को पद पर नियुक्त किये बिना संयम छोड़कर चला जाय तो उसे पुनः दीक्षा अंगीकार करने पर कोई भी पद नहीं दिया जा सकता। यदि कोई अपना पद अन्य को सौंप कर जावे या सामान्य भिक्षु संयम त्याग कर जावे तो पुनः दीक्षा लेने के बाद योग्य हो तो उसे तीन वर्ष के बाद कोई भी पद यथा योग्य समय पर दिया जा सकता है।

सूत्र 23-29- बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य आदि प्रबल कारण से अनेक बार झूट-कपट प्रपंच असत्याक्षेप आदि अपवित्र पापकारी कार्य करे या अनेक भिक्षु, आचार्य आदि मिलकर ऐसा कृत्य करे तो वे जीवन भर के लिए सभी प्रकार की पदवियों के सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं। इसमें अन्य कोई विकल्प नहीं है। अबहुश्रुत भिक्षु तो सर्वथा सभी प्रमुख पदों के अयोग्य ही होते हैं।

चौथे उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-8- आचार्य उपाध्याय को अकेले विचरण नहीं करना चाहिए और दो ठाणा से चौमासा भी नहीं करना चाहिए, किन्तु वे दो ठाणा से विचरण कर सकते हैं और तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

गणावच्छेदक को दो ठाणा से विचरण नहीं करना और तीन ठाणा से चातुर्मास नहीं करना चाहिए किन्तु वे तीन ठाणा से विचरण कर सकते हैं एवं चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं।

सूत्र 9-10- अनेक आचार्य आदि को एक साथ विचरण करना हो तो भी उपरोक्त साधु संख्या अपनी-अपनी निश्रा में रखते हुए ही विचरण करना चाहिए और इसी विवेक के साथ उन्हें चातुर्मास में रहना चाहिए। अर्थात् पदवीधरों को अपनी शिष्य संपदा के बिना रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र 11-12- विचरण काल में या चातुर्मास काल में यदि उस सिंघाड़े की प्रमुखता करने वाला भिक्षु काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में छोटा या बड़ा जो भी श्रुत एवं पर्याय से योग्य हो तो उसे प्रमुखता स्वीकार कर लेनी चाहिए। यदि कोई भी योग्य न हो तो चातुर्मास या विचरण को स्थगित करके शीघ्र ही योग्य प्रमुख साधुओं के या आचार्य के सानिध्य में पहुंच जाना चाहिए।

सूत्र 13-14- आचार्य-उपाध्याय काल धर्म प्राप्त करते समय या संयम छोड़कर जाते समय जिसे आचार्य-उपाध्याय पद पर नियुक्त करने का कहे उसे ही पद पर स्थापित करना चाहिए। वह योग्य न हो और अन्य योग्य हो तो उस आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु को पद न देकर या दे दिया हो तो उसे हटाकर अन्य योग्य भिक्षु को पद दिया जा सकता है। जो अयोग्य का खोटा पक्ष करे वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र 15-17- नवदीक्षित भिक्षु के योग्य हो जाने पर 11 वीं या 12 वीं रात्रि से पूर्व बड़ी दीक्षा दे देनी चाहिए। उसके उल्लंघन करने पर आचार्य उपाध्याय को यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त आता है। एवं सत्रहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष के लिए पद-मुक्त होने का प्रायश्चित्त भी आता है। यदि बड़ी दीक्षा के समय का उल्लंघन करने में नवदीक्षित के माता-पिता आदि पूज्य पुरुषों की दीक्षा का कारण हो तो छः मास तक दीक्षा रोकने पर भी प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र 18- अन्य गण में अध्ययन आदि के लिये गये भिक्षु को किसी के द्वारा पूछने पर प्रथम सर्वरत्नाधिक का नाम बताना चाहिए। उसके बाद आवश्यक होने पर सर्वबहुश्रुत का नाम निर्देश करना चाहिए।

सूत्र 19- व्रजिका (गोपालक बस्ति) में दुग्धादि सेवन हेतु जाने के पूर्व स्थविर की अर्थात् गुरु आदि की आज्ञा लेना आवश्यक है और आज्ञा मिलने पर ही जाना कल्पता है।

सूत्र 20-23- चरिका प्रविष्ट या चरिका निवृत्त भिक्षु को आज्ञा प्राप्ति के बाद 4-5 दिन में गुरु आदि के मिलने का प्रसंग आ जाय तो उसी पूर्व की आज्ञा से विचरण या निवास करना चाहिए। 4-5 दिन के बाद अर्थात् आज्ञा प्राप्ति के अधिक समय बाद गुरु आदि के मिलने का प्रसंग आ जाय तो सूत्रोक्त विधि से पुनः आज्ञा प्राप्त करके विचरण कर सकता है।

सूत्र 24-25- रत्नाधिक (अधिक संयम पर्याय वाले) भिक्षु को अवमरात्निक (कम दीक्षा पर्याय वाले) भिक्षु की सेवा में सहयोग करना ऐच्छिक होता है और अवमरात्निक भिक्षु को रत्नाधिक भिक्षु की सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है।

रत्नाधिक भिक्षु यदि सेवा सहयोग न लेना चाहे तो आवश्यक नहीं होता है।

अवमरात्निक भिक्षु ग्लान हो तो रत्नाधिक को भी उसकी सेवा या सहयोग करना आवश्यक हो जाता है।

सूत्र 26-32- अनेक भिक्षु, अनेक आचार्य-उपाध्याय एवं अनेक गणावच्छेदक आदि कोई भी यदि साथ-साथ विचरण करे तो उन्हें परस्पर समान बन कर नहीं रहना चाहिए। किन्तु जो उनमें रत्नाधिक दीक्षा ज्येष्ठ हो उसकी प्रमुखता स्वीकार करके उचित विनय एवं समाचारी व्यवहार का पालन करते हुए ही साथ में रहना चाहिए।

पांचवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-10- प्रवर्त्तिनी दो साध्वियों को साथ लेकर विचरण करे और तीन साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे।

गणावच्छेदिका तीन साध्वियों को साथ लेकर विचरण करे एवं चार साध्वियों को साथ लेकर चातुर्मास करे। अनेक प्रवर्त्तिनी या गणावच्छेदिका सम्मिलित होवे तो भी उपरोक्त संख्या के अनुसार ही प्रत्येक को रहना चाहिए।

सूत्र 11-12- प्रमुखा साध्वी के काल धर्म प्राप्त हो जाने पर शेष साध्वियां अन्य योग्य को प्रमुखा बनाकर विचरण करे योग्य न हो तो विहार करके शीघ्र अन्य संघाड़े में मिल जावे।

सूत्र 13-14- प्रवर्त्तिनी द्वारा निर्दिष्ट योग्य साध्वी को पदवी देना। वह योग्य न हो तो अन्य योग्य साध्वी को पद पर नियुक्त करना।

सूत्र 15-16- आचारांग निशीथ सूत्र प्रत्येक साधु-साध्वी को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करना और उन्हें उपस्थित रखना चाहिए। आचार्यादि को भी यथा समय पूछताछ करते रहना चाहिए। यदि किसी को ये सूत्र प्रमादवश विस्मृत हो जाय तो उसे किसी प्रकार के पद पर न रखे न ही उसे प्रमुख बन कर विचरण करने की आज्ञा दे। यदि कोई रोगादिक के कारण से भूल जाय तो स्वस्थ होने पर पुनः कण्ठस्थ करने के बाद ही उसे पद आदि दिये जा सकते हैं। कण्ठस्थ न करने तक वह सिंघाड़ा प्रमुख बनकर विचरण भी नहीं कर सकते है।

सूत्र 17-18- वृद्धावस्था वाले स्थविर के द्वारा ये कण्ठस्थ सूत्र भूल जाना क्षम्य है तथा पुनः याद करते हुए भी उन्हें याद न होवे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वृद्ध भिक्षु कभी लेटे हुए या आराम से बैठे हुए भी सूत्र की पुनरावृत्ति, श्रवण या पृच्छा आदि कर सकते हैं।

सूत्र 19- विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के पास आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

सूत्र 20- साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे का कोई भी सेवा कार्य नहीं करना चाहिए। आगमोक्त विशेष परिस्थितियों में वे एक दूसरे की सेवा-परिचर्या आदि कर सकते हैं।

सूत्र 21- सांप काट जाय तो स्थविर कल्पी भिक्षु को मंत्र चिकित्सा कराना कल्पता है। किन्तु जिनकल्पी को चिकित्सा करना या कराना नहीं कल्पता है। स्थविर कल्पी को उस चिकित्सा कराने का प्रायश्चित्त भी नहीं है। जिनकल्पी को ऐसा करने पर प्रायश्चित्त आता है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1- ज्ञातिजनों के घरों में जाने के लिये आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। अगीतार्थ या अबहुश्रुत को अकेले नहीं जाना चाहिए। गीतार्थ भिक्षु के साथ में ही जाना चाहिए। वहां घर में पहुंचने के पूर्व बनी हुई वस्तु ही लेना चाहिए किन्तु बाद में निष्पन्न हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिए।

सूत्र 2-3- आचार्य उपाध्याय के आचार सम्बन्धी पांच अतिशय विशेष छूटें हैं और गणावच्छेदक के अंतिम दो अतिशय हैं।

1. उपाश्रय में पांव प्रमार्जन 2. उपाश्रय में मल त्याग 3.सेवा- कार्य ऐच्छिक 4-5 उपाश्रय में या बाहर अकेले रहना।

सूत्र 4-5- अकृत सूत्री (अगीतार्थ) अनेक साधुओं को कहीं पर निवास करना भी नहीं कल्पता है किन्तु परिस्थितिवश योग्य उपाश्रय में एक दो रात रह सकते हैं। अधिक रहने पर वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

सूत्र 6-7- अनेक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में एकाकी भिक्षु को नहीं रहना चाहिए और एक वगड़, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय में भी उभयकाल धर्म जागरणा करते हुए रहना चाहिए।

सूत्र 8-9- स्त्री के साथ मैथुन सेवन न करते हुए भी हस्तकर्म के परिणामों से और कुशील सेवन के परिणामों से शुक्रपुद्गलों के निकालने पर भिक्षु को क्रमशः गुरुमासिक या गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र 10-11- अन्य गच्छ से आये हुए क्षत आचार वाले साधु-साध्वी को पूर्ण आलोचना प्रायश्चित्त कराने के साथ उपस्थापित किया जा सकता है, उसके साथ आहार या निवास किया जा सकता है और उसके आचार्य उपाध्याय गुरु आदि की निश्रा निश्चित्त की जा सकती है।

सातवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1-2- अन्य गच्छ से आई हुई दूषित आचार वाली निर्ग्रन्थी को प्रवर्त्तिनी आदि साध्वियां आचार्य आदि को पूछे बिना एवं उसके दोषों की शुद्धि कराये बिना नहीं रख सकती। किन्तु आचार्य आदि भिक्षु प्रवर्त्तिनी आदि साध्वियों को पूछे बिना भी उसके दोषों की शुद्धि करवाकर गच्छ में रख सकते हैं।

सूत्र 3-4- उपेक्षा पूर्वक तीन बार से अधिक एषणा दोष आदि का सेवन करने पर अथवा व्यवस्था भंग करने पर उस साधु-साध्वी के साथ आहार सम्बन्ध का परित्याग-विच्छेद किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए आचार्य के पास वे साध्वियां परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता नहीं कर सकती किन्तु वे साधु आचार्य के पास परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता कर सकते हैं।

सूत्र 5-8- साधु साध्वी को दीक्षा दे सकता है और साध्वी साधु को दीक्षा दे सकती है किन्तु वे उसे आचार्य आदि की निश्रा में कर सकते हैं अपनी निश्रा में नहीं।

सूत्र 9-10- साध्वी अतिदूरस्थ आचार्य प्रवर्त्तिनी की निश्रा स्वीकार करके दीक्षा न लेवे किन्तु सन्निकट आचार्य प्रवर्त्तिनी की ही निश्रा स्वीकार करे।

साधु दूरस्थ आचार्य की निश्रा स्वीकार करके भी दीक्षा ले सकते हैं।

सूत्र 11-12- अतिदूर गई हुई साध्वी से अन्य साध्वी क्षमा याचना कर सकती है किन्तु साधु को क्षमापना करने के लिए प्रत्यक्ष मिलना आवश्यक होता है।

भाष्य में परिस्थितिवश साधु को भी दूरस्थ क्षमापना करना कहा है।

सूत्र 13-14- उत्काल में (दूसरे तीसरे प्रहर में) कालिक सूत्र की स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु कभी साध्वी उपाध्याय आदि को स्वाध्याय सुना सकती है।

सूत्र 15-16- बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय काल हो तब स्वाध्याय नहीं करना और जब अस्वाध्याय न हों तब अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

सूत्र 17- अपनी शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय नहीं करना किन्तु साधु-साध्वी विवेक पूर्वक परस्पर सूत्रार्थ वाचना दे ले सकते हैं।

सूत्र 18-19- तीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक की साध्वियों को उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी के बिना नहीं रहना चाहिए और 60 वर्ष तक की दीक्षा पर्याय वाली साध्वियों को बिना आचार्य के नहीं रहना चाहिए।

सूत्र 20- साधु को विहार करते हुए मार्ग में अन्य साधु का मृत देह पड़ा हुआ दीख जाय तो उसे योग्य विधि से एवं योग्य स्थान में परठ देना चाहिए। यदि कोई उपयोगी उपकरण हो तो उन्हें ग्रहण कर आचार्य की आज्ञा लेकर उपयोग में लिए जा सकते हैं।

सूत्र 21-22- शय्यातर मकान को बेचे या किराये पर देवे तो नूतन स्वामी की या पूर्व स्वामी की या दोनों की आज्ञा ली जा सकती है।

सूत्र 23- घर के किसी सदस्य की या जिम्मेदार नौकर की आज्ञा लेकर भी ठहरा जा सकता है। सदा पिता के घर रहने वाली विवाहित बेटी की भी आज्ञा ली जा सकती है।

सूत्र 24- मार्ग में बैठना हो तो भी आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए।

सूत्र 25-26- राजा या राज्य व्यवस्था परिवर्तित होने पर उस राज्य में विचरण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना आवश्यक है। यदि उसी राजा के राजकुमार आदि वंशज राजा बने हो एवं कोई व्यवस्था परिवर्तित न हुई हो तो पूर्वाज्ञा से विचरण किया जा सकता है।

आठवें उद्देशक का सारांश–

सूत्र 1- स्थविर गुरु आदि की आज्ञा से शयनासन भूमि ग्रहण करना।

सूत्र 2-4- पाट आदि एक हाथ से उठाकर सरलता से लाया जा सके वैसा ही लाना। उसकी गवेषणा तीन दिन तक की जा सकती है और स्थविरवास के अनुकूल पाट की गवेषणा पांच दिन तक की जा सकती एवं अधिक दूर से भी लाया जा सकता है।

सूत्र 5- एकल विहारी वृद्ध भिक्षु के यदि अनेक प्रकार के औपग्रहिक उपकरण हो तो उन्हें भिक्षाचरी आदि जाते समय किसी के देखरेख में छोड़कर जाना एवं पुनः आकर उसे सूचित करके ग्रहण करना चाहिए। पडिमाधारी एवं जिनकल्पी आदि भिक्षुओं के चर्म, छत्र आदि नहीं होते। अतः यहां यह सामान्य स्थविर कल्पी सपरिस्थितिक एकल विहारी वृद्ध भिक्षु का वर्णन है।

सूत्र 6-9- किसी गृहस्थ का शय्या संस्तारक आदि अन्य उपाश्रय (मकान) में ले जाना हो तो उसकी पुनः आज्ञा लेना। कभी अल्पकाल के लिए कोई गृहस्थ का पाट आदि उपाश्रय में ही छोड़ दिया हो तो उसे ग्रहण करने के लिए पुनआज्ञा लेना, किन्तु बिना आज्ञा ग्रहण नहीं करना। क्योंकि उसे अपनी निश्रा से कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया है।

सूत्र 10-11- मकान पाट आदि की पहले आज्ञा लेना, बाद में ग्रहण करना। कभी दुर्लभ-शय्या की परिस्थिति में विवेक पूर्वक पहले ग्रहण करके फिर आज्ञा ली जा सकती है।

सूत्र 13-15- चलते समय मार्ग में किसी भिक्षु का उपकरण गिर जाय और अन्य भिक्षु को मिल जाय तो पूछताछ कर जिसका हो उसे दे देना। कोई भी उसे स्वीकार न करे तो परठ देना अर्थात् छोड़ देना। रजोहरणादि बड़े उपकरण हो तो अधिक दूर भी ले जाना और पूछ-ताछ करना।

सूत्र 16- अतिरिक्त पात्र आचार्यादि के निर्देश से ग्रहण किए हों तो उन्हें ही देना या सुपुर्द करना। जिसे देने की इच्छा हो उन्हें स्वतः ही नहीं देना। जिसका नाम निर्देश करके लिया हो तो आचार्य की आज्ञा लेकर पहले उसे ही देना।।

सूत्र 17- सदा कुछ न कुछ उणोदरी तप करना चाहिए। उणोदरी करने वाला प्रकाम भोजी नहीं कहा जाता है।

नवमें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-8- शय्यातर के नौकर या पाहुणों को पूर्ण रूप से दिये गये आहार में से भिक्षु ले सकता है। यदि प्रातिहारिक (शेष आहार लौटाने का) हो तो नहीं लेना चाहिए।

सूत्र-9-16- शय्यातर के सहयोग से जीवन निर्वाह करने वाले उसके ज्ञातिजन यदि खाना बनावे या खावे तो उनसे लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र 17-36- शय्यातर के भागीदारी (सीरवाली) वाली दुकानों में यदि कोई पदार्थ बिना सीरवाली के हों तो उसके भागीदार से लिए जा सकते हैं। अथवा विभक्त हो जाने पर कोई भी पदार्थ लिए जा सकते हैं।

सूत्र 37-40- सात सप्तक, आठ अष्टक, नव नवक और दश दशक दिनों में दत्तियों की मर्यादा से भिक्षा ग्रहण करके चार प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं का आराधन साधु साध्वी दोनों ही कर सकते हैं।

सूत्र 41-42- स्वमूत्र पीने की छोटी व बड़ी प्रतिमा सात एवं आठ दिन में आराधन की जाती है। इसमें सूत्रोक्त पूर्ण शुद्ध प्रश्रवण दिन में ही पिया जाता है रात्रि में नहीं।

सूत्र 43-44- एक बार में अखण्ड धार से साधु के हाथ में या पात्र में दिये जाने वाले आहारादि को एक 'दत्ति' कहा जाता है।

सूत्र 45- तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ होते हैं (1) संस्कारित पदार्थ (2) शुद्ध अलेप्य पदार्थ (3) शुद्ध सलेप्य पदार्थ। इनमें से कोई भी अभिग्रहण धारण किया जा सकता है।

सूत्र 46- 'प्रगृहित' नामक छट्ठी पिंडेषणा के योग्य आहार की तीन अवस्थाएं होती है : (1) बर्तन में से निकालते हुए (2) परोसने के लिए जाते हुए (3) थाली आदि में परोसते हुए। अथवा-अपेक्षा से उस आहार की दो अवस्था कही जा सकती है।

(1) बर्तन में निकालते हुए।

(2) थाली आदि में परोसते हुए।

दशवें उद्देशक का सारांश-

सूत्र 1-2- यवमध्य चन्द्र प्रतिमा और वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा का सूत्रोक्त विधि से विशिष्ट संहनन वाले श्रुत सम्पन्न भिक्षु आराधन कर सकते हैं। ये प्रतिमा एक-एक मास की होती है। इनमें आहार पानी के दत्ति की हानी वृद्धि की जाती है। साथ ही अन्य अनेक नियम अभिग्रह किए जाते हैं एवं परीषह उपसर्गों को धैर्य के साथ शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर सहन किया जाता है।

सूत्र 3- आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पांच व्यवहारों में से जिस समय जो उपलब्ध हो उनका क्रमशः निष्पक्ष भाव से उपयोग करना चाहिए। स्वार्थ, आग्रह या उपेक्षा भाव के कारण व्युत्क्रम से उपयोग नहीं करना चाहिए। विपरीत व्यवहार करने वाला विराधक होता है। सम्यक् व्यवहार करने वाला आराधक होता है।

सूत्र 9-10- धर्म में, आचार में और गण समाचारी में स्थिर रहने वालों की या उसका त्याग कर देने वालों की दो चौभंगी बनती हैं।

सूत्र 11- दृढ़धर्मी और प्रियधर्मी सम्बन्धी एक चौभंगी होती है।

सूत्र 12-15- दीक्षा दाता, बड़ी दीक्षा दाता, मूल आगम के वाचना दाता, अर्थ आगम के वाचना दाता की एवं इनसे सम्बन्धित शिष्यों की कुल चार चौभंगिया हैं एवं उनके अंतिम भंग के साथ धर्माचार्य (प्रतिबोध दाता) का एवं धर्मंतेवासी का कथन किया गया है।

सूत्र 16- तीन प्रकार के स्थविर होते हैं। 1. श्रुत से 2. दीक्षापर्याय से 3. उम्र से अर्थात् 1. ग्यारह सूत्र कंठस्थ 2. 20 वर्ष की दीक्षा 3. 60 वर्ष की उम्र।

सूत्र 17- शैक्ष की (उपस्थापना के पूर्व की) तीन अवस्थाएं होती है (1) सात दिन (2) चार महिना (3) छः महिना।

सूत्र 18-19- गर्भकाल सहित 9 वर्ष के पूर्व किसी को दीक्षा नहीं देना। कारणवश दीक्षा दी गई हो तो बड़ी दीक्षा नहीं देना चाहिए।

सूत्र 20-21- अव्यक्त (16 वर्ष से कम वय वाले) को आचारांग निशीथ की वाचना न देना, अन्य अध्ययन कराना।

सूत्र 22-36- तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक भिक्षु को कम से कम आचारांग एवं निशीथ सूत्र का अर्थ सहित कण्ठस्थ ज्ञान करा लेना चाहिए एवं क्रमशः- बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय तक योग्य शिष्यों को सूत्रोक्त सभी आगमों की वाचना यथाक्रम से पूर्ण कराना चाहिए। मेधावी शिष्य अल्प समय में अधिक श्रुत अध्ययन कर सकता है ऐसा अनेक आगम पाठों से स्पष्ट होता है। देखे उ. 3 सूत्र तीन का अर्थ। विवेचन रूप परिशिष्ट।

सूत्र 37- आचार्यादि दस की भाव युक्त वैयावृत्य करना। इनकी वैयावृत्य से महान् कर्मों की निर्जरा एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है।

नोट- विस्तृत जानकारी के लिए ब्यावर से प्रकाशित हिन्दी विवेचन युक्त छेद सूत्र का अध्ययन करना चाहिए।

सूत्र संख्या की तालिका-

उद्देशक	**सूत्र संख्या**
1	33
2	29
3	29
4	32
5	21
6	11
7	26
8	17
9	46
10	37
योग	**281**

।। व्यवहारसूत्रसमाप्त।।

परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट -1

संघ व्यवस्था में प्रमुख पदों का ज्ञान विज्ञान

(उद्देशक 3 सूत्र 1-2)

1. सिंघाड़ा प्रमुख-

यदि कोई भिक्षु गण प्रमुख के रूप में विचरना चाहे तो उसका पलिछन्न होना आवश्यक है। अर्थात् जो शिष्य सम्पदा और श्रुत सम्पदा सम्पन्न है वही प्रमुख रूप में विचरण कर सकता है। यहां भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा एवं श्रुत सम्पदा के चार भंग कहे हैं उनमें से प्रथम भंग के अनुसार जो दोनों प्रकार की सम्पदा से युक्त हो उसे ही प्रमुख रूप में विचरण करना चाहिए।

यदि पृथक्-पृथक् शिष्य करने की परम्परा न हो तो श्रुत सम्पन्न (आगमवेत्ता) एवं बुद्धिमान् भिक्षु गण के कुछ साधुओं को लेकर उनकी प्रमुखता करता हुआ विचरण कर सकता है।

जिस भिक्षु के एक या अनेक शिष्य हों वह शिष्य सम्पदा युक्त कहा जाता है। जो आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र तथा आचारांग सूत्र और निशीथ सूत्र के मूल एवं अर्थ को धारण करने वाला हो अर्थात् जिसने इतना मूल श्रुत उपाध्याय की निश्रा से कंठस्थ धारण किया हो एवं आचार्य या उपाध्याय से इन सूत्रों के अर्थ की वाचना लेकर उसे भी कंठस्थ धारण किया हो एवं वर्तमान में वह श्रुत उसे उपस्थित हो तो वह श्रुत सम्पन्न कहा जाता है।

जिसके एक भी शिष्य नहीं है एवं उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी जिसने नहीं किया है वह गण धारण के अयोग्य हैं।

यदि किसी भिक्षु के शिष्य सम्पदा है किन्तु वह बुद्धिमान एवं श्रुत सम्पन्न नहीं है अथवा धारण किए हुए श्रुत को भूल गया है, वह भी गण धारण के अयोग्य है। किन्तु यदि किसी को वृद्धावस्था (60 वर्ष से अधिक) होने के कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुत सम्पन्न ही कहा जाता है एवं गणधारण कर सकता है।

भाष्यकार ने शिष्य सम्पदा वाले को 'द्रव्य पलिच्छन्न' और श्रुत सम्पन्न को 'भाव पलिच्छन्न' कहा हैं। उस चौभंगी युक्त विवेचन से भाव पलिच्छन्न को ही गणधारण करके विचरने योग्य कहा है। जिसका सारांश यह है कि जो आवश्यक श्रुत ज्ञान से सम्पन्न हो एवं बुद्धि सम्पन्न हो वह गण धारण करके विचरण कर सकता है।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि-

1. विचरण करते हुए वह स्वयं के और अन्य भिक्षुओं के ज्ञान दर्शन-चारित्र की शुद्ध आराधना करने करवाने में समर्थ हो।

2. जनसाधारण को अपने ज्ञान तथा-वाणी एवं व्यवहार से धर्म के सन्मुख कर सकता हो।

3. अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो उसे यथायोग्य उत्तर देने में समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गण प्रमुख के रूप में अर्थात् संघाटक प्रमुख होकर विचरण कर सकता है।

धर्म प्रभावना को लक्ष्य में रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु में ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक है किन्तु अभिग्रह प्रतिमाएं एवं मौन साधना आदि केवल आत्मकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतसंपन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है। भाष्योक्त गुण न हों तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्म संयम साधना कर सकता है।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुत संपन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गण प्रमुख के रूप में विचरण करने के लिए नहीं जा सकता है किन्तु गच्छ के स्थविर भगवंत की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगवंत से कहें कि- 'हे भगवन्! मैं कुछ भिक्षुओं को लेकर विचरण करना चाहता हूं।' तब स्थविर भगवंत उसकी योग्यता जानकर एवं उचित अवसर देखकर स्वीकृति दे तो गणधारण कर सकता है। यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दे तो गण धारण नहीं करना चाहिए एवं योग्य अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

सूत्र में स्थविर भगवंत से आज्ञा प्राप्त करने का जो विधान किया गया है उसके संदर्भ में यह समझना चाहिए कि यहां स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्त्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं। क्योंकि स्थविर शब्द अत्यन्त विशाल है। इसमें सभी पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओं का समावेश हो जाता है। आगमों में गणधर गौतम तथा सुधर्मास्वामी के लिए एवं तीर्थंकरों के लिए भी 'थेरे = स्थविर' शब्द का प्रयोग है। अतः इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एवं स्वयं का श्रुत-संपदा आदि से संपन्न होना भी आवश्यक है।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति मिले बिना भी अपने शिष्यों को या अन्य अपनी निश्रा में अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओं को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा में रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं होते हैं। यह भी द्वितीय सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

आज्ञा के बिना गणधारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र में कहा गया है कि 'से संतरा छेए वा परिहारे वा' इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद (पांच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहार तप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन-व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सूत्र में यह विधान भिक्षु के लिए किया गया है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी संपूर्ण विधान समझ लेना चाहिए। उसे विचरण करने के लिए स्थविरा या प्रवर्त्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए।

(उद्देशक 2 सूत्र 25)

2. गच्छ के गुणवानों का पद द्वारा सम्मान–

जिस गण में अनेक गीतार्थ भिक्षु शिष्यादि की ऋद्धि से संपन्न हों तो एक को मूल आचार्य एवं उसके सदृशगुण संपन्न एक को उपाध्याय पद पर नियुक्त करना चाहिए। उसके बाद जो शिष्य संपदा से परिपूर्ण हो एवं आचार्य के लक्षणों से युक्त हो उसे भी आचार्य या उपाध्याय आदि पदों पर नियुक्त करना चाहिए और वैसे लक्षण युक्त न हो तो प्रवर्त्तक या स्थविर आदि पद से विभूषित करना चाहिए। किन्तु जिनके प्रभूत शिष्य न हों उनको एक मुख्य आचार्य के अनुशासन में ही रहना चाहिए।

मुख्य आचार्य से जो दीक्षा पर्याय में अधिक हों एवं श्रुत संपदा से संपन्न भी हो किन्तु आचार्य उपाध्याय पद के योग्य न हों तो उन्हें स्थविर आदि पद से सम्मानित करना चाहिए।

यदि अन्य भिक्षु आचार्य से अधिक दीक्षा पर्याय वाले न हों श्रुत संपदा एवं शिष्य संपदा वाले न हों तो सभी साधुओं को एक ही आचार्य उपाध्याय के अनुशासन में रहना चाहिए।

(उद्देशक 3 सूत्र 13)

3. सात पदविएं एवं उनकी उपयोगिता–

1. **आचार्य–** जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य-इन पांच आचारों का स्वयं पालन करे और आज्ञानुवर्ती शिष्यों से पालन करावे, जो साधु संघ का स्वामी हो और संघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, आचार सम्पदा आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो वह आचार्य पद के योग्य होता है।

2. **उपाध्याय–** जो स्वयं द्वादशांग श्रुत का विशेषज्ञ हो, अध्ययनार्थ आने वाले शिष्यों को आगमों का अभ्यास कराने वाला हो और व्य. उ. 3 सूत्र 3 में कहे गये गुणों का एवं वहां निर्दिष्ट सूत्रों का धारक हो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है।

3. **प्रवर्त्तक–** यह पद अल्प संख्यक साधु समुदाय में आचार्य के स्थान में दिया जाता है। विशाल समूह में प्रवर्त्तक पदवीधर आचार्य के सहायक होते हैं। जो साधुओं की योग्यता या रुचि देखकर उनको आचार्य निर्दिष्ट कार्यों में तथा तप-संयम योग में, वैयावृत्त, सेवा, शुश्रुषा, अध्ययन अध्यापन आदि में नियुक्त करते हैं। इस पदवी वाले की योग्यता आचार्य तुल्य होना ही अत्युत्तम है। कम से कम उपाध्याय के तुल्य तो होना ही चाहिए।

4. **स्थविर–** जो साधुओं के संयम में शैथिल्य देखकर या उन्हें संयम से विचलित देखकर इस लोक और परलोक सम्बन्धी उपायों (अनिष्टों या दोषों) का उपदेश करे और उन्हें अपने कर्तव्यों में स्थिर करे।

5. **गणी–** जो कुछ साधुओं के गण का स्वामी हो और साध्वियों की देखरेख एवं व्यवस्था करने वाला हो। अथवा मुख्य आचार्य की निश्रा में जो अनेक आचार्य होते हैं. उन्हें गणी कहा जाता है।

6. **गणधर–** जो कुछ साधुओं का प्रमुख बनकर अर्थात् सिंघाड़ा प्रमुख बनकर विचरण करता हो।

7. गणावच्छेदक- जो साधुजनों के भक्त पान, स्थान, औषधोपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने वाला हो।

जिस समुदाय में एक दो सिंघाड़े ही विचरते हैं या 5-7 संत ही है उस साधु समुदाय में स्थविर या प्रवर्त्तक का होना आवश्यक है आचार्य उपाध्याय होना वहां आवश्यक नहीं है।

जिस समुदाय में तीन या अधिक सिंघाड़े विचरण करते हैं अथवा 10 से अधिक संतों का समूह है तो उस समुदाय में कम से कम आचार्य उपाध्याय दो पदों की नियुक्ति करना आवश्यक है।

सौ से अधिक या सैकड़ों साधुओं का समुदाय हो उसमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर एवं गणावच्छेदक से पांचों पदवीधर होना आवश्यक होता है।

शेष दो पदवियां गणी और गणधर तो स्वाभाविक ही छोटे बड़े समुदायों में होती रहती है क्योंकि कुछ शिष्य सम्पदा हो जाने से एवं योग्य श्रुत अध्ययन हो जाने से कोई भी भिक्षु गणी बन सकता है और सिंघाडे की प्रमुखता करने वाले अनेक गणधर-गणधारक हो सकते है।

भाष्य में कहा गया है उक्त पांच प्रमुख पदवियों से रहित विशाल गच्छ में नहीं रहना चाहिए क्योंकि वहां आत्म असमाधि एवं अव्यवस्था होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार अल्प संख्यक साध्वी समुदाय में प्रवर्त्तिनी या स्थविरा होना आवश्यक है। दस से अधिक संख्या हो तो प्रवर्त्तिनी होना आवश्यक है। एवं सौ से अधिक या सैकड़ों की संख्या हो तो गणावछेदिका का होना आवश्यक है। चालीस वर्ष तक की साध्वियों के लिए उपाध्याय का नेतृत्व आवश्यक है एवं सित्तर वर्ष तक की साध्वियों के लिए आचार्य का नेतृत्व आवश्यक होता है। व्यव. उद्दे.7।

साध्वियों में भी सिंघाड़ा प्रमुखा और प्रवर्त्तिनियां अनेक हो सकती है।

प्रवर्त्तिनी की योग्यता आचार्य, उपाध्याय के तुल्य समझनी चाहिए। छोटे समुदाय में उसकी योग्यता प्रवर्त्तक तुल्य समझना। समुदाय को व्यवस्थित चलाने के लिए ही इन पदवियों की आवश्यकता होती है ऐसा समझना चाहिए।

आचार्य, प्रवर्त्तक आदि को जब पद भार से निवृत्ति लेना हो तब उन्हें पद का त्याग करके अन्य योग्य को आचार्य, प्रवर्त्तक पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। जीवन के अन्तिम समय तक किसी को कोई पद रखना जरूरी नहीं होता है। पद तो कार्य भार सम्भालने के लिए होता है और जब भार सम्भालने की क्षमता वृद्धावस्था के कारण न हो अथवा निवृत्त होकर साधना करना हो तो पद का त्याग किया जा सकता है ऐसा करने में कोई अपराध नहीं होता है न ही कोई अपमान। जो योग्य है एवं संघ व्यवस्था में उसे कार्य भार सम्भालाना आवश्यक है तो उसे आगमोक्त आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्त्तक पद दे देना चाहिए।

विशाल समुदाय हो तो अनेक आचार्य अनेक उपाध्याय और अनेक प्रवर्त्तक नियुक्त किए जा सकते हैं। किन्तु आगम से अतिरिक्त विभिन्न नए-नए पदों की परम्पराएं चलाना अति प्रवृत्ति है जो आगम अध्ययन की कमी एवं आगम निष्ठा की कमी से उत्पन्न होने वाली भूल है। अतः जिन शासन के हितैषी अधिकारियों को आगम के गम्भीर अध्ययनपूर्वक

संघ व्यवस्था में अग्रसर होना चाहिए एवं प्रत्येक प्रवृत्ति निर्ग्रन्थ प्रवचन को आगे रखकर अर्थात् शास्त्र की प्रमुख रखकर ही करनी चाहिए।

शास्त्र का गम्भीर अध्ययन अनुभव किए बिना अपनी-अपनी बुद्धि से या बहुमत से अन्यान्य प्रवृत्तिएं प्रारम्भ नहीं करनी चाहिए। पद से निवृत्त आचार्य आदि संघ स्थविर कहे जाते हैं।

(उद्देशक 3 सूत्र 3-8)

4. आचार्य आदि पदों की योग्यता-

जिस गच्छ में अनेक साधु-साध्वियां हों जिसके अनेक संघाटक (संघाड़े) अलग-अलग विचरते हों अथवा जिस गच्छ में नवदीक्षित, बाल या तरुण साधु-साध्वियां हों उसमें अनेक पदवीधरों का होना अत्यावश्यक है एवं कम से कम आचार्य-उपाध्याय इन दो पदवीधरों का होना तो नितांत आवश्यक है।

किंतु जिस गच्छ में 2-4 साधु या 2-4. साध्वियां ही हों, जिनके एक या दो संघाटक ही अलग-अलग विचरते हों एवं उनमें कोई भी नवदीक्षित बाल या तरुण वय वाला न हों तो आचार्य उपाध्याय पदवीधर के बिना ही केवल वय या पर्यायस्थविर अथवा प्रवर्त्तक से उनकी व्यवस्था हो सकती है।

यहां प्रथम सूत्रद्विक में उपाध्याय पद, द्वितीय सूत्रद्विक में आचार्य-उपाध्याय पद और तृतीय सूत्रद्विक में अन्य पदों के योग्यायोग्य का कथन दीक्षापर्याय, श्रुतअध्ययन एवं अनेक गुणों के द्वारा किया गया है। जिसमें दीक्षापर्याय और श्रुतअध्ययन की जघन्य मर्यादा तो, उपाध्याय से आचार्य की और उनसे गणावच्छेदक की अधिक अधिकतर कही है।

इसके सिवाय मध्यतम या उत्कृष्ट कोई भी दीक्षापर्याय एवं श्रुत-अध्ययन वाले को भी ये पद दिये जा सकते हैं। आचारकुशल आदि अन्य गुणों का सभी पदवीधरों के लिए समान रूप से निरुपण किया गया है अतः प्रत्येक पद योग्य भिक्षु में वे गुण होना आवश्यक है।

दीक्षापर्याय- भाष्यकार ने बताया है कि दीक्षापर्याय के अनुसार ही प्रायः अनुभव, क्षमता, योग्यता का विकास होता है जिससे भिक्षु उन-उन पदों के उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होता है।

उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, जिसमें शिष्यों के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था की देख-रेख उन्हें रखनी पड़ती है। अतः इस पद के लिए जघन्य तीन वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

आचार्य पर गच्छ की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व रहता है। वे अर्थ-परमार्थ की वाचना भी देते हैं। अतः अधिक अनुभव क्षमता की दृष्टि से उनके लिए न्यूनतम पांच वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

गणावच्छेदक गण सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्यों को पूर्ण करके उनकी चिंता से आचार्य को मुक्त रखता है अर्थात् गच्छ के साधुओं की सेवा, विचरण एवं प्रायश्चित्त आदि व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है। यद्यपि अनुशासन

का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता है तथापि व्यवस्था तथा कार्य संचालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का अधिक होने से इनकी दीक्षा पर्याय.कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक कहा है।

अन्य गुण– आचार-कुशलता आदि दस गुणों का कथन इन सूत्रों में है। उनकी व्याख्या भाष्य में इस प्रकार है :

(1) आचारकुशल– ज्ञानाचार में एवं विनयाचार में जो कुशल होता है वह आचारकुशल कहा जाता है। यथा-गुरु आदि के आने पर खड़ा होता है उन्हें आसन चौकी आदि प्रदान करता है, प्रातः काल उन्हें वंदन करके आदेश मांगता है, द्रव्य से अथवा भाव से उनके निकट रहता है, शिष्यों को एवं प्रतीच्छकों (अन्य गच्छ से अध्ययन के लिए आये हुओं) को गुरु के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला, कायिकी आदि चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति को यथाविधि करने वाला, आवश्यक वस्त्रादि प्राप्त करने वाला, गुरु आदि की यथायोग्य पूजा, भक्ति, आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखने वाला, परुष वचन नहीं बोलने वाला, अमायावी-सरल स्वभावी, हाथ-पांव -मुख आदि की विकृत चेष्टा से रहित स्थिर स्वभाव वाला, दूसरों के साथ मायावी आचरण अर्थात् धोखा न करने वाला, यथासमय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण एवं स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञानादि की वृद्धि एवं शुद्धि करने वाला, समाधिवान् और सदैव गुरु का बहुमान करने वाला, ऐसा गुणनिधि भिक्षु 'आचार कुशल' कहलाता है।

(2) संयमकुशल– 1. पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करने वाला, आवश्यक होने पर ही निर्जीव पदार्थों का विवेकपूर्वक उपयोग करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, असंयम प्रवृत्ति करने वालों के प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ भाव रखने वाला यथा समय यथाविधि प्रमार्जन करने वाला, परिष्ठापना समिति के नियमों का पूर्ण पालन करने वाला,मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागने वाला, इस तरह सत्तरह प्रकार के संयम का पालन करने में निपुण (दक्ष) हो।

2. अथवा कोई वस्तु रखने या उठाने में तथा ऐषणा, शय्या आसन उपधि, आहार आदि में यथाशक्ति प्रशस्त योग रखने वाला अप्रशस्त योगों का परित्याग करने वाला।

3. इन्द्रियों एवं कषायों का निग्रह करने वाला अर्थात् शुभा-शुभ पदार्थों में रागद्वेष नहीं करने वाला और कषाय के उदय को विफल कर देने वाला, हिंसा आदि आश्रवों का पूर्ण निरोध करने वाला, अप्रशस्त योग और अप्रशस्त ध्यान अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर शुभ योग और धर्म, शुक्ल ध्यान में लीन रहने वाला, आत्म परिणामों को सदा विशुद्ध रखने वाला, इहलोकादि आशंसा से रहित, ऐसा गुणनिधि भिक्षु 'संयम कुशल' है।

(3) प्रवचनकुशल– जो जिनवचनों का ज्ञाता एवं कुशल उपदेष्टा हो वह 'प्रवचनकुशल' है, यथा :- सूत्र के अनुसार उसका अर्थ, परमार्थ, अन्वय, व्यतिरेक, युक्त सूत्राशय को, अनेक अतिशय युक्त अर्थों को एवं आश्चर्यकारी अर्थों को जानने वाला, मूल एवं अर्थ की श्रुतपरम्परा को भी जानने वाला, प्रमाण नय निक्षेपों से पदार्थों के स्वरूप को समझने वाला इस प्रकार श्रुत एवं अर्थ के निर्णायक होने से जो श्रुत रूप रत्नों से पूर्ण है तथा जिसने सम्यक् प्रकार से श्रुत को धारण करके उनका पुनरावर्तन किया है, पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक चिंतन किया है उसके निर्दोष होने का निर्णय किया है और उस के अर्थ को बहुश्रुतों के पास चर्चा वार्त्ता आदि से विपुल विशुद्ध धारण किया है, ऐसे गुणों को धारण करने वाला और उक्त

अध्ययन से अपना हित करने वाला अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एवं प्रवचन का अवर्णवाद बोलने वालों का निग्रह करने में समर्थ ऐसा गुण सम्पन्न भिक्षु 'प्रवचन कुशल' है।

(4) प्रज्ञप्तिकुशल– लौकिक शास्त्र, वेद-पुराण एवं स्वसिद्धांत का जिसने सम्यग् विनिश्चय कर लिया है, जो धर्म कथा, अर्थ-कथा आदि का सम्यक्ज्ञाता है तथा जीव-अजीव के स्वरूप एवं भेदों का, कर्म बंध एवं मोक्ष के कारणों का, चारों गति में गमनागमन करने का एवं उनके कारणों का तथा उनसे उत्पन्न दुःख-सुख का, इत्यादि का कथन करने में कुशल, पर वादियों के कुदर्शन का सम्यक् समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने में समर्थ एवं स्व सिद्धान्तों को समझाने में कुशल भिक्षु 'प्रज्ञप्ति कुशल' है।

(5) संग्रहकुशल– द्रव्य से उपधि शिष्यादि का और भाव से श्रुत एवं अर्थ तथा गुणों का आत्मा में संग्रह करने में जो कुशल (दक्ष) होता है तथा क्षेत्र एवं काल के अनुसार विवेक रख कर ग्लान, वृद्ध आदि की अनुकम्पा पूर्वक वैयावृत्य करने की स्मृति रखने वाला, आचार्यादि की रुग्णावस्था के समय वाचना देने वाला, समाचारी भंग करने वाले या कषाय में प्रवत्त होने वाले भिक्षुओं को यथायोग्य अनुशासन करके रोकने वाला, आहार, विनय आदि के द्वारा गुरुभक्ति करने वाला, गण के अंतरंग कार्यों को करने वाला अथवा गण से बहिर्भाव वालों को अंतर्भावी बनाने वाला, आहार उपधि आदि जिसको जो आवश्यक हो उसकी पूर्ति करने वाला, परस्पर साथ रहने में एवं अन्य को रखने में कुशल, सीवन, लेपन आदि कार्य करने कराने में कुशल, इस प्रकार निःस्वार्थ सहयोग देने के स्वभाव वाला गुणनिधि भिक्षु 'संग्रह कुशल' है।

(6) उपग्रह-कुशल– बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ भिक्षु आदि को शय्या, आसन, उपधि, आहार, औषध आदि देता है, दिलाता है तथा इनकी स्वयं सेवा करता है अन्य से करवाता है। गुरु आदि के द्वारा दी वस्तु या कही गई वार्ता निर्दिष्ट साधुओं तक पहुंचाता है तथा अन्य भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को कर देता है अथवा जिनके आचार्यादि नहीं है उन्हें आत्मीयता से दिशा निर्देश करता है, वह 'उपग्रह कुशल' है।

(7) अक्षतआचार– आधाकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने वाला एवं परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला।

(8) अभिन्नाचार– किसी प्रकार के अतिचारों का सेवन न करके पांचों आचारों का परिपूर्ण पालन करने वाला।

(9) असबलाचार– विनय व्यवहार, भाषा, गोचरी आदि में दोष नहीं लगाने वाला अथवा सबल दोषों से रहित आचरण वाला।

(10) असंक्लिष्ट आचार– इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की कामना करने वाला अथवा क्रोधादि का त्याग करने वाला संक्लिष्ट परिणाम रहित भिक्षु।

''**क्षत आचार**'' आदि शब्दों का अर्थ इससे विपरीत समझ लेना चाहिए। **यथा–**

(1) आधाकर्मादि दोषों का सेवन करने वाला।

(2) अतिचारों का सेवन कर पांच आचार या पांच महाव्रत में दोष लगाने वाला।

(3) विनय, भाषा आदि का विवेक नहीं रखने वाला, शबल दोषों का सेवन करने वाला।

(4) प्रशंसा, प्रतिष्ठा, आदर और भौतिक सुखों की चाहना करने वाला अथवा क्रोधादि से संक्लिष्ट परिणाम रखने वाला।

बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ- अनेक सूत्रों एवं उनके अर्थों को जानने वाला 'बहुश्रुत या बहुआगमज्ञ कहा जाता है। आगमों में इन शब्दों का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रयोग है। यथा-

1. गंभीरता विचक्षणता एवं बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त।

2. जिनमत की चर्चा-वार्त्ता में निपुण या मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञाता।

3. अनेक सूत्रों का अभ्यासी।

4. छेदसूत्रों में पारंगत।

5. आचार एवं प्रायश्चित्त विधानों में कुशल।

6. जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट बहुश्रुत।

(1) जघन्यबहुश्रुत- आचारांग एवं निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला।

(2) मध्यमबहुश्रुत- आचारांग, सूत्रकृतांग और चार छेद सूत्रों को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला।

(3) उत्कृष्टबहुश्रुत-दृष्टिवाद को धारण करने वाला अर्थात् नवपूर्वी से 14 पूर्वी तक। ये सभी बहुश्रुत कहे गये हैं।

(4) जो अल्पबुद्धि, अत्यधिक भद्र, अल्प अनुभवी एवं अल्प आगम-अभ्यासी होता है वह 'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ' कहा जाता है। तथा कम से कम आचारांग, निशीथ, आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र को अर्थ सहित अध्ययन करके उन्हें कंठस्थ धारण नहीं करने वाला 'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ' कहा जाता है।

5. आचार्य बणाओ कैसा-सूत्र में बतावे जैसा-

1. कम से कम पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय हो।

2. बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो।

3. कम से कम नौ शास्त्र अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण किए हो-

1. आवश्यक सूत्र, 2. दशवैकालिक सूत्र, 3. उत्तराध्ययन सूत्र, 4. आचारांग सूत्र, 5. निशीथ सूत्र, 6. सूयगडांग सूत्र, 7. दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, 8. बृहत्कल्प सूत्र, 9. व्यवहार सूत्र।

4. ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत जिसने कभी खण्डित न किए हो।

5. सबल दोष आदि किन्हीं दोषों से संयम दूषित न किया हो।

6. संयम के नियम-उपनियमों के पालन करने एवं करवाने में कुशल हो।

7. जिन प्रवचन का कुशल ज्ञाता हो।

8. श्रद्धा एवं प्ररूपणा अत्यन्त निर्मल हो तथा आगम तत्त्वों को समझाने में चतुर एवं दक्ष हो।

9. प्रभावशाली एवं उपकार बुद्धि वाला हो और स्वस्थ हो। व्यव. उ. 3.सू. 5

10. दशाश्रुत स्कन्ध दशा 4 के अनुसार आचार्य आठ सम्पदा से युक्त होना चाहिए

1. आचार सम्पन्न, 2. श्रुत सम्पन्न, 3. शरीर सम्पन्न, 4. वचन सम्पन्न, 5. वाचना सम्पन्न, 6. बुद्धि सम्पन्न, 7. स्फुरणा बुद्धि (प्रयोग मति) सम्पन्न, 8. संग्रह परिज्ञा सम्पन्न। इन आठों का सारांश उपरोक्त व्यवहार सूत्रोक्त गुणों में समाविष्ट हो जाता हैं।

11. परम्परा में 36 गुण कहे जाते हैं उनका भी व्यवहार सूत्र निर्दिष्ट गुणों में समावेश हो जाता है।

यथा-1-5 पांच आचार पाले, 6-10 पांच महाव्रत पाले, 11-15 पांच इन्द्रिय जीते, 16-19 चार कषाय टाले 20-28 नौ वाड सहित ब्रह्मचर्य पाले, 29-36 पांच समिति तीन गुप्ति शुद्ध आराधे।

पक्ष भाव एवं आग्रह भाव का परित्याग करके उपरोक्त गुण हो उसे ही आचार्य बनना या बनाना चाहिए।

6. उपाध्याय पद से पावो जो सम्मान-

सूत्र पढ़ाने का सदा करो कुछ काम-

जिनके समीप अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहा जाता हैं।

उपाध्याय पद आगम में आचार्य पद के बराबर ही सम्माननीय कहा गया है। व्यव. उ. 8 में पांच अतिशय आचार्य उपाध्याय दोनों के समान कहे गए हैं। अन्य आगम वर्णनों में भी दोनों को प्रायः समान ही बहुमान दिया गया हैं।

व्यव. में उपाध्याय की सारी योग्यता आचार्य के समान ही कही गई हैं केवल दीक्षा पर्याय और श्रुत में अन्तर कहा गया है यथा-

1. तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय हो जाने पर उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

2. कण्ठस्थ श्रुत में अल्पतम पांच आगम अर्थ सहित कण्ठस्थ हों (1. आवश्यक सूत्र, 2. दशवैकालिक सूत्र, 3. उत्तराध्ययन सूत्र, 4. आचारांग सूत्र, 5. निशीथ सूत्र)

ऐसे बहुश्रुत, आचार सम्पन्न, उपाध्याय दिन-रात अनेकों या सैकड़ों (गच्छ या संघ, के) साधुओं को अध्ययन कराने में लीन रहते हैं। इसलिए वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

गण या संघ के योग्य सन्तों को उपाध्याय के पास रखकर अध्ययन कराना चाहिए तभी उपाध्याय पद की सार्थकता है एवं संघ को उपाध्याय से लाभ है। वर्त्तमान में केवल सम्मान देने के लिए ही पद नियुक्ति कर दी जाती है। कर्तव्य एवं

जिम्मेदारी की उपेक्षा होती है वह सर्वथा अनुचित है एवं पद व्यवस्था का दुःरूपयोग है। ऐसी स्थिति में आगमिक पद योग्यता की भी उपेक्षा करके श्रुत आदि से अयोग्यों को पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इस अव्यवस्था पर संघ के हितैषी महानुभावों को लक्ष्य देना चाहिए।

(उद्देशक 3 सूत्र 11-12)

7. आचार्य आदि के बिना रहने का निषेध-

नव, डहर, तरुण का स्पष्टार्थ भाष्य में इस प्रकार किया गया है-

तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरगं बेंति ।
तरुणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो, थेरओ सेसो ।।

अर्थ- तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय पर्यन्त नवदीक्षित कहा जाता है। चार वर्ष से लेकर सौलह वर्ष की उम्र पर्यन्त डहर बाल कहा जाता है। सोलह वर्ष की उम्र से लेकर चालीस वर्ष पर्यन्त तरूण कहा जाता है।

सत्तर वर्ष में एक कम अर्थात् उनसत्तर (69) वर्ष पर्यन्त मध्यम (प्रौढ़) कहा जाता है। सत्तर वर्ष से आगे शेष, सभी वय वाले स्थविर कहे जाते हैं।-भाष्य गा. 220 एवं टीका।

आगम में साठ वर्ष वाले को, स्थविर कहा है - व्यव. उ. 10, ठाणं अ. 3।

भाष्यगाथा 221 में यह स्पष्ट किया गया है कि नवदीक्षित भिक्षु बाल हो या तरुण हो, मध्यम वय वाला हो अथवा स्थविर हो, उसे आचार्य, उपाध्याय की निश्रा के बिना रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है। अधिक दीक्षापर्याय वाला भिक्षु यदि चालीस वर्ष से कम वय वाला हो तो उसे भी आचार्य, उपाध्याय की निश्रा बिना रहना नहीं कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि बाल या तरुण वय वाले भिक्षु और नवदीक्षित भिक्षु एक हो या अनेक हों, उन्हें आचार्य और उपाध्याय के निश्रा में ही रहना आवश्यक है जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय कालधर्म को प्राप्त हों जाय अथवा जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय न हों तो बाल-तरुण-नवदीक्षित भिक्षुओं को आचार्य, उपाध्याय के बिना या आचार्य, उपाध्याय रहित गच्छ में किंचित् भी नहीं रहना कल्पता है। उन्हें प्रथम अपना आचार्य नियुक्त करना चाहिए तत्पश्चात् उपाध्याय निर्धारित करना चाहिए।

सूत्र में प्रश्न किया गया है कि- हे भगवन् ! 'आचार्य, उपाध्याय बिना रहना ही नहीं, 'ऐसा कहने का क्या आशय है?

इसका समाधान यह किया गया है कि- ये उक्त वय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सदा दो से संग्रहीत होते हैं अर्थात् इनके लिए सदा दो का नेतृत्व होना अत्यन्त आवश्यक है- 1. आचार्य का 2. उपाध्याय का तात्पर्य यह है कि आचार्य के नेतृत्व से इनकी संयम समाधि रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व से इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है।

दूसरे सूत्र में नव डहर एवं तरुण साध्वी के लिए भी यही विधान किया गया है। उन्हें भी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्त्तिनी इन तीन की निश्रा के बिना रहना नहीं कल्पता है। इस सूत्र में भी प्रश्न करके उत्तर में यही कहा गया है कि ये उक्त वय वाली साध्वियां सदा तीन की निश्रा से ही सुरक्षित रहती है।

सूत्र में **'निग्गंथस्स नव-डहर तरुणगस्स'** और **'णिग्गंथीए णवडहर-तरुणीए'** इस प्रकार एक वचन का प्रयोग है, यहां बहुवचन का या गण का कथन नहीं है जिससे यह विधान प्रत्येक **'नवडहर तरुण'** भिक्षु के लिए समझना चाहिए। अतः जिस गच्छ में आचार्य और उपाध्याय दो पदवीधर नहीं हैं वहां उक्त नव डहर तरुण साधुओं को रहना नहीं कल्पता है और इन दो के अतिरिक्त प्रवर्त्तिनी न हो तो वहां उक्त नव-डहर तरुण साध्वियों को रहना नहीं कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त वय वाले साधुओं से युक्त प्रत्येक गच्छ में आचार्य, उपाध्याय दो पदवीधर होना आवश्यक है। यदि ऐसे गच्छ में केवल एक पदवीधर स्थापित करे या एक भी पदवीधर नियुक्त न करे केवल रत्नाधिक की निश्रा से रहे तो इस प्रकार से रहना आगम-विपरीत है। क्योंकि इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि अल्पसंख्यक गच्छ में प्रवर्त्तक एवं विशाल गच्छ में आचार्य और उपाध्याय का होना आवश्यक है यही जिनाज्ञा है।

यदि किसी गच्छ में 2-4 साधु ही हों और उनमें कोई सूत्रोक्त नव डहर तरुण न हो अर्थात् सभी प्रौढ एवं स्थविर हों तो वे बिना आचार्य, उपाध्याय के विचरण कर सकते हैं किन्तु यदि उनमें नव डहर तरुण हो तो उन्हें किसी भी गच्छ के आचार्य, उपाध्याय की निश्रा लेकर अथवा अपना प्रवर्त्तक आदि स्थापित करके ही रहना चाहिए अन्यथा उनका विहार आगमविरुद्ध है।

इसी प्रकार साध्वियां भी 5-10 हों, जिनके कोई आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्त्तिनी न हो या उन्होंने किसी परिस्थिति से गच्छ का त्याग कर दिया हो उनमें नव डहर तरुण साध्वियां हों तो उन्हें भी किसी आचार्य और उपाध्याय की निश्रा अथवा प्रवर्त्तक आदि की निश्रा स्वीकार करना आवश्यक है एवं अपनी प्रवर्त्तिनी नियुक्त करना भी आवश्यक है। अन्यथा उनका विहार भी आगम विरुद्ध है।

इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थानांग अ. 3 में कहे गये भिक्षु के दूसरे मनोरथ के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला भिक्षु और दशवै. चू. 2 गा. 10, उत्तरा अ. 32 गा. 5, आचा. श्रु. 1. अ. 6 उ. 2, सूय. श्रु. 1 अ. 10 गा. 11 में कहे गये सपरिस्थितिक प्रशस्त एकल विहार के अनुसार अकेला विचरण करने वाला भिक्षु भी यदि नव डहर या तरुण है तो उसका वह विहार आगम विरुद्ध है। अतः उपर्युक्त आगमसम्मत एकलविहार भी प्रौढ एवं स्थविर भिक्षु ही कर सकते हैं जो नव दीक्षित न हों।

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय और चालीस वर्ष की उम्र के पहले किसी भी प्रकार का एकल विहार या गच्छ-त्याग करना उचित नहीं है और वह आगमविपरीत है।

बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला पर्याय स्थविर होने से 29 वर्ष की वय में वह आचार्य की आज्ञा लेकर उनकी निश्रा में रहता हुआ एकल विहार साधनाएं कर सकता है। किन्तु सपरिस्थितिक एकल विहार या गच्छत्याग 40 वर्ष के पूर्व नहीं कर सकता।

ऐसे स्पष्ट विधान वाले सूत्र एवं अर्थ के उपलब्ध होते हुए भी समाज में निम्न प्रवृतियां या परम्पराएं चलती हैं वे उचित नहीं कही जा सकती। यथाः

(1) केवल आचार्य पद से गच्छ चलाना और उपाध्याय पद नियुक्त न करना।

(2) कोई भी पद नियुक्त न करने के आग्रह से विशाल गच्छ को अव्यवस्थित चलाते रहना।

(3) उक्त 40 वर्ष की वय के पूर्व ही गच्छ त्याग करना।

ऐसा करने में स्पष्ट रूप से उक्त आगमविधान की स्वमति से उपेक्षा करना है। इस उपेक्षा से होने वाली हानियां इस प्रकार है-

1. गच्छगत साधुओं के विनय, अध्ययन, आचार एवं संयम समाधि की अव्यवस्था आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है।

2. साधुओं में स्वच्छंदता एवं आचार विचार की भिन्नता हो जाने से क्रमशः गच्छ का विकास न होकर अधः पतन होता है।

3. साधुओं में प्रेम संयमसमाधि नष्ट होती है और क्लेशों की वृद्धि होती है।

4. अंततः गच्छ भी छिन्न-भिन्न होता रहता है।

अतः प्रत्येक गच्छ में आचार्य-उपाध्याय दोनों पदों पर किसी को नियुक्त करना आवश्यक है।

यदि कोई आचार्य, उपाध्याय पदों को लेना या गच्छ में ये पद नियुक्त करना अभिमानसूचक एवं क्लेशवृद्धि कराने वाला मानकर सदा के लिए पदरहित गच्छ रखने का आग्रह रखते हैं और ऐसा करते हुए अपने को निरभिमानी होना व्यक्त करते हैं, तो ऐसा मानना एवं करना उनका सर्वथा अनुचित है और जिनाज्ञा की अवहेलना एवं आशातना करना भी है। क्योंकि जिनाज्ञा तो आचार्य, उपाध्याय नियुक्त करने की है तथा नमस्कार मंत्र में भी ये दो स्वतंत्र पद कहे गये हैं। अतः उपरोक्त आग्रह में सूत्र विधानों से भी अपनी समझ को सर्वोपरि मानने का अहं सिद्ध होता है। यदि आचार्य, उपाध्याय पद के अभाव में निरभिमान और क्लेशरहित होना सभी विशाल गच्छ वाले सोच लें तो नमस्कार मंत्र के दो पदों का होना ही निरर्थक सिद्ध होगा और जिससे पद नियुक्ति सम्बन्धी इन सारे आगमविधानों का भी कोई महत्व नहीं रहेगा।

इसलिये अपने विचारों का या परंपरा का आग्रह न रखते हुए सरलतापूर्वक आगमविधानों के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

सारांश–

(1) प्रत्येक नव-डहर-तरुण साधु को दो और साध्वी को तीन पदवीधर युक्त गच्छ में ही रहना चाहिए।

(2) इन पदवीधरों से रहित गच्छ में नहीं रहना चाहिए।

(3) सूत्रोक्त वय के पूर्व एकल विहार या गच्छ त्याग कर स्वतंत्र विचरण भी नहीं करना चाहिए।

(4) सूत्रोक्त वय के पूर्व कोई परिस्थिति विशेष हो तो अन्य आचार्य एवं उपाध्याय से युक्त गच्छ की निश्रा लेकर विचरण करना चाहिए।

(5) गच्छ प्रमुखों को चाहिए कि वे अपने गच्छ को 2 या 3 पद से कभी भी रिक्त न रखें।

(उद्देशक 4 सूत्र 13)

8 आचार्य पद देने या हटाने का विधान-

तीसरे उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के गुणों का विस्तृत कथन किया गया है। यहां पर रुग्ण आचार्य, उपाध्याय अपना अंतिम समय समीप जान कर आचार्य, उपाध्याय पद के लिए किसी साधु का नाम निर्देश करे तो उस समय स्थविरों का क्या कर्तव्य है इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

रुग्ण आचार्य ने आचार्य बनाने के लिए जिसके नाम का निर्देश किया है वह योग्य भी हो सकता है और अयोग्य भी हो सकता है अर्थात् उनका कथन रुग्ण होने के कारण या मोह भाव के कारण संकुचित दृष्टिकोण वाला भी हो सकता है।

अतः उनके काल धर्म प्राप्त हो जाने पर 'आचार्य या उपाध्याय पद किसको देना' इसके निर्णय की जिम्मेदारी गच्छ के शेष साधुओं की कही गई है। जिसका भाव यह है कि यदि आचार्य निर्दिष्ट भिक्षु तीसरे उद्देशक में कहीं गई सभी योग्यताओं से युक्त है तो उसे ही उस पद पर नियुक्त करना चाहिये, दूसरा कोई विकल्प आवश्यक नहीं है।

यदि वह शास्त्रोक्त योग्यता से सम्पन्न नहीं है और अन्य योग्य है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु को पद देना अनिवार्य न समझ कर उस अन्य योग्य भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए।

यदि अन्य कोई भी योग्य नहीं है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य हो अथवा योग्य न हो उसे ही आचार्य पद पर नियुक्त करना चाहिए।

यदि अन्य अनेक भिक्षु भी पद के योग्य हैं और वे आचार्य-निर्दिष्ट भिक्षु से रत्नाधिक भी हैं किन्तु यदि आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य है तो उसे ही आचार्य बनाना चाहिए।

आचार्य निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी योग्य भिक्षु को अथवा कभी परिस्थितिवश अल्प योग्यता वाले भिक्षु को पद पर नियुक्त करने के बाद यदि यह अनुभव हो कि गच्छ की व्यवस्था अच्छी तरह नहीं चल रही है, साधुओं की संयम समाधि एवं बाह्य वातावरण क्षुब्ध हो रहा है, गच्छ में अन्य योग्य भिक्षु तैयार हो गये हैं तो गच्छ के स्थविर या प्रमुख साधु साध्वियां आदि मिलकर आचार्य को पद त्यागने के लिये निवेदन करके अन्य योग्य को पद पर नियुक्त कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि वे पद त्यागना न चाहें या अन्य कोई साधु उनका पक्ष लेकर आग्रह करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।' -उद्दे-4 सूत्र 13॥

इस सूत्रोक्त आगम-आज्ञा को भलीभांति समझकर सरलतापूर्वक पद देना, लेना या छोड़ने के लिए निवेदन करना आदि प्रवृत्तियां करनी चाहिए तथा अन्य सभी साधु-साध्वियों को भी प्रमुख स्थविर संतों को सहयोग देना चाहिए। किन्तु अपने अपने विचारों की सिद्धि के लिये निंदा, द्वेष, कलह या संघभेद आदि अनुचित तरीकों से पद छुड़ाना या कपट-चालाकी से पद प्राप्त करने की कोशिश करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

गच्छ-भार संभालने वाले पूर्व के आचार्य का तथा गच्छ के अन्य प्रमुख स्थविर संतों का यह कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से तथा विशाल दृष्टि से गच्छ एवं जिनशासन का हित सोचकर आगम निर्दिष्ट गुणों से सम्पन्न भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करे।

कई साधु स्वयं ही आचार्य बनने का संकल्प कर लेते हैं, वे ही कभी अशांत एवं क्लेश की स्थिति पैदा करते हैं या करवाते हैं। किन्तु मोक्ष की साधना के लिए संयमरत भिक्षु को जल कमलवत् निर्लेप रहकर एकत्व आदि भावना में तल्लीन रहना चाहिए। किसी भी पद की चाहना करना या पद के लिए लालायित रहना भी संयम का दूषण है। इस चाहना में बाह्य ऋद्धि की इच्छा होने से इसका समावेश लोभ नामक पाप में होता है तथा उस इच्छा की पूर्ति में अनेक प्रकार के संयम विपरीत संकल्प एवं कुटिल नीति आदि का अवलंबन भी लिया जाता है, जिससे संयम की हानि एवं विराधना होती है। साथ ही मान कषाय की अत्यधिक पुष्टि होती है।

निशीथ उद्देशक 17 में अपने आचार्यत्व के सूचक लक्षणों को प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः संयम साधना में लीन गुणसम्पन्न भिक्षु को यदि आचार्य या अन्य गच्छप्रमुख स्थविर ही गच्छभार संभालने के लिये निर्णय करें या आज्ञा दें तो अपनी क्षमता का एवं अवसर का विचार कर उसे स्वीकार करना चाहिए किन्तु स्वयं ही आचार्य पद प्राप्ति के लिए संकल्पबद्ध होना एवं न मिलने पर गण का त्याग कर देना आदि सर्वथा अनुचित्त हैं।

इस प्रकार इस सूत्र में निर्दिष्ट सम्पूर्ण सूचनाओं को समझ कर सूत्र निर्दिष्ट विधि से पद प्रदान करना चाहिए और इससे विपरीत अन्य अयोग्य एवं अनुचित्त मार्ग स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त वाले वीतराग मार्ग में विनयव्यवहार एवं आज्ञापालन में भी अनेकांतिक विधान है- अर्थात् विनय के नाम से केवल **'बाबावाक्यं प्रमाणं'** का निर्देश नहीं है। इसी कारण आचार्य द्वारा निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता की विचारणा एवं निर्युक्ति का अधिकार सूचित किया गया है।

ऐसे आगमविधानों के होते हुए भी परम्परा के आग्रह से या **'बाबावाक्यं प्रमाणं'** की उक्ति चरितार्थ कर के आगम विपरीत प्रवृत्ति करना अथवा भद्रिक एवं अकुशल सर्व रत्नाधिक साधुओं को गच्छप्रमुख रूप में स्वीकार कर लेना गच्छ एवं जिनशासन के सर्वतोमुखी पतन का ही मार्ग है।

अतः स्याद्वादमार्ग को प्राप्त करके आगम विपरीत परम्परा एवं निर्णय को प्रमुखता न देकर सदा जिनाज्ञा एवं शास्त्राज्ञा को ही प्रमुखता देनी चाहिए।

परिशिष्ट-2

(उद्देशक 10 सूत्र 3)

पांच व्यवहार-

(1) आगमव्यवहारी- 9 पूर्व से लेकर 14 पूर्व के ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी और केवल ज्ञानी ये 'आगम व्यवहारी' कहे जाते हैं।

(2) श्रुतव्यवहारी- जघन्य आचारांग एवं निशीथ सूत्र मूल, अर्थ, परमार्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाले और उत्कृष्ट 9 पूर्व से कम श्रुत धारण करने वाले 'श्रुत व्यवहारी' कहे जाते हैं।

(3) आज्ञाव्यवहारी- किसी आगम व्यवहारी या श्रुत व्यवहारी की आज्ञा प्राप्त होने पर उस आज्ञा के आधार से प्रायश्चित्त देने वाला 'आज्ञा व्यवहारी' कहा जाता है।

(4) धारणाव्यवहारी- बहुश्रुतों ने श्रुतानुसारी प्रायश्चित्त की कुछ मर्यादा किसी योग्य भिक्षु को धारण करादी हो उनको अच्छी तरह धारण करने वाला 'धारणा व्यवहारी' कहा जाता है।

(5) जीतव्यवहारी- जिन विषयों में कोई स्पष्ट सूत्र का आधार न हो उस विषय में बहुश्रुत भिक्षु सूत्र से अविरुद्ध और संयमपोषक प्रायश्चित्त की मर्यादाएं किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दे उन्हें अच्छी तरह धारण करने वाला 'जीतव्यवहारी' कहा जाता है।

जं जीयमसोहिकरं, पासत्थ पमत्त संजयाइण्णं।
जइ वि महाजणाइण्णं, न तेण जीएण ववहारो ।। 720।।
जं जीयं सोहिकर, संवेगपरायणेन दंतेण।
एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीएण ववहारो।। 721।। व्यव. भाष्य. उद्दे.10

वैराग्यवान् एक भी दमितेंद्रिय बहुश्रुत द्वारा जो सेवित हो वह जीतव्यवहार संयमशुद्धि करने वाला हो सकता है। किन्तु जो पार्श्वस्थ प्रमत्त एवं अपवादप्राप्त भिक्षु से आचीर्ण हो वह जीतव्यवहार अनेकों के द्वारा सेवित होने पर भी शुद्धि नहीं कर सकता है। अतः उस जीतव्यवहार से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सो जहकालादीणं अपडिकंतस्स निविगईयंतु।

मुहणंतगफिडिय,पाणगअसंवरेण,एवमादीसु।। 709।। व्यव. भाष्य उद्दे. 10

जो पच्चक्खाण काल या स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नहीं करता है। मुख पर मुखवस्त्रिका के बिना रहता है अथवा बोलता है और पानी को नहीं ढंकता है उसे नीवी का प्रायश्चित्त आता है, यह सब जीतव्यवहार है।

गाथा में आए **'मुहणंतगफिडिय'** की टीका- **मुख पोतिकायां स्फिटितायां, मुखपोतिकामंतरेणेत्यर्थ'**

इन पांच व्यवहारियों द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमव्यवहार यावत् जीत व्यवहार कहा जाता है।

इस सूत्रविधान का आशय यह है कि पहले कहा गया व्यवहार और व्यवहारी प्रमुख होता है। उसकी अनुपस्थिति में ही बाद में कहे गए व्यवहार और व्यवहारी को प्रमुखता दी जा सकती है। अर्थात् जिस विषय में श्रुतव्यवहार उपलब्ध हो उस विषय के निर्णय करने में धारणा या जीतव्यवहार को प्रमुखता नहीं देनी चाहिए।

व्युत्क्रम से प्रमुखता देने में स्वार्थ-भाव या राग-द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्ष भाव नहीं रहता है। इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अंतिम अंश में राग द्वेष एवं पक्षपात भाव से रहित होकर यथाक्रम से व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सूत्र निर्दिष्ट क्रम से एवं निष्पक्ष भाव से व्यवहार करने वाले को आराधक कहा गया है। अतः पक्षभाव से एवं व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह स्पष्ट है।

व्यवहार शब्द का विस्तृत अर्थ करने पर यह भी फलित होता है कि संयमी जीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्ररुपित तत्त्व से सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद की स्थिति का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगम व्यवहारी हो तो उनके निर्णय को स्वीकार कर के विवाद को समाप्त कर देना चाहिए।

यदि आगम व्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नहीं मानना चाहिए। क्योंकि आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुत व्यवहार प्रमुख है।

वर्त्तमान में सर्वोपरी प्रमुख स्थान आगमों का है, उसके बाद व्याख्याओं एवं ग्रन्थों का स्थान है तत्पश्चात् स्थविरों द्वारा धारित कंठस्थ धारणा या परम्परा का है। व्याख्याओं या अन्यों में भी पूर्व पूर्व के आचार्यों की रचना का प्रमुख स्थान है।

अतः वर्त्तमान में सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्या और ग्रन्थ का महत्व नहीं होता है। उसी प्रकार शास्त्रप्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्व नहीं है। इसलिए शास्त्र ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी यथाक्रम विवेकपूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अतः इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्ष भाव से आगम तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवती सूत्र श. 8 उ. 8 में तथा ठाणांग अ. 5 उ. 2 में भी यह सूत्र है।

सारांश यह है कि प्रायश्चित्तों का या अन्य तत्त्वों का निर्णय इन पांच व्यवहारों द्वारा क्रमपूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नहीं अर्थात् किसी विषय में आगम पाठ के होते हुए भी धारणा या परम्परा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

एवं जिस विषय में प्राचीन ग्रन्थों या व्याख्या ग्रन्थों का यदि प्रमाण हो जो आगम से अविरुद्ध हो उसकी अपेक्षा धारणा या परम्परा या व्यक्तिगत गच्छों के निर्णय को प्रमुखता देना भी अनुचित ही समझना चाहिए।

इसलिए जिस विषय में आगम प्रमाण या अन्य प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो तो वहां परम्परा या धारणा का अथवा व्यक्तिगत निर्णयों का आग्रह नहीं करना चाहिए।

किंतु संपूर्ण जैन समाज की एकता एवं सुव्यवस्था के लिए किसी ग्रन्थ या व्याख्याओं की बात को गौण भी करना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए बशर्ते कि वह निर्णय या वह निर्णित पद्धति आगम आज्ञा से विरुद्ध न हो।

इस प्रकार संघ हितैषी ज्ञानी आत्माओं को निष्पक्ष भाव से विवेक पूर्वक आवश्यक तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए यही इस सूत्र का प्रमुख आशय है।

पांच व्यवहारों का समझा मर्म।
मिला उसे सच्चा जिन धर्म ।।

परिशिष्ट-3

नियंठा स्वरूप

छः प्रकार के निर्ग्रन्थों का विशद व्याख्यान-

भगवती सूत्र श. 25, उद्देशक 6-7 में मौलिक रूप से पांच निर्ग्रन्थ कहे गये हैं एवं बाद में 36 द्वारों से छः निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है अर्थात् कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद कर दिए गये हैं- 1. प्रतिसेवना कुशील, 2. कषाय कुशील। इस प्रकार कुछ छः निर्ग्रन्थ निम्न हैं- 1 पुलाक, 2. बकुश, 3. प्रतिसेवना कुशील, 4. कषाय कुशील, 5. निर्ग्रन्थ, 6. स्नातक। प्रथम द्वार में इन छहों के पांच-पांच भेद करके स्वरूप बताया है। फिर शेष 35 द्वारों से अनेक प्रकार का विश्लेषण किया गया है। उस विश्लेषण को दृष्टिगत रखते हुए यहां इन छहों नियंठो का क्रमशः व्याख्यान किया जा रहा है।

1. पुलाक नियंठा- संयम ग्रहण करने के प्रारम्भ में कषाय कुशील नियंठा प्राप्त होता है उस की कुछ संयम पर्याय और 9 पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद किसी साधक को पुलाक लब्धि (उत्पन्न) प्राप्त होती है। वह जब किसी आवश्यक प्रसंग पर ज्ञान, दर्शन चारित्र सम्बन्धी प्रयोजन से उस लब्धि का प्रयोग करता है तब उस लब्धि प्रयोग अवस्था में अंतमुहूर्त के लिये जो नियंठा रहता है वह ''पुलाक नियंठा'' कहा जाता है। वह पुलाक निर्ग्रन्थ कभी भी साधु आदि पर आई हुई आपत्ति को दूर करने के लिये चक्रवर्ती राजा आदि को भी भयभीत कर सकता है, दण्ड दे सकता है और उस आपत्ति को दूर कर सकता है। ऐसा करने में उसके संयम में अवश्य ही मूल गुण प्रति सेवना (दोष प्रवृत्ति) या कभी उत्तर गुण प्रतिसेवना होती है। इस नियंठे का सम्पूर्ण काल अन्तर्मुहुर्त्त का है। अतः लब्धि प्रयोग के कार्य से अन्तर्मुहुर्त्त में ही निवृत्त हो जाता है और आलोचना प्रायश्चित कर शुद्ध संयम दशा में आ जाता है, यदि नहीं होवे या आलोचना आदि के भाव नहीं होवे तो अंतर्मुहूर्त की स्थिति समाप्त होने पर असंयम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस लब्धि प्रयोग की अवस्था में तीन शुभ लेश्या में से ही कोई एक लेश्या रहती है, अशुभ लेश्या नहीं रहती। फिर भी प्रवृत्ति में आवेश और अक्षमा भाव होने से तथा छोटे या बड़े किसी दोष की नियमा होने से इस नियंठे के प्रारम्भ से ही संयम पर्यव की इतनी कमी आने लग जाती है कि बकुश नियंठे के जघन्य चरित्र पर्यव से इनके अनंत गुणहीन चरित्र पर्यव हो जाते हैं। यह नियंठा जीवन में उत्कृष्ट तीन बार ही आ सकता है। लब्धि प्रयोग में ज्ञान दर्शन आदि का कोई न कोई हेतु निमित्त होता है उन निमित्तों की अपेक्षा से इसके 5 प्रकार कहे गये हैं।

1. ज्ञान पुलाक- ज्ञान (अध्ययन) के सम्बन्ध में किसी के द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है तो वह **''ज्ञान पुलाक निर्ग्रन्थ''** कहलाता है।

2. दर्शन पुलाक- दर्शन के सम्बन्ध में अर्थात् श्रद्धा प्ररुपणा के सम्बन्ध में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है, **''दर्शन पुलाक निर्ग्रन्थ''** कहलाता है।

3. चारित्र पुलाक- संयम पालन की आवश्यक विधियों में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर उस विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **''चारित्र पुलाक निर्ग्रन्थ''** कहलाता है।

4. लिंग पुलाक- आवश्यक वेश भूषा व उपधि के सम्बन्ध में किसी के द्वारा किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न की जाने पर विकट परिस्थिति में जो कोई पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **''लिंग पुलाक निर्ग्रन्थ''** कहलाता है।

5. यथा सूक्ष्म पुलाक- अन्य विविध कारणों से अर्थात् संघ या व्यक्ति विशेष (साधु, श्रावक, दीक्षार्थी आदि) पर आई हुई आपत्ति आदि की विकट परिस्थिति में जो पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है वह **''यथा सूक्ष्म पुलाक''** कहलाता है।

आगम में 36 द्वारों से पुलाक का स्वरूप बताया गया है जिसके प्रथम द्वार में ये पांच भेद करके व्याख्या की गई है। इस नियंठे के नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह नियंठा पुलाक नामक लब्धि के प्रयोग करने से साधु को प्राप्त होता है।

यद्यपि 36 ही द्वारों से इसका यही उक्त अर्थ फलित होता है, फिर भी 1. प्रज्ञापना, 2. लेश्या, 3. स्थिति, 4. गति, 5. भव, 6. आकर्ष, 7. अंतर, 8. प्रतिसेवना, 9. लिंग, 10. संयमपर्यव, 11. समुद्घात आदि द्वारों से तो अत्यंत ही स्पष्ट हो जाता है कि यह अवस्था लब्धि प्रयोग के समय ही है। अन्य कोई भी पुलाक अवस्था सूत्रकार को अपेक्षित या विवक्षित नहीं है।

आसेवना पुलाक भेद करना अनुपयुक्त है-

अतः टीकाकारों द्वारा कल्पित लब्धि पुलाक और आसेवना पुलाक दो भेद करना अनुपयुक्त है और आसेवना पुलाक के ही ये पांच भेद हैं ऐसा कहना भी, सूत्रानुकूल नहीं है। क्योंकि ऐसी कोई सूचना 36 द्वारों में नहीं की गई है। किन्तु केवल लब्धि पुलाक को ही इन भेदों में विवक्षित कर समस्त वर्णन किया गया है और ऐसा मानने पर ही शेष द्वारों में वर्णित विषयों की संगति सम्यक् प्रकार से हो सकती है।

व्याख्याकारों ने लब्धि पुलाक और आसेवना पुलाक दो मूल भेद किए हैं फिर आसेवना पुलाक के सूत्रोक्त पांच भेद सूचित किए हैं। जिसमें केवल ज्ञान पुलाक को ही लब्धि प्रयोग करने वाला कहा है, साथ ही केवल स्खलना से **''ज्ञान पुलाक''** शंका करने से दर्शन पुलाक और आधाकर्मी आहारादि की मन से इच्छा करने मात्र से **''चारित्र पुलाक''** नियंठा होना कहा है। इस प्रकार टीकाकार कथित भेद-प्रभेद और उनकी व्याख्याएं अपने आप में अनेक शंकाओं से भरी असमाधित ही रहती है और आगम के आशय को स्पष्ट न करके भ्रमित ही करती है। अतः प्रथम प्रज्ञापना द्वार में कथित पांच प्रकारों से लब्धि की अपेक्षा किया गया उपरोक्त अर्थ समझना ही आगमसम्मत है एवं सर्व शंकाओं के निवारण योग्य है।

ज्ञान एवं दर्शन में क्रमशः स्खलना या शंका होने से पुलाक निर्ग्रन्थ का सम्बन्ध करने की अपेक्षा चारित्र के मूल गुण या उत्तर गुण प्रतिसेवना का सम्बन्ध करना ही उचित होता है।

क्योंकि नियंठों का परिवर्तन आदि चारित्र मोह के उदय से होता है जबकि स्खलना या शंका का होना ज्ञानावरणीय या दर्शन मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है।

इसलिए आसवेना पुलाक का विकल्प करना और छोटे-छोटे दोषों से उसकी संगति करना एक क्लिष्ट कल्पना ही है। जबकि सूत्रोक्त 36 ही द्वार लब्धि प्रत्ययिक पुलाक की विवक्षा से सरलता पूर्वक समझे जा सकते हैं।

अतः टीकाकार निर्दिष्ट भेद एवं उनका स्वरूप तर्क संगत एवं आगम सम्मत न होने से उपादेय नहीं है। इसी कारण उक्त पांचों भेदों का स्वरूप लब्धि प्रयोग अवस्था से ज्ञानादि का निमित्त मानकर उक्त विधि से समझ लेना चाहिए।

2. बकुश नियंठा– यह नियंठा भी संयम ग्रहण करने के प्रारम्भ में नहीं आता है। कुछ संयम पर्याय के बाद पुलाक के उत्कृष्ट चरित्र पर्यव से अनंत गुण अधिक चरित्र पर्यव हो जाने पर उत्तर गुण के दोष रूप शिथिल प्रवृत्तियों के आचरण से यह नियंठा आता है अर्थात् शरीर तथा उपकरणों की विभूषा करने वाला, हाथ पैर मुख, शय्या-संथारा, वस्त्रादि को बिना खास प्रयोजन धोने वाला या बार-बार धोनेवाला तथा अन्य भी अनेक शिथिल प्रवृत्तियों को अपनी रुचि व आदत से करने वाला व संयम परिणामों की जागरुकता (प्रगतिशीलता) में कमी लाने वाली प्रमाद रूप अनावश्यक प्रवृत्तियां करने वाला ''बकुश निर्ग्रन्थ'' कहलाता है। यह निर्ग्रन्थ मूल गुण में दोष नहीं लगाता है। इसके दोष की प्रवृत्तियां सूक्ष्म दर्जे की, उत्तर गुण दोष के सीमा तक की व शिथिल मानस वृत्ति की होती है। दोष का दर्जा अपनी सीमा से आगे बढ़ जाने पर यह नियंठा नहीं रहता है तब वह असंयम में या प्रतिसेवना कुशील नियंठा में चला जाता है। दोष की शुद्धि आलोचना प्रायश्चित के द्वारा करले तो भी यह नियंठा नहीं रह कर विशुद्ध कषाय कुशील नियंठा आ जाता है। लगे दोष की शुद्धि नहीं करे और कुछ प्रवृत्तियां सूक्ष्मदोष की चालू रखे, उसके अतिरिक्त शुद्ध संयम आराधना में तत्पर बन जाय तो यदि दोष का दर्जा इसकी सीमा तक का हो तो यह नियंठा उत्कृष्ट जीवन भर भी रह सकता है। यह नियंठा भी तीन शुभ लेश्या के रहने पर ही रहता है। अशुभ लेश्या के परिणाम होते ही इस नियंठे वाला असंयम में पहुंच जाता है। इस निर्ग्रन्थ के दोष सेवन में ज्ञान दर्शन आदि के निमित्त की प्रमुखता न रह कर शिथिल वृत्ति की प्रमुखता होती है अतः इसमें ज्ञानादि के निमित्त की अपेक्षा से भेद नहीं करके प्रवृत्ति की अपेक्षा 5 भेद कहे गये हैं।

1. आभोग बकुश– संयम विधि का, शास्त्र की आज्ञा का, तथा शिथिल प्रवृत्तियों का व उनकी उत्पत्ति के स्वरूप का जानकार अनुभवी होते हुए शिथिल मानस एवं लापरवाही से शिथिल प्रवृत्ति करने वाला ''**आभोग बकुश**'' कहलाता है।

2. अनाभोग बकुश– जो चली आई हुई प्रवृत्ति के अनुसार देखा-देखी, संगति के अनुसार, शिथिल प्रवृत्तियां करता है। जिसने शास्त्राज्ञा को नहीं समझा है, अतः अपनी प्रवृत्ति को ठीक समझकर या बिना कुछ समझे विचारे करता है, वह ''**अनाभोग बकुश**'' कहलाता है।

3. संवुड बकुश– इस नियंठे के दर्जे की प्रवृत्तियों को गुप्त रूप से करे विशेष प्रगट रूप में नहीं करे वह ''**संवुड बकुश**'' कहलाता है।

4. असंवुड बकुश– दुस्साहस और प्रवृत्ति के बढ़ जाने से निः संकोच होकर प्रगट रूप से उन प्रवृत्तियों को करने वाला ''**असंवुड बकुश**'' कहलाता है।

5. यथासूक्ष्म बकुश– विभूषा आदि की चालू प्रवृत्तियों को लिहाज, दबाब आदि से सेवन करे तथा निष्कारण औषध सेवन, विनय सेवन एवं नशीले पदार्थ का सेवन करे। किसी भी चीज के प्रति लगाव रखे। आलस-निद्रा, प्रमाद में अनावश्यक अमर्यादित समय खर्च करें, संयम प्रवृत्तियों को अविधि, अविवेक, व उतावल से करने की प्रवृत्ति रखे, रसासक्त बने और अनावश्यक अमर्यादित पदार्थों का सेवन करे, इत्यादि अनेक प्रवृत्तियां करने वाला ''यथासूक्ष्म बकुश'' कहलाता है, अर्थात् जिन प्रवृत्तियों से विनय, वैराग्य, इन्द्रिय दमन, इच्छा-निरोध, ज्ञान, तप आदि संयम गुणों के विकास में बाधा पड़ती है, उन प्रवृत्तियों को करने वाला ''यथा सूक्ष्म बकुश'' कहा जाता है।

3. प्रतिसेवना कुशील– यह नियंठा भी संयम ग्रहण के प्रारम्भ में नहीं आता है। कुछ संयम पर्याय के बाद व पुलाक के उत्कृष्ट संयम पर्याय से अनंत गुण अधिक पर्यव हो जाने पर कभी भी सकारण मूल गुण में या उत्तर गुण में अमुक सीमा के दोष सेवन करने पर वह यह नियंठा आता है। इस नियंठे वाले के दोष सेवन में शिथिल मानस की मुख्यता न होकर किसी प्रकार की लाचारी, असहनीय स्थिति, अथवा क्वचित प्रमाद, कुतुहल, दर्प तथा अशुद्ध समझ होती है तथा ज्ञान आदि पांच के निमित्त से दोष का सेवन किया जाता है। इस नियंठे के दोष के दर्जे बकुश के दोषों से आगे के दर्जे के भी होते हैं किन्तु शिथिलाचार मानस रूप में न होकर उपरोक्त लाचारी आदि कारण से या ज्ञानादि के निमित्त से होते हैं। लगे दोष की शुद्धि कर लेने पर यह नियंठा नहीं रहता है और विशुद्ध कषाय कुशील नियंठा आ जाता है। लगे दोष की शुद्धि तो नहीं करे किन्तु दोष रहित शुद्ध संयम के पालन में तत्पर हो जाए तो उसके यह नियंठा बना रहता है। लगे दोष की शुद्धि न करे और वह दोष प्रवृत्ति भी चालू रहे किन्तु उसके अतिरिक्त शुद्ध संयम आराधना में लग जाए तो भी यह नियंठा बना रह सकता है। तथा यदि दोष का दर्जा इस नियंठे की सीमा तक का हो और प्रवृत्ति में शिथिलता का मानस न हो तो जीवन भर भी यह नियंठा रह सकता है। शुभ तीन लेश्या की मौजूदगी में ही यह नियंठा रहता है। अशुभ लेश्या के आते ही इसे असंयम दशा प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि दोहरा (डबल) भार आने पर संयम नहीं रहता अर्थात् एक तो दोष सेवन करना और दूसरा परिणाम भी अशुभ करना, यह अक्षम्य हो जाता है। इसी कारण ये तीनों नियंठे प्रतिसेवी होने से शुभ लेश्या में ही रह सकते हैं। इस प्रतिसेवना कुशील नियंठे के भी पुलाक के समान निमित्त अपेक्षा से 5 प्रकार कहे गये हैं।

1. ज्ञान प्रतिसेवना कुशील– ज्ञान सीखने, सीखाने व प्रचार करने इत्यादि ज्ञान से सम्बन्धित प्रसंगों से मूल गुण या उत्तरगुण में दोष लगावे। यथा- पुस्तकें आदि खरीदे, मंगावें, दोषयुक्त ग्रहण करे, सवैतनिक (साधु के लिए वेतन दिया जाता हो ऐसे) पंडित से पढ़े। लहियों आदि से लिखाना, छपाई के कार्य में भाग लेना इत्यादि अनेक मर्यादाओं का ज्ञान के लिए भंग करना। इन दोष प्रवृत्तियों वाला **''ज्ञान प्रतिसेवना कुशील''** निर्ग्रन्थ कहलाता है।

2. दर्शन प्रतिसेवना कुशील– शुद्ध-श्रद्धा के प्राप्ति या प्रचार के लिये, दर्शन विषयों के अध्ययन के लिये जो मूल गुण या उत्तर गुण में दोष का सेवन करे वह **''दर्शन प्रतिसेवना कुशील''** कहलाता है।

3. चारित्र प्रतिसेवना कुशील– चारित्र की प्रवृत्तियों के पालन करने में, पालन कराने में और पालन करने वालों को तैयार करने में, किसी प्रकार का मूल गुण या उत्तर गुण का दोष लगावे, तथा चारित्र पालन का साधन शरीर है इससे फिर ज्यादा संयम गुणों की वृद्धि होगी, इस भावना से दोष सेवन करे, इस तरह चारित्र के निमित्त से दोष सेवन करने वाला **''चारित्र प्रतिसेवना कुशील''** निर्ग्रन्थ कहलाता है।

4. लिंग प्रतिसेवना कुशील– लिंग के विषय में अर्थात् वेष भूषा के सम्बन्ध से तथा साधुलिंग के आवश्यक उपकरण वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि है उनके निमित से दोष लगावे तथा लिंग सम्बन्धी किसी प्रकार की भगवदाज्ञा का उल्लंघन करे वह **''लिंग प्रतिसेवना कुशील''** निर्ग्रन्थ कहलाता है।

5. यथा सूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील– यह पांचवां भेद सभी नियंठों में शेष बचे हुए विषय को संग्रह करने की अपेक्षा कहा गया है। अर्थात् पूर्व के चार भेदों में जिन प्रवृतियों, अवस्थाओं का समावेश नहीं हो ऐसी उन नियंठे के दर्जे की शेष अवस्थाओं को कहने वाला यह पांचवां भेद सूत्र में कहा गया है।

पौद्गलिक सुख की लालसा से, इच्छा पूर्ति के लिये कष्ट सहन नहीं कर सकने से, अपनी बात रखने के लिये, मान-कषाय आदि के पोषण के लिये, क्षेत्र या श्रावक आदि रूप परिग्रहवृति की भावना से दूसरों के लिहाज दबाव से, अशुद्ध समझ से, जैसे कि **''उपकार होगा''** इत्यादि से मूलगुण या उत्तरगुण में दोष लगावे, भगवदाज्ञा से विपरीत प्रवृत्ति करे, वह यथासूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील **''निर्ग्रन्थ कहलाता है तथा जो साधु''** ''मकान-पाट, पानी पात्र आदि में आधाकर्मी या क्रीत आदि दोष लगते ही है '' ऐसी मनोवृति रखते हुए इन पदार्थों की गवेषणा और उपभोग करता है, इसके अतिरिक्त पूर्ण शुद्ध संयम का पालन करता है तो भी वह **''यथासूक्ष्म प्रतिसेवना कुशील''** कहलाता है।

तुलनात्मक परिचय– ये तीनों नियंठे संयम ग्रहण करने के समय नहीं आते हैं। ये तीनों प्रतिसेवी नियंठे हैं अर्थात् इनका संयम शुद्ध नहीं होता है। इन तीनों नियंठों में परिणाम-लेश्या तीन शुभ ही रहती है। जबकि कषाय कुशील नियंठे में शुभ अशुभ 6 ही लेश्या में संयम भाव टिकता है। परन्तु इन तीनों नियंठों के यदि कभी अशुभ लेश्या आ जाय तो नियंठा तत्काल असंयम में परिवर्तन हो जाता है।

पुलाक नियंठा वाला मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगावे तो भी उसके संयम रहता है किन्तु अंतर्मुहूर्त बाद तक दोष अवस्था रहे तो संयम नहीं रहता है।

बकुश नियंठा सिर्फ उत्तर गुण के दोष तक में जीवन भर रह सकता है परन्तु इसके उत्तर गुण के दोषों की भी जो सीमा है उसका उल्लंघन कर जाय तो वह असंयम में चला जाता है। क्योंकि यह नियंठा शिथिलाचार प्रवृत्ति रूप होता है अतः दोष लगाने में कोई कारण, परिस्थिति, अशक्यता, लाचारी, खेद आदि की मुख्यता न होने से इसमें सूक्ष्म दोषों तक ही संयम टिक सकता है, दोष की सीमा बढ़ने पर असंयम आ जाता है। अतः केवल उत्तरगुण प्रतिसेवना में ही यह नियंठा टिकता है।

एक दृष्टांत– जिस प्रकार पानी की बड़ी कोठी या टंकी का मालिक यदि लापरवाह वृति वाला है और उसमें बारीक तराड़े हो जाय, पानी निरंतर निकले तो भी बहुत समय तक काम चल सकता है, ठीक कराने का ध्यान नहीं कर तो भी पानी संरक्षण और वितरण का कार्य बंद नहीं होता है। परन्तु यदि वे तराड़े चौड़ी हो जाने पर भी लापरवाही चलावे तो पानी ज्यादा निकल जायेगा और सारी व्यवस्था बिगड़ जाएगी। इसी तरह बकुश के दोष की तराड़े बड़ी होने लग जाय तो संयम अवस्था खराब होकर असंयम हो जायेगा।

प्रतिसेवना कुशील नियंठा, मूल गुण और उत्तर गुण दोनों तरह के अमुक सीमा के दोष सेवन तक जीवन भर भी रह सकता है। इसमें शिथिलता और लापरवाही न होकर कोई कारण दशा की मुख्यता होती है। परिस्थिति, लाचारी, अशक्यता अथवा दोष का खेद खटक मन में रहने से बकुश की अपेक्षा कुछ बड़े (सीमा के) दोषों के सेवन में भी इसका संयम टिक सकता है। इस नियंठे वाला दोष प्रसंग के समाप्त होते ही शुद्धि की भावना रखता है और शुद्धि करता है। फिर भी कभी कोई प्रसंग, परिस्थिति, लंबे समय के लिये आ जाय या आजीवन के लिये भी आ जाय तो भी इसकी सीमा का दोष होने पर यह नियंठा जीवन भर भी रह सकता है।

इसके लिये छिद्र वाली टंकी का दृष्टांत समझना अर्थात् उसमें बोर मोसंबी आदि जितने बड़े छिद्र हो जाय और उसकी साधन जुटाकर ठीक करे तब तक कुछ समय लग सकता है और फिर छिद्र बंद कर देने से टंकी पुनः व्यवस्थित हो जाती है अथवा उस टंकी में खस-खस जितने अत्यंत छोटे कुछ छिद्र हो जाय और ठीक नहीं करे तो भी लंबे समय तक काम चल सकता है। क्योंकि उन टंकियों में पानी के आवक की अपेक्षा छोटे-छोटे छिद्रों से निकलने वाला पानी नगण्य हो जाता है। उसी तरह प्रतिसेवना नियंठे में अन्य ज्ञान दर्शन चरित्र की बहुत पुष्टि चालू रहे तो इसके ये कुछ दोष सेवन नगण्य होकर संयम रह जाता है।

अतः संयम में किसी भी प्रकार का छोटा या बड़ा दोष लगाने वालों को इतनी सावधानी रखने की आवश्यकता है कि उस दोष के अतिरिक्त तप संयम ज्ञान आदि की शुद्ध आराधना रखे, प्ररूपणा श्रद्धा शुद्ध रखे, भावों की पूर्ण शुद्धि रखे, किसी के प्रति मलीन विचार न हो। लेश्याओं के स्वरूप को समझ कर तीन अशुभ लेश्याओं को किंचित भी नहीं आने दे, दोष का दर्जा आगे न बढ़ पावे यह सदा ध्यान रखे, शुद्धि करने की भावना और खेद रखे तो वह नियंठे के दर्जे में रह सकता हैं, अन्यथा इन सावधानियों के न रहने पर वह असंयम में पहुंच जाता है।

क्रमिक अपेक्षा से तो बकुश से प्रतिसेवना नियंठा ऊंचा होता है तथा पुलाक से बकुश के चरित्र पजवे अनंत गुण अधिक है और बकुश के उत्कृष्ट पज्जवों से प्रतिसेवना कुशील के उत्कृष्ट पज्जवे अनंतगुणे हैं। और अन्य अपेक्षा से दोनों आपस में ''**छट्ठाणवडिया**'' होने से व्यक्तिगत कोई बकुश किसी प्रतिसेवना कुशील से ऊंचे दर्जें में भी हो सकता है।

इन दोनों नियंठों के असंयम में पहुंचने रूप खतरे की स्थिति सदा बनी रहती है। लेश्या अशुभ आ जाय या संयम पर्यव की वृद्धि बराबर न होवे या पुलाक के उत्कृष्ट चरित्र पजवों से अनंत गुण अधिक संयम पर्यव न रहे तो भी असंयम दशा आ जाती है। दोष की प्रवृति सीमा के क्षम्य दोष से आगे बढ़ जावे तो भी असंयम में चला जाता है।

जीव को प्रारम्भ में एक बार तो कषाय कुशील नियंठा आने पर ही फिर ये दोनों नियंठे आ सकते हैं। इसके बाद में इन दोनों का असंयम में सीधे आना जाना हो सकता है। तथा इन दोनों नियंठों का आपस में भी आना-जाना छट्ठे-सातवें गुणस्थानवत् चालू रहता है। सावधानियां बराबर रहे तो इन नियंठों वाले असंयम में नहीं जाते हैं।

दोष का दर्जा सूक्ष्म उत्तरगुण तक रहे तो शिथिल मानस में बकुश नियंठा रह जाता है, और शिथिल मानस के बिना परिस्थिति या आवश्यकता से सीमित मूल गुण या उत्तर गुण के दोष तक में ''**प्रतिसेवना कुशील नियंठा**'' रह जाता है।

बकुश के दोष के दर्जे छोटे (सूक्ष्म) होने से शिथिलाचारता टिकती है तो प्रतिसेवना के दोष के दर्जे उससे आगे के बड़े होने से शिथिलाचारता अक्षम्य होने से संयम नहीं टिक सकता है तो पुल्लाक में आवेश की तीव्रता आदि कारणों से उत्तर गुण दोष हो या मूल गुण दोष हो, अंतमुहूर्त से ज्यादा संयम नहीं रह सकता है।

दोष सेवन होते हुए भी ये तीनों नियंठे अपनी सीमा में हो तो क्षम्य है और आगमकार उन्हें निर्ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अतः वंदनीय है। वैमानिक के सिवाय किसी भी गति में नहीं जाते हैं। सीमित दोष के सिवाय संपूर्ण ज्ञान दर्शन चरित्र की आराधना में और भगवद आज्ञा में सावधान रहने से जीवन भर भी वे निर्ग्रन्थ दशा में रह सकते हैं। खतरों से सावधानी नहीं रखे तो उनके दोष अक्षम्य हो जाने पर वे भाव से असंयम में पहुंच जाते हैं।

पुलाक के संयम पर्यव अत्यधिक ह्रास होने में मशक के मुख खोलने का दृष्टांत ठीक घटित होता है। बकुश के संयम पर्यव कम होने में पानी की टंकी में तराड़े पड़ने का दृष्टांत ठीक लागू पड़ता है और प्रतिसेवना कुशील के लिए पानी की कोठी में छिद्र होने का दृष्टान्त ठीक घटित होता है और तीनों दृष्टांतों से इनका स्वरूप सरलतापूर्वक समझ में आ जाता है। टंकी के उपर के मुख से पानी भरा जाता है वैसे ही बकुश प्रतिसेवना में संयम पर्यव रूप पानी भरता रहता है साथ ही थोड़ा निकलता रहता है। मशक में नीचे के मुख से पानी शीघ्र निकल जाता है और ऊपर के मुख से पुनः भर दिया जाता है। वैसे ही पुलाक में शीघ्र संयम पर्यव खाली होते हैं और कुछ शेष रहने तक में वापिस कषाय कुशील में आकर संयम पर्यव का बढ़ना चालू हो जाता है।

कषाय कुशील नियंठा– संयम ग्रहण के प्रारम्भ में प्रत्येक जीव को यही नियंठा आता है। इस नियंठे वाला संयम में किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगाता है। कोई भी दोष लगाने पर यह नियंठा नहीं रहता है। यदि संयम ग्रहण करते समय से ही कोई मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने वाला है तो उसको यह नियंठा प्रारम्भ से ही नहीं आता है और इस नियंठे के आए बिना अन्य कोई भी नियंठा नहीं आता है। अतः वैसा साधक प्रारम्भ से ही संयम रहित वेष मात्र का साधु बनता है।

यह कषाय कुशील निर्ग्रन्थ महाव्रत, समिति, गुप्ति, संयमाचार में किंचित भी अतिचार या अनाचार का सेवन नहीं करता है। इस नियंठे में केवल सीमित दर्जे के क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट हो जाते हैं। अर्थात् संज्वलन के कषाय का उदय अप्रकट या कभी शारणा वारणा या अन्य प्रसंग से प्रगट रूप में भी हो जाता है।

वह कषाय, कषाय तक ही सीमित रहता है, महाव्रत समिति आदि के दोष में नहीं पहुंचता है तथा संज्वलन की सीमा का भी उल्लंघन नहीं करता है। सीमा यह है कि कषाय आने के समय वह मंद या तेज कैसा भी दिखे पर ज्यादा समय नहीं टिकता है किन्तु पानी की लकीर के मिट जाने के समान शीघ्र शांत हो जाता है। पानी की लकीर बारीक भी हो सकती व विशाल भी हो सकती परन्तु उसकी विशेषता यही है कि वह तुरंत मिटती है। उसी तरह दिखने में कषाय उग्र या मंद कैसा भी दिखे किन्तु जल्दी ही दिमाग शांत हो जाये, कषाय अवस्था हट जावे, बस यही संज्वलनता की पहचान है।

इस नियंठे में (6-7-8-9-10) ये पांच गुणस्थान हो सकते हैं, छठे के सिवाय तो आगे के अप्रमत्त गुणस्थानों में प्रकट कषाय भी नहीं होती किन्तु अप्रकट उदय चालू होने से वे भी कषाय कुशील निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। बकुश प्रतिसेवना नियंठे में गुणस्थान दो होते हैं छठ्ठा और सातवां। पुलाक में केवल छठ्ठा गुणस्थान ही होता है।

कई दोष दोष होते हुए भी क्षम्य दर्जे के होते हैं उनसे इस नियंठे में बाधा नहीं आती। यथा- अनजान से दोष युक्त आहार पानी खाने-पीने में आ गया हो, रास्ते में वर्षा आ गई हो, दोष लगाने वाले की सेवा की हो या उससे सम्बन्ध रखा गया हो, इत्यादि कुछ अनजानता और परिस्थितियों के दोष नगण्य हो जाते हैं और वहां यह नियंठा रह भी सकता है। उसके सिवाय अपने-अपने दर्जे के दोष से बकुश प्रतिसेवना नियंठा या असंयम आ जाता है।

इस नियंठे के भी पांच प्रकार, निमित्त अपेक्षा से कहे गये हैं।

1. ज्ञान कषाय कुशील– ज्ञान सीखने में, सीखाने में प्रेरणा या प्रचार करने आदि किसी भी प्रसंग से संज्वलन के उदय से प्रमत्त दशा में प्रकट रूप से संज्वलन की कषाय अवस्था आ जाय वह 'ज्ञान कषाय कुशील' कहलाता है।

2. दर्शन कषाय कुशील– दर्शन श्रद्धा के विषयों को समझाने समझने व शुद्ध श्रद्धा के प्रेरणा प्ररूपणा में, किसी प्रसंग में संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रकट रुप से संज्वलन कषाय की अवस्था आ जाय, वह "**दर्शन कषाय कुशील**" कहलाता है।

3. चारित्र कषाय कुशील– चरित्र की प्रवृत्ति या सेवा कार्य करने में, कराने में इत्यादि चरित्र विधि के नियमों के निमित्त से, किसी प्रसंग में, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रकट रूप से, संज्वलन कषाय की अवस्था आ जाय, वह "**चारित्र कषाय कुशील**" कहलाता है।

4. लिंग कषाय कुशील– शुद्ध लिंग वेश भूषा से खुद रहने में, दूसरों को रखने में इत्यादि लिंग के सम्बन्ध में या उसके उपकरणों के सम्बन्ध में, किसी प्रसंग से, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में, प्रकट रूप से संज्वलन कषाय की अवस्था आ जाय, वह "**लिंग कषाय कुशील**" कहलाता है।

5. यथासूक्ष्म कषाय कुशील– परिशेष विषय की अपेक्षा शास्त्रकार यह पांचवां भेद करते हैं। अतः जिनका समावेश चार भेद में नहीं हो सकता वे इस भेद में ग्रहित हो जाते हैं। तद्नुसार जिनको किसी भी निमित्त से, प्रकट कषाय दशा न हो, केवल उदय मात्र से अप्रकट कषाय होने से छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान वाले और 7-8-9-10 वें अप्रमत्त गुणस्थानों वाले सभी "**यथासूक्ष्म कषाय कुशील**" कहलाते हैं। तथा किसी प्रकार के छोटे बड़े अनुकूल प्रतिकूल परीषह उपसर्ग सहन नहीं होने से, खान-पान, रहन-सहन में अपने अनुकूल प्रवृति नहीं होने से, अपनी इच्छा या आज्ञा से विपरीत कार्य होने से, साथी के निमित्तों से, किसी प्रसंग में, संज्वलन के उदय से, प्रमत्त दशा में प्रकट रूप से संज्वलन कषाय अवस्था आ जाय, वह भी "**यथा सूक्ष्म कषाय कुशील**" कहलाता है।

इस नियंठे का कषाय संज्वलन दशा से आगे बढ़ जाय या उस कषाय के कारण विनय, विवेक, संयम प्रवृतियों में, समिति आदि में, दोष की स्थिति हो जाय तो यह कषाय कुशील नियंठा नहीं रह सकता, वह अन्य नियंठों में या असंयम में परिवर्तित हो जाता है।

(1) बकुश (2) प्रतिसेवना (3) कषाय कुशील ।

5. निर्ग्रन्थ नियंठा- यह नियंठा 11 वें 12 वें गुणस्थान में होता है। इसमें कोई प्रकार का दोष सेवन या कषाय उदय कुछ भी नहीं होता। अकषाय दशा होने से वीतराग कहलाते हैं और ज्ञानावरणीय आदि का क्षय न होने से व उदय होने से छद्मस्थ कहलाते हैं। चार नियंठों के 5-5 भेद की शैली का अनुकरण करते हुए इसके भी पांच भेद किये हैं परंतु भेद बनने का कोई निमित्त प्रतिसेवना और कषाय तो यहां नहीं रहे हैं। किसी के कषाय पूर्ण उपशांत है, किसी के पूर्ण क्षय है। किन्तु यह नियंठा अशास्वत है, इसलिये उस अपेक्षा को लेकर इसके पांच भेद किये हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. किसी समय एक भी निर्ग्रन्थ लोक में नहीं होते हैं और होते हैं तो किसी विवक्षित समय में सभी सिर्फ प्रथम समयवर्ती होते हैं। 2. किसी विवक्षित समय में सभी सिर्फ अप्रथम समयवर्ती होते हैं। अथवा 3. किसी विवक्षित समय में भी सभी केवल चरम समयवर्ती ही होते हैं। 4, किसी विवक्षित समय में सभी केवल अचरम समयवर्ती ही होते हैं। 5. किसी विवक्षित समय में द्विसंयोगी आदि भंग से भी होते हैं। इस तरह पांच भेदों का अर्थ समझना चाहिए। पांच की संख्या मिलाने की शैली के अतिरिक्त व्यक्ति की अपेक्षा भी इसके अनेक प्रकार से दो दो भेद हो सकते हैं और सरलता से समझ में भी आ सकते हैं यथा- 1. उपशांत कषाय निर्ग्रन्थ और 2. क्षीण कषाय निर्ग्रन्थ अथवा 1. प्रथम समय का निर्ग्रन्थ और 2. अप्रथम समय का निर्ग्रन्थ ऐसे ही, 1. चरम समय का निर्ग्रन्थ और 2. अचरम समय का निर्ग्रन्थ। इस प्रकार व्यक्तिगत अपेक्षा से तो दो दो भेद ही बन सकते हैं। सूत्रोक्त पांच भेद तो अशाश्वतता को ध्यान में लेकर संसार के समस्त जीवों की अपेक्षा है जो उपरोक्त तरीके से बन भी जाते हैं और समझ में भी आ जाते हैं। वे सूत्रोक्त पांच भेद इस प्रकार हैं- 1. प्रथम समयवर्ती निर्ग्रन्थ, 2. अप्रथम समयवर्ती निर्ग्रन्थ, 3. चरम समयवर्ती निर्ग्रन्थ, 4. अचरम समयवर्ती निर्ग्रन्थ, 5.यथा सूक्ष्म निर्ग्रन्थ अर्थात् द्विसंयोगी आदि अवस्थाएं।

6. स्नातक नियंठा- चार घाती कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने पर यह नियंठा आता है और केवलज्ञान, केवलदर्शन युक्त दो गुणस्थान (13-14) में पाया जाता है। यहां पर भेद बनने में कोई दोष का निमित्त भी नहीं है, कषाय का निमित्त भी नहीं है, तथा अशाश्वतता भी नहीं है अर्थात् यह नियंठा शाश्वत है। इस नियंठे वालों में एक ही संयम स्थान समान रूप से होता है आत्मगुण, ज्ञान, दर्शन भी सब का समान होता है। अतः भेद बनने में कोई भी कारण नहीं है। फिर भी 5 की संख्या शैली का अनुसरण करते हुए शास्त्रकार ने 5 प्रकार कहे हैं, जो अलग अलग पांच गुणों के संग्राहक रूप में ही है किन्तु भेद रूप नहीं है यथा-

1. अछवि- योग निरोध अवस्था में काय योग के अभाव में यह गुण प्रगट होता है।

2. असबले- सम्पूर्ण दोष रहित संयम अवस्था ही प्रारम्भ से होती है।

3. अकम्मंसे- चार घाती कर्म से रहित अवस्था प्रारम्भ से होती है।

4. संशुद्धणाणदंसण धरे- प्रारम्भ से विशुद्ध ज्ञान दर्शन के धारी होते हैं।

5. अपरिश्रावी- इस निर्ग्रन्थ के योग निरोध करने के बाद जब साता वेदनीय का बंध भी रूक जाता है तब यह 'अक्रिया अवस्था' प्राप्त होती है।

इस तरह भगवती सूत्र श. 25 उ. 6 के आधार से चिंतन पूर्वक यह छः निर्ग्रन्थों का व्याख्यान किया गया है। भगवती के उस वर्णन में यह भी बताया गया है कि बकुश और प्रतिसेवना दोनों दोष लगाने वाले नियंठे लोक में शाश्वत रहते हैं एवं कम से कम भी अनेक सौ करोड़ सदा मिलते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि महाविदेह क्षेत्र में भी मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले निर्ग्रन्थ कम से कम अनेक सौ करोड़ सदा शास्वत मिलते हैं जिन्हें भगवती आगम निर्ग्रन्थ रूप में स्वीकार करता है और जो निर्ग्रन्थ होते हैं। उनमें छट्ठा गुणस्थान या उससे ऊपर के कोई भी गुणस्थान होते हैं। अतः वे सभी मूल गुण उत्तरगुण के दोषी भी वंदनीय निर्ग्रन्थ है। यदि वे उपरोक्त बकुश प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ की सूक्ष्म सभी परिभाषाओं में सत्य सिद्ध हो सके। अतः प्रत्येक साधक को इस विषद विवेचन से सही समझ बना कर आत्म निरीक्षण करना चाहिए एवं सही प्ररूपण ही करना चाहिए। साथ ही संयम आराधना करनी हो तो इस विशद विवेचन में सूचित सावधानियों का सतर्कता से आचरण करना चाहिए।

।। नियंठा स्वरूप समाप्त ।।

विषयानुक्रमणिका

संघ व्यवस्था में अध्ययन-अध्यापन

1. साधु-साध्वी की अध्ययन प्रणाली।
2. वाचना या शिक्षा के अयोग्य।
3. योग्य अध्ययन के अभाव में चातुर्मास में विहार।
4. आचारांग निशीथ का कंठस्थ होना अत्यावश्यक।
5. आगमों का अध्ययन क्रम।
6. वाचना देने के क्रम व्युत्क्रम की विचारणा।
7. आगम संख्या निर्णय।
8. स्वाध्याय की अवश्य करणीयता एवं प्रायश्चित्त।
9. स्वाध्याय की प्रमुखता में एक भ्रांति का निवारण।
10. अस्वाध्याय के आठ दिन और अमांत मान्यता की विचारणा।
11. मासिक धर्म के अस्वाध्याय का विवेक व सत्यावबोध।
12. अस्वाध्याय का मर्म एवं विवेक।

दीक्षा-दीक्षित एवं दीक्षा गुरु

13. बड़ी दीक्षा देने सम्बन्धी विधान एवं प्रायश्चित्त।
14. दीक्षार्थी एवं दीक्षा गुरु के योग्यायोग्य का स्पष्टीकरण।

प्रकीर्ण परिशिष्ट

15. चैत्य शब्द का अर्थ।
16. अनेक पात्र की कल्पनीयता।
17. साधु-साध्वी की परस्पर सेवा आलोचना।
18. गीतार्थ बहुश्रुत के बिना रहने का निषेध।
19. सम्भोग विच्छेद कब?
20. वृद्धावस्था का एकल विहार।
21. अकेले भिक्षु का उपाश्रय।
22. साध्वी की स्वतन्त्र गोचरी।
23. गोचरी गमन विवेक।
24. क्षमापना भाव।
25. चन्द्र प्रतिमाओं के विशिष्ट नियम।।
26. ऊणोदरी तप विश्लेषण।

छेद सूत्र
परिशिष्ट खण्ड-1
संघ व्यवस्था में अध्ययन-अध्यापन

1. साधु साध्वी की अध्ययन प्रणाली-

दीक्षा ग्रहण करते समय वैराग्य, क्षयोपशम आदि गुणों से सम्पन्न हो तो कोई भी आत्मा संयम धारण कर सकती है। उसे आगमज्ञान या जिनवाणी का विशाल अनुभव हो या न भी हो किन्तु संयम धारण करने के बाद आगम अध्ययन करना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक होता है। ऐसा आगम वर्णित अनेक जीवन चारित्रों से एवं आगम विधानों से स्पष्ट होता है। यदि किसी का क्षयोपशम अति मंद हो तो गुरु आज्ञा अनुसार किया जा सकता है।

बड़ी दीक्षा के पहले आवश्यक अध्ययन-

दीक्षा देने के बाद नव दीक्षित को दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों के द्वारा पांच महाव्रतों का एवं छः काया का सूक्ष्मतम ज्ञान, श्रद्धान एवं उनकी यतना करने की विधि का ज्ञान कराया जाता है। संयम की आवश्यक दैनिक क्रियाओं की विधि का भी सम्यग् बोध कराया जाता है।

दीक्षा के पूर्व यदि आवश्यक सूत्र का अध्ययन न किया हो तो अर्थ सहित उसका अध्ययन कराया जाता है एवं चिन्तन पूर्वक प्रतिक्रमण करना सिखाया जाता है। यह कार्य किसी एक प्रवर्त्तक या स्थविर के सुपुर्द किया जाता है।

इतने अध्ययन के पूर्ण होने के बाद ही उसे बड़ी दीक्षा दी जाती है।

बड़ी दीक्षा के बाद आवश्यक अध्ययन-

प्रारम्भिक अध्ययन के लिये उसे किसी योग्य प्रवर्त्तक के अधीनस्थ रखा जाता है जहां वह दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र एवं अन्य तत्त्व ज्ञान आदि का अध्ययन करता है एवं अनेक आत्म गुणों का विकास करता है।

इस अध्ययन के बाद योग्य बने साधुओं को उपाध्याय के सानिध्य में अंगसूत्र एवं छेद सूत्रों का अध्ययन कराया जाता है।

आचार्य उपाध्याय द्वारा अध्ययन-

उपाध्याय उन्हें सर्वप्रथम आचारांग सूत्र के ब्रह्मचर्य अध्ययन रुप प्रथम श्रुतस्कन्ध की वाचना देकर मूल पाठ को शुद्ध उच्चारण युक्त कंठस्थ कराते हैं एवं सामान्य शब्दार्थ भी कराते हैं। तदनन्तर सम्पूर्ण आचारांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र का अध्ययन कराते हैं।

इस अध्ययन के साथ ही आचार्य उन शिष्यों को अर्थ एवं विशेषार्थ युक्त वाचना देते हैं। इसके बाद उक्त विधि से आचार्य उपाध्याय सूत्रकृतांग सूत्र की वाचना देते हैं। फिर क्रमशः दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहार सूत्र की वाचना देते हैं। इसके बाद ठाणांग सूत्र, समवायांग सूत्र एवं भगवती सूत्र की वाचना देते हैं।

आगम अध्ययन का क्रम व्यवहार सूत्र उद्देशक 10 में दिया गया है। वहां पर ज्ञाता सूत्र आदि छः अंग सूत्रों का उल्लेख नहीं है तथापि क्रमशः उनका अध्ययन करना समझ लेना चाहिए, क्योंकि आगम में अनेक साधु-साध्वियों के लिये ग्यारह अंग सूत्रों के अध्ययन करने का वर्णन है।

शेष उपांग आदि सूत्रों की रचना, व्यवहार सूत्र की रचना के बाद में हुई है। अतः इस अध्ययन क्रम में तथा अन्य आगम में उनके अध्ययन करने का निर्देश नहीं किया गया है तथापि छेद सूत्र तक के अध्ययन कर लेने के बाद कभी भी उनका अध्ययन करना समझ लेना चाहिये।

अध्ययन का दीक्षा पर्याय से सम्बन्ध-

उपरोक्त अध्ययन के समय का निर्धारण भी व्यवहार सूत्र में किया है वह इस प्रकार है-

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक आचारांग निशीथ का अध्ययन पूर्ण कर लेना चाहिए। इसी तरह चार वर्ष की दीक्षा पर्याय तक सूत्रकृतांग, पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय तक तीन छेद सूत्र, आठ वर्ष तक ठाणांग-समवायांग एवं दस वर्ष तक की दीक्षा पर्याय में भगवती सूत्र का अध्ययन पूर्ण कर लेना चाहिए। ग्यारह से अठारह वर्ष की दीक्षा पर्याय तक दृष्टिवाद से उद्धृत अनेक अध्ययनों का ज्ञान किया जाता है एवं अन्त में उन्नीसवें वर्ष तक दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण किया जाता है और बीस वर्ष पूर्ण होने तक सर्व श्रुत का अध्ययन कार्य पूर्ण हो जाना चाहिये।

यहां यह भी अर्थ भ्रम होता है कि ''तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय होने के बाद ही आचारांग निशीथ का अध्ययन प्रारम्भ कराना चाहिये।'' किन्तु यह अर्थ आगम सम्मत नहीं है, क्योंकि अनेक भिक्षुओं के अल्प दीक्षा पर्याय में ही बारह अंगों के अध्ययन का वर्णन है। एवं तीन वर्ष वाले को उपाध्याय पद देने का व्यव, उ. 3 में विधान है और वहां उसका बहुश्रुत होना आवश्यक कहा गया है तथा कम से कम आचारांग निशीथ को कंठस्थ धारण करने वाला होना आवश्यक बताया है।

वैसे ही पांच वर्ष वाले को आचार्य पद देने के विधान के साथ उनका बहुश्रुत होना एवं कम से कम आचारांग, निशीथ, सूत्रकृतांग और तीन छेद सूत्र को कंठस्थ धारण करने वाला होना आवश्यक कहा गया है। अतः व्यव. उ. 10 की कही गई अध्ययन सूची के अनुसार उतने वर्ष तक तो वह अध्ययन कर ही लेना चाहिये उससे अधिक समय नहीं लगना चाहिये किन्तु कम समय में कर लेने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा ही उन सूत्रों का आशय समझना चाहिए।

वाचना सम्बन्धी प्रायश्चित्त-

यह सम्पूर्ण अध्ययन प्रणाली आचार्य उपाध्याय के द्वारा वाचना दी जाने की अपेक्षा ही कही गई है। आचार्य उपाध्याय से अदत्त वाचना को ग्रहण करने पर अर्थात् स्वतः अध्ययन करने पर निशीथ उ. 19 के अनुसार वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। स्वतः अध्ययन करने वाले का जो अनुमोदन करता है वह भी प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

जो आचार्य, उपाध्याय योग्य शिष्यों को यथायोग्य क्रम से प्राप्त वाचना नहीं देते हैं। तो वे पदवीधर भी निशीथ उद्देशक 19 के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

निशीथ सूत्र के 19 वें उद्देशक में वाचना सम्बन्धी अन्य भी कई प्रायश्चित्त विधान है। जिसकी सूची अगले प्रकरण में दी गई है। वे प्रायश्चित्त वाचना देने के लिये नियुक्त उपाध्याय या आचार्य को आते हैं।

आगम कंठस्थ प्रणाली-

व्यव, उ. 5 में कहा गया है कि स्थविर के सिवाय कोई भी साधु या साध्वी यदि प्रमाद से आचारांग निशीथ सूत्र को भूल जाए तो उन्हें कठोर दण्ड आता है अर्थात् वे जीवन भर कोई भी प्रमुख पद धारण नहीं कर सकते और कोई पद या प्रमुखता कर रहे हो तो उससे भी मुक्त कर दिये जाते हैं।

साध्वी को छेद सूत्र-

इस व्यव. उ. 5 के विधान में सूत्रों को कंठस्थ रखना आवश्यक बताया गया है तथा साध्वी को भी निशीथ सूत्र कंठस्थ होना आवश्यक कहा गया है।

अतः जो विद्वान यह कहते है कि साध्वी को छेद सूत्रों का अध्ययन नहीं करना चाहिये। वे स्पष्ट ही आगम विरुद्ध कथन करने के दोष के पात्र होते हैं।

आगम विपरीत प्ररुपणा या आदेश किसी भी बड़े आचार्य का हो तो भी स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकता है।

बृहत्कल्प-उद्देशक 4 सूत्र 10-11

2. वाचना के अयोग्य-

1. अविनीत- जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षाज्येष्ठ साधु आदि के आने जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार सम्मान आदि यथोचित विनय नहीं करता है, वह 'अविनीत' कहा गया है।

2. विकृति-प्रतिबद्ध- जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों के नहीं मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने में मन्द उद्यमी रहता है, वह 'विकृत प्रतिबद्ध' कहा गया है।

3. अव्यपशमित प्राभृत- अल्प अपराध करने पर जो अपराधी पर प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमा याचना कर लेने पर भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता रहता है, उसे 'अव्यपशमित प्राभृत' करते हैं।

ये तीन प्रकार के साधु सूत्र-वाचना, अर्थ वाचना और उभय वाचना के अयोग्य हैं, क्योंकि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना निष्फल तो जाता ही है प्रत्युत कभी कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध-दही आदि विकृतियों में आसक्त है, उसके हृदय में दी गई वाचना स्थिर नहीं रह सकती है। अतः उसे भी वाचना देना अयुक्त है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, किंचित भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोष प्रकट करता है, क्षमा मांग लेने पर भी बार-बार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना अयुक्त होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म में भी स्नेह

करना छोड़ देते हैं और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुबन्ध करता है। इसलिए उक्त तीनों ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनों की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं।

किन्तु जो विनय सम्पन्न है। दूध, दही आदि विगयों के सेवन में जिनकी आसक्ति नहीं है और जो क्षमाशील है, ऐसे शिष्यों को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनों की वाचना देना चाहिए, क्योंकि उनको दी गई वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिन शासन की प्रभावना करती है। सूत्रोक्त दोष वाला भिक्षु संयम आराधना के भी अयोग्य होता है। उसे दीक्षा भी नहीं दी जा सकती है दीक्षा देने के बाद इन अवगुणों के ज्ञात होने पर उसे वाचना के लिए उपाध्याय के पास नहीं रखना चाहिए किन्तु प्रवर्त्तक एवं स्थविर के नेतृत्व में अन्य अध्ययन शिक्षाएं एवं आचार विधी का ज्ञान कराना चाहिए। ऐसा करने पर यदि उसे उक्त योग्यता प्राप्त हो जाए तो वाचना के लिए उपाध्याय के पास रखा जा सकता है। योग्य न बनने पर वह सदाअगीतार्थ रहता है और दूसरों के अनुशासन में रहते हुए संयम का पालन करता है।

जो गच्छ प्रमुख इस सूत्रोक्त विधी का पालन न करते हुए योग्य-अयोग्य के निर्णय किए बिना सभी को इच्छित वाचना देते हैं- उपाध्याय आदि वाचना देने वाले की नियुक्ति नहीं करते हैं अथवा उनके प्रति विनय प्रतिपत्ति आदि के पालन की व्यवस्था भी नहीं करते हैं। तो इस प्रकार वाचना सम्बन्धी सूत्र-विधानों का यथार्थ पालन नहीं करने से वे गच्छ प्रमुख निशीथ उ. 19 के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। वे प्रायश्चित इस प्रकार हैंः-

1. आगमनिर्दिष्ट क्रम से वाचना न दे किन्तु स्वेच्छानुसार किसी भी सूत्र की वाचना दे या दिलवाए।

2. आचारांग सूत्र की वाचना दिए बिना छेद सूत्रों की वाचना दे या दिलवावे।

3. अविनीत या अयोग्य साधुओं को कालिक श्रुत की वाचना दे।

4. विनयवान् योग्य साधुओं को यथासमय वाचना देने का ध्यान न रखे।

5. विगयों का त्याग नहीं करने वाले एवं कलह को उपशान्त नहीं करने वाले को वाचना दे।

6. सोलह वर्ष से कम उम्र वाले को कालिक श्रुत (अंग सूत्र या छेद सूत्र) की वाचना दे।

7. समान योग्यता वाले साधुओं में से किसी को वाचना दे, किसी को न दे।

8. स्वगच्छ के या अन्य गच्छ के शिथिलाचारी साधु को वाचना दे।

9. मिथ्यामत से भावित गृहस्थ को वाचना दे या उसे वाचना लेने वालों में बिठावे तो उनको लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

गच्छ प्रमुखों को इन अध्ययन सम्बन्धी नियमों का यथार्थ रूप से पालन करना चाहिये। यदि पालन न हो तो उन्हें इनका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्वतः स्वीकार करना चाहिये।

बृहत्कल्प- उद्देशक 4 सूत्र 12-13

शिक्षा के अयोग्य-

1. जो शास्त्र की प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे अथवा यथार्थ प्रतिपादन किये जाने वाले तत्त्व के प्रति द्वेष रखे, उसे 'दुष्ट' कहते हैं।

2. **मूढ़-** गुण अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति को 'मूढ़' कहते हैं।

3. **व्युद्ग्राहित-** विपरीत श्रद्धा वाले अत्यन्त कदाग्रही पुरुष को 'व्युद्गाहित' कहते है।

ये तीनों ही प्रकार के साधु दुःसंज्ञाप्य हैं अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नहीं समझते हैं, इन्हें शिक्षा देने या समझाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः ये सूत्र वाचना के पूर्ण अयोग्य होते हैं।

किन्तु जो द्वेषभाव से रहित हैं, हित-अहित के विवेक से युक्त है और विपरीत श्रद्धा वाले या कदाग्रही नहीं हैं वे शिक्षा देने के योग्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही श्रुत एवं अर्थ की वाचना देनी चाहिए। क्योंकि ये प्रतिपादित तत्त्व को सरलता से या सुगमता से ग्रहण करते हैं।

व्यवहार उद्देशक 4 सू. 11-12

3. योग्य अध्ययन के अभाव में चातुर्मास में विहार-

विचरण या चातुर्मास करने वाले भिक्षुओं में एक कल्पाक अर्थात् सिंधाड़ा प्रमुख होना आवश्यक है। जिसको उद्देशक 3 सू. 1 में गणधारण करने वाला अर्थात् गणधर कहा गया है तथा उसे श्रुत एवं दीक्षापर्याय सम्पन्न होना आवश्यक कहा गया है।

अतः तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय और आचारांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला जघन्य बहुश्रुत गण धारण कर सकता है। शेष भिक्षु उसको प्रमुख मानकर उसकी आज्ञा में रहते हैं।

उस प्रमुख के सिवाय उस संघाटक में अन्य भी एक या अनेक संघाडा प्रमुख होने के योग्य हो सकते हैं अर्थात् वे तीन वर्ष से अधिक दीक्षापर्याय वाले एवं पर्याप्त श्रुत धारण करने वाले हो सकते है।

कभी एक प्रमुख के अतिरिक्त सभी साधु अगीतार्थ या नवदीक्षित ही हो सकते हैं। विचरण या चातुर्मास करने वाले संघाटक का प्रमुख भिक्षु यदि काल-धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओं में से रत्नाधिक भिक्षु प्रमुख पद स्वीकार करे। यदि वह श्रुत से सम्पन्न न हो तो अन्य योग्य को प्रमुख पद पर स्थापित करे।

यदि शेष रहे साधुओं में एक भी प्रमुख होने योग्य न हो तो उन्हें चातुर्मास रहना या विचरण करना नहीं कल्पता है किन्तु जिस दिशा में अन्य योग्य साधर्मिक भिक्षु निकट हो उनके सानिध्य में पहुंच जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है तथा कहीं अधिक रुकने की स्वीकृति दे दी हो तो भी वहां से विहार करना आवश्यक हो जाता है।

जब तक अन्य साधर्मिक भिक्षुओं के पास न पहुंचे तब तक मार्ग में उन्हें एक दिन की विश्रांति लेने के अतिरिक्त कहीं पर भी अधिक रुकना नहीं कल्पता है।

किसी को कोई शारीरिक व्याधि हो जाय तो उपचार के लिए अधिक ठहरा जा सकता है। व्याधि समाप्त होने के बाद वैद्य आदि के कहने से 1-2 दिन और भी ठहर सकता है। स्वस्थ होने के बाद दो दिन से अधिक ठहरने पर उसे यथा योग्य तप या छेद का प्रायश्चित्त आता है।

इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय का सार यह है कि दीक्षा लेने के बाद योग्य शिष्यों को आवश्यक श्रुत ज्ञान का अध्ययन (आचार प्रकल्प आदि को) शीघ्र अर्थ सहित कंठस्थ धारण कर लेना चाहिये। क्योंकि उसके अपूर्ण रहने पर वह भिक्षुगण (संघाटक) का प्रमुख नहीं हो सकता एवं प्रमुख के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर चातुर्मास में भी उसे विहार करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यदि उक्त श्रुत पूर्ण कर लिया हो तो वह भिक्षु कभी भी सूत्रोक्त प्रमुख पद धारण कर सकता है। स्वतन्त्र विचरण एवं चातुर्मास भी कर सकता है।

इसलिये प्रत्येक साधु-साध्वी को दीक्षा के बाद कुछ वर्षों तक आगमोक्त क्रम से श्रुत अध्ययन कण्ठस्थ करने का प्रमुख लक्ष्य रखना चाहिए।

व्यवहार - उद्देशक 5 सूत्र 15-16

4. आचारांग - निशीथ का कंठस्थ होना अत्यावश्यक-

तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र में तीन वर्ष की. दीक्षा पर्याय वाले श्रमण को ' आचारप्रकल्प' कण्ठस्थ धारण करने का कहा गया है और पांचवे उद्देशक के इन सूत्रों में प्रत्येक श्रमण- श्रमणी को आचार प्रकल्प कण्ठस्थ रखना आवश्यक कहा गया है। साथ ही गच्छ के प्रमुख श्रमणों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समय-समय पर यह जांच भी करते रहें कि किसी श्रमण को आचारप्रकल्प विस्मृत तो नहीं हो रहा है? यदि विस्मृत हुआ है तो उसके कारण की जानकारी करनी चाहिए।

सूत्र में यह भी कहा गया है कि आचारप्रकल्प का भूलने वाला श्रमण या श्रमणी यदि नवदीक्षित है, बालवय या तरूणवय वाला है तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। वह प्रायश्चित्त दो प्रकार का हैं यथा-

(1) सकारण भूलने पर पुनः कण्ठस्थ करने तक वह किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता है तथा सिंघाड़ा प्रमुख बन कर विचरण भी नहीं कर सकता।

(2) प्रमादवश भूल जाय तो वह जीवन पर्यन्त किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा सिंघाड़ा-प्रमुख बनकर विचरण भी नहीं कर सकता।

'आचारप्रकल्प' से यहां आचारांग और निशीथ सूत्र का निर्देश किया गया है।

उद्देशक तीन और पांच के इन सूत्र-विधानों में आचारप्रकल्प का जो महत्व बताया गया है उसे लक्ष्य में रखकर एवं अनुप्रेक्षा करके यदि उसकी रचना के विषय में निर्णय किया जाय तो सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि इस व्यवहार सूत्र के रचयिता स्थविर प्रथम भद्रबाहु स्वामी ने या उनके बाद के किसी स्थविर ने 'आचारप्रकल्प' की रचना नहीं की है किन्तु यह गणधर रचित है और प्रारम्भ से ही जिन शासन के सभी साधु-साध्वियों को आवश्यक रूप में अध्ययन कराया जाने वाला शास्त्र है। वर्तमान में यह शास्त्र आचारांग निशीथ उभय सूत्रों का सूचक है।

दशाश्रुतस्कंध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही स्थविर श्री प्राचीन भद्रबाहु स्वामी को वंदन-नमस्कार करते हुए उन्हें 'तीन छेदसूत्रों (दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र) की रचना करने वाले' ऐसे विशेषण से विभूषित किया है और श्री भद्रबाहु स्वामी ने अपने द्वारा रचित (निर्यूढ़) इस व्यवहारसूत्र में सौलह बार आचार-प्रकल्प का निर्देश करते हुए अनेक प्रकार के विधान किए हैं।

इतना होते हुए भी ऐतिहासिक भ्रांतियों के कारण वर्तमान के इतिहासज्ञ इस सूत्र के रचनाकार और उनके समय के विषय में अपने संदिग्ध विचार प्रस्तुत करते हैं, यह अत्यन्त खेद का विषय है। इस भ्रम का कारण यह है कि हमारे चिंतक इतिहास एवं ग्रंथों के पृष्ठों को पलटते है आगम के सूत्रों पर परामर्श नहीं करते हैं।

आचारप्रकल्प सम्बन्धी व्यवहार सूत्र के विधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन व्यवस्था में आचारांग-निशीथ सूत्र को अर्थ-परमार्थ सहित कंठस्थ करना प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा उसे कंठस्थ रखना भी आवश्यक है। जो कोई भी श्रमण या श्रमणी इसके अध्ययन की योग्यता वाले नहीं होते हैं या इसका अध्ययन नहीं करते हैं अथवा अध्ययन करने के बाद उसका स्वाध्याय न करके विस्मृत कर देते हैं, वे श्रमण या श्रमणी जिन शासन के किसी भी पद को ग्रहण करने के या पूर्व ग्रहीत को धारण करने के अयोग्य होते हैं अर्थात् उन्हें कोई भी पद नहीं दिया जा सकता है और पहले से किसी पद पर हो तो उन्हें पद से हटा दिया जाता है। वे सिंघाड़ा प्रमुख बनकर भी विचरण करने का अधिकार नहीं रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की गण व्युत्सर्ग साधना अर्थात् एकल विहार, संभोग प्रत्याख्यान आदि साधानाएं भी वे नहीं कर सकते हैं।

आचारप्रकल्प का धारक भिक्षु ही जघन्य गीतार्थ बहुश्रुत कहा गया है। वही स्वतन्त्र विहार या गोचरी के योग्य होता है। अबहुश्रुत अगीतार्थ की गवेषणा से प्राप्त पदार्थों के उपयोग करने का भी भाष्य में निषेध किया गया है एवं प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्त्तमान में पूर्वो का ज्ञान विच्छेद मानना तो आगमसम्मत है किन्तु अन्य सूत्रों का विच्छेद होना नहीं कहा जा सकता है।

अतः क्षेत्र या काल की ओट लेकर इन व्यवहार सूत्रकथित विधानों के आचरण का विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वर्त्तमान में दीक्षित होने वाले अनेक नवयुवक श्रमण-श्रमणियों को यदि योग्य अध्यापन कराने वाले मिले तो वे तीन वर्ष में इतना अध्ययन कंठस्थ बड़ी सरलता से कर सकते हैं।

अतः वर्त्तमान के पदवीधरों और गच्छ प्रमुखों को अवश्य ही इस ओर ध्यान देकर आगम की अध्ययन प्रणाली को अविछिन्न बनाये रखना चाहिए अर्थात् प्रत्येक नवदीक्षित युवक सन्त-सती को उचित व्यवस्था के साथ कम से कम तीन या पांच-दस वर्ष तक आगमअध्ययन एवं आत्म जागृति युक्त संयम-पालन में पूर्ण योग्य बनाना चाहिए। यह प्रत्येक पदवीधर का, गच्छ प्रमुख का और गुरु का परम कर्तव्य है। ऐसा करने से ही वे शिष्यों के उपकारक हो सकते हैं।

दशा. द. 5 में भी आचार्यादि के लिये शिष्य के प्रति ऐसे ही कर्तव्यों का कथन करके उनके ऋण से उऋण होना कहा गया है, जिसका विवेचन वहीं पर देखें। वर्त्तमान में ऐसा न करने वाले ये अनेक पदवीधर क्या अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं? एवं जिनशासन के प्रति कृतज्ञ है? अथवा पदों के द्वारा केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करके आत्म सन्तुष्टि करने वाले हैं? यह विचारणीय विषय है।

इस विषय में गहरा विचार करके जिन शासन के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रखने वाले आत्मार्थी साधकों को आगमानुसार अध्ययन अध्यापन एवं पद प्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए एवं विकृत परम्परा को आगमानुसार बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

वर्त्तमान में यह मान्यता भी प्रचलित है कि- 'आचारांग एवं निशीथ सूत्र का यदि गुरुमुख से एक बार वाचनश्रवण कर लिया तो प्रमुख बनकर विचरण या पदवी धारण किया जा सकता है और ऐसा करने पर सूत्राज्ञा का पालन हो जाता है।' किन्तु इन दो सूत्रों में किये गए विधानों को गहराई से समझने पर उपर्युक्त धारणा केवल स्वमतिकल्पित कल्पना मात्र सिद्ध होती है। क्योंकि इन सूत्रों में आचारप्रकल्प के विस्मृत होने आदि के विधान से प्रत्येक साधु- साध्वी को कंठस्थ धारण करना ही सिद्ध होता है।

कई आचार्यों की यह भी मान्यता है कि- 'साध्वी को निशीथ सूत्र का अध्ययन-अध्यापन आर्यरक्षित के द्वारा निषिद्ध है', यह भी आगम-विपरीत कल्पना है। क्योंकि प्रस्तुत सोहलवें सूत्र में साध्वी को आचारप्रकल्प के कंठस्थ रखने का स्पष्ट विधान है। आगमविधानों से विपरीत आज्ञा देकर परम्परा चलाने का अधिकार किसी भी आचार्य को नहीं होता है और साढ़े नवपूर्वी आर्य रक्षित स्वामी ऐसी आज्ञा दे भी नहीं सकते है। फिर भी इतिहास के नाम से ऐसी कई असंगत कल्पनाएँ प्रचलित हो जाती है। सूज्ञजनों को कल्पित कल्पनाओं से सावधान रहकर सूत्राज्ञा को प्रमुखता देनी चाहिए।

व्यवहार - उद्देशक 10 सूत्र 22-37

5. आगमों का अध्ययन क्रम-

सूत्रोक्त यह अध्ययनक्रम इस सूत्र के रचियता श्री भद्रबाहु स्वामी के समय उपलब्ध सूत्रों के अनुसार है। उसके बाद में रचित एवं निर्यूढ़ सूत्रों का इस अध्ययनक्रम में उल्लेख नहीं है। अतः उववाई आदि 12 उपांग सूत्र एवं मूल सूत्रों के अध्ययनक्रम की यहां विवक्षा नहीं की गई है। फिर भी आचारशास्त्र के अध्ययन कर लेने पर अर्थात् छेद सूत्रों के अध्ययन के बाद और ठाणांग समवायांग भगवती सूत्र के अध्ययन के पहले या पीछे कभी भी उन शेष सूत्रों का अध्ययन करना समझ लेना चाहिए।

आवश्यक सूत्र का अध्ययन तो उपस्थापना के पूर्व ही किया जाता है तथा निशीथ उद्दे. 19 के भाष्य में आचारांग व निशीथ के पूर्व दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन करने का निर्देश किया गया है।

इन सूत्रों में जो तीन वर्ष पर्याय आदि का कथन किया गया है उसका अर्थ इस प्रकार हैः-

तीन वर्षों के दीक्षापर्याय में योग्य भिक्षु को कम से कम उन आगमों का अध्ययन कर लेना चाहिए या करा देना चाहिए। तीन वर्ष के बाद आचारांग निशीथ पढ़ाना ऐसा अर्थ करना असंगत है क्योंकि तीन वर्ष वाले को उपाध्याय पद देने के प्रकरण में कम से कम आचारांग निशीथ को कंठस्थ धारण करने वाला कहा गया है।

दस वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद में अध्ययन करने के लिए कहे गए सूत्रों में से प्रायः सभी सूत्र नंदीसूत्र की रचना के समय में कालिक श्रुत में उपलब्ध थे। किन्तु वर्त्तमान में उनमें से कोई भी सूत्र उपलब्ध नहीं है। केवल 'तेयनिसर्ग' नामक अध्ययन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक के रूप में उपलब्ध है।

ज्ञातासूत्र आदि अंगसूत्रों का प्रस्तुत अध्ययन क्रम में निर्देश नहीं किया गया है इसका कारण यह है कि इन सूत्रों में प्रायः धर्मकथा का वर्णन है जिनके क्रम की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। यथावसर कभी भी इनका अध्ययन किया या कराया जा सकता है।

प्रश्न व्याकरण में उपलब्ध आश्रव-संवर का वर्णन प्रारम्भ से गणधर रचित नहीं है किन्तु नंदी सूत्र की रचना के बाद में संकलित किया गया है।

इन सूत्रों में सूचित किये गये आगमों के नाम इस प्रकार है- (1-2) आचारांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र, (3) सूयगडांग सूत्र, (4-5-6) दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र और व्यवहार सूत्र, (7-8) ठाणांग सूत्र, समवायांग सूत्र, (9) भगवती सूत्र, (10-14) क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्ग चूलिका, व्याख्या चूलिका, (15-20) अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरूड़ोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात वेलन्धरोपपात, (21-24) उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्र परियापनिका, नागपरियापनिका, (25) स्वप्नभावना अध्ययन (26) चारण भावना अध्ययन, (27) तेजनिसर्ग अध्ययन (28) आशीविष भावना अध्ययन, (29) दृष्टिविष भावना अध्ययन, (30) दृष्टिवाद अंग।

सूत्रांक 10-29 तक में कहे गये आगम दृष्टिवाद नामक अंग के ही अध्ययन थे अथवा उससे अलग निर्यूढ़ किये सूत्र थे। इन सभी का नाम नंदी सूत्र में कालिक श्रुत की सूची में दिया गया है। अन्तिम दस सूत्रों को ठाणांग में संक्षेपिक दशा सूत्र के दस अध्ययन के रूप में कहा गया है।

इन सूत्रों के अन्त में यह बताया गया है कि बीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक संपूर्ण श्रुत का अध्ययन कर लेना चाहिए। तदनुसार वर्त्तमान में भी प्रत्येक योग्य भिक्षु को उपलब्ध सभी आगमश्रुत का अध्ययन बीस वर्ष में परिपूर्ण कर लेना चाहिए। उसके बाद प्रवचन प्रभावना करनी चाहिए अथवा निवृत्तिमय साधना में रहकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि में लीन रहते हुए आत्म-साधना करनी चाहिए।

उपरोक्त आगमों की वाचना, योग्य शिष्यों को ही देनी चाहिए एवं यथाक्रम से ही देनी चाहिए। इत्यादि विस्तृत वर्णन यहां अन्य परिशिष्ट में देखें।

निशीथ - उद्देशक 19 सूत्र 16-17

6. वाचना देने के क्रम व्युत्क्रम की विचारणा-

आगम, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि जो भी अनुक्रम से पहले वांचना देने के हैं उनकी वांचना पहले दी जाती है और जिनकी वांचना बाद में देने की है उनकी वांचना बाद में दी जाती है। यथा :

1. आचारांग सूत्र की वाचना पहले दी जाती है और सूयगडांगसूत्र की वाचना बाद में दी जाती है।

2. प्रथम श्रुत स्कन्ध की वाचना पहले दी जाती है और द्वितीय श्रुत स्कन्ध की वाचना बाद में दी जाती है।

3. प्रथम अध्ययन की एवं उसमें भी प्रथम उद्देशक की वाचना पहले दी जाती है और आगे के अध्ययन उद्देशकों की वाचना बाद में दी जाती है।

चूर्णिकार ने यहां बताया है कि दशवैकालिक की अपेक्षा आवश्यक सूत्र प्रथम वाचना सूत्र है। उत्तराध्ययन सूत्र की अपेक्षा दशवैकालिक सूत्र प्रथम वाचना सूत्र है। आवश्यक सूत्र में भी सामायिक अध्ययन प्रथम वाचना योग्य है, शेष अध्ययन क्रम से पश्चात् वाचना योग्य है।

व्यव. उ. 10 में कालिक सूत्रों की वाचना का क्रम दिया है तथा साथ ही दीक्षा पर्याय का सम्बन्ध भी बताया गया है। उस क्रम में उत्कालिक श्रुत एवं ज्ञाता धर्म-कथा आदि अंगों का उल्लेख नहीं है। आचारशास्त्र एवं संग्रह शास्त्रों का ही क्रम दिया है। अतः कथा या तपोमय संयमी जीवन के वर्णन वाले ज्ञातादि कालिक सूत्र एवं उववाई आदि उत्कालिक सूत्रों का कोई निश्चित्त क्रम नहीं है ऐसा समझना चाहिए तथा कितने ही सूत्रों की रचना-संकलना भी व्यवहार सूत्र की रचना के बाद में हुई है। जिससे उनका अध्ययन क्रम वहां नहीं है। अतः गीतार्थ मुनि उनकी वाचना योग्य अवसर देखकर कभी भी दे सकते हैं। प्रस्तुत सूत्रगत प्रायश्चित्त व्यवहार सूत्र में कहे गए अनुक्रम की अपेक्षा उत्क्रम करने पर समझना चाहिए।

आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र एवं उत्तराध्ययन सूत्र का उपर्युक्तक्रम जो चूर्णिकार ने बताया है उसे आचारांग के पूर्व का क्रम ही समझना चाहिए।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययनों में संयम में दृढ़ता, वैराग्य एवं श्रद्धा, परीषहजय आदि के विचारों को प्रोत्साहन देने वाले उपदेश का वर्णन है। ब्रह्मचर्य, संयम का ही एक पर्यावाची शब्द है अथवा यह संयम का मुख्य अङ्ग है। इसलिए प्रथम स्कन्ध का 'नव बंभचेर' नाम प्रसिद्ध है। एक देश से सम्पूर्ण का ग्रहण हो जाता है। अतः चूर्णिकार ने कहा है-

'नव बंभचेर गहणेण सव्वो आयारो गहितो अहवा सव्वो चरणाणुओगो' अर्थात् नव-ब्रह्मचर्य के कथन से सम्पूर्ण आचारांग सूत्र अथवा सम्पूर्ण चरणानुयोग (आचार शास्त्र) ग्रहण कर लेना चाहिए।

'उत्तम श्रुत' शब्द से छेदसूत्र तथा दृष्टिवाद सूत्र का निर्देश भाष्य गा. 6184 में किया गया है।

उत्सर्ग और अपवाद के कल्पों का तथा प्रायश्चित्त एवं संघ-व्यवस्था का वर्णन होने से छेद सूत्रों को 'उत्तम श्रुत' की संज्ञा दी गई है।

चारों अनुयोगों का तथा नय और प्रमाण आदि से द्रव्यों का सूक्ष्मतम वर्णन होने तथा अत्यन्त विशाल होने से दृष्टिवाद को भी उत्तम श्रुत कहा जाता है। इस सूत्र का सार यह है कि सम्पूर्ण आचारांग सूत्र को मूल एवं अर्थ की वाचना पूर्ण किए बिना छेद सूत्रों की वाचना नहीं देना अथवा सम्पूर्ण आचार शास्त्रों की वाचना दिये बिना द्रव्यानुयोग एवं दृष्टिवाद की वाचना नहीं देना चाहिए इससे यह फलित होता है कि संयम जीवन में आचार शास्त्रों के अध्ययन को प्राथमिकता देनी चाहिए।

व्युत्क्रम से वाचना देने में होने वाले दोष-

1. पूर्व के विषय को समझे बिना आगे का विषय समझ में नहीं आना,

2. उत्सर्ग अपवाद का विपरीत परिणमन होना,

3. आगे का अध्ययन करने के बाद पूर्व का अध्ययन नहीं करना,

4. पूर्ण योग्यता बिना बहुश्रुत आदि कहलाना, इत्यादि। अतः आगमोक्त क्रम से ही सभी सूत्रों की वाचना देनी चाहिए।

इन सूत्रों में तथा आगे भी आने वाले सूत्रों में, वाचना देने वाले को ही प्रायश्चित्त कहा है, वाचना ग्रहण करने वाले के प्रायश्चित्त का यहां विधान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह वाचना देने वाले की जिम्मेदारी का ही विषय है कि किसे क्या वाचना देना?

सूत्रों में अर्थ का अध्ययन कराने के लिए 'वाचना' शब्द का प्रयोग किया गया है, और मूल आगम का अध्ययन कराने के लिए 'उद्देश, समुद्देश' शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु यहां अलग-अलग सूत्र न होने से संक्षेप में वाचनासूत्र से मूल एवं अर्थ दोनों ही प्रकार की वाचना विषयक यह प्रायश्चित्त है ऐसा समझ लेना चाहिए।

इन दोनों सूत्रों से एवं इनके विवेचन से वाचना का क्रम निम्न प्रकार से समझ लेना चाहिए-

1. आवश्यक सूत्र
2. दशवैकालिक सूत्र
3. उत्तराध्ययन सूत्र
4. आचारांग सूत्र
5. निशीथ सूत्र
6. सूयगडांग सूत्र

7. तीन छेद सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र- व्यवहार सूत्र)

8. ठाणांग सूत्र, समवायांग सूत्र

9. भगवती सूत्र

शेष कालिक या उत्कालिक सूत्र इस अध्ययन क्रम के मध्य में या बाद में कहीं भी गीतार्थ बहुश्रुत मुनि की आज्ञा से अध्ययन करना या कराना चाहिए। इस क्रम से ही मूल और अर्थरूप आगम को कंठस्थ करने की आगम प्रणाली समझनी चाहिए।

निशीथ - उद्देशक 19 सूत्र 19

7. आगम संख्या निर्णय-

उपलब्ध 32 आगमों में 9 सूत्र उत्कालिक हैं यथा-

1. उववाई सूत्र, 2. रायप्पसेणिय सूत्र, 3. जीवा जीवाभिगम सूत्र, 4. प्रज्ञापना सूत्र, 5. सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र, 6. दशवैकालिक सूत्र, 7. नन्दी सूत्र, 8. अनुयोगद्वार सूत्र, 9. आवश्यक सूत्र। शेष ग्यारह अङ्ग आदि 23 आगम कालिक सूत्र हैं।

नन्दी सूत्र में 29 उत्कालिक सूत्रों के नाम हैं और 42 कालिक सूत्रों के नाम हैं। आवश्यक सूत्र मिलाने से कुल 72 सूत्र होते हैं।

आवश्यक सूत्र को अनुयोगद्वार सूत्र में उत्कालिक सूत्र कहा है। नन्दी सूत्र में 12 उपांग सूत्रों में से 5 को उत्कालिक और सात को कालिक कहा है तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्य प्रज्ञप्ति में से भी क्रमशः एक को कालिक और एक को उत्कालिक कहा है। अतः इन वर्णनों के आधार से तो कोई परिभाषा कालिक उत्कालिक की निश्चित्त नहीं की जा सकती है। फिर भी निम्न परिभाषा फलित होती है।

गणधरों द्वारा रचित आगम तो कालिक़ ही होते हैं और दृष्टिवाद आदि अङ्ग- सूत्रों में से भाषा परिवर्तन के बिना ज्यों का त्यों उदृत किया गया आगम भी कालिक श्रुत कहा जाता है क्योंकि वह तो उन अङ्ग- सूत्रों का मौलिक रूप ही होता है। किन्तु अन्य पूर्वधरों के द्वारा अपनी शैली में रचित आगम को उत्कालिक श्रुत समझना चाहिए। क्योंकि इसमें अर्थ का मौलिकता रह सकती है किन्तु सूत्र की मौलिकता नहीं रहती है।

आगमों की 32 या 45 संख्या मानने की परम्परा भी अलग-अलग अपेक्षा से तथा किसी क्षेत्रकाल में की गई कल्पना मात्र ही समझनी चाहिए। वास्तव में नन्दी सूत्र में 72 सूत्रों के जो नाम हैं, वह नन्दी सूत्र की रचना के समय उपलब्ध आगमों की सूची है। उसमें स्वयं नन्दी सूत्र का भी नाम है जो एक पूर्वधर श्री देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण (देव वाचक) द्वारा रचित है तथा अन्य भी एक पूर्वधर द्वारा रचित अनेक आगमों के नाम वहां दिये गये है।

अनेक आगमों के रचनाकाल या रचनाकार का कोई प्रामाणिक इतिहास भी नहीं मिलता है। नन्दी सूत्र में कहे गए महानिशीथ आदि सूत्रों के खण्डित हो जाने पर उन्हें पूरक पाठों से पूरे किए गए हैं।

ग्रन्थों में आगमों की परिभाषा इस प्रकार कही गई है :-

सुत्तं गणहर रइयं, तह पत्तेय बुद्ध रइयं च।
सुय केवलिणा रइयं, अभिन्न दस पुव्विणा रइयं ।। 54।। ।। बृहत्संग्रहणी।।

इस गाथा के अनुसार प्रत्येक बुद्ध, गणधर, 14 पूर्वी तथा सम्पूर्ण दस पूर्वधरों की रचना संकलना को सूत्र या आगम कहा जा सकता है।

नन्दी सूत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न दस पूर्वधरों का श्रुत, सम्यग् भी हो सकता है और असम्यग भी। किन्तु 10 पूर्व सम्पूर्ण धारण करने वालों का श्रुत (उपयोग युक्त होने पर) सम्यग् ही होता है।

उपलब्ध आगमों में चार छेद सूत्र दशवैकालिक सूत्र तथा प्रज्ञापना सूत्र के रचनाकार ज्ञात है जो 10 पूर्व तथा 14 पूर्वधर माने जाते हैं। आवश्यक सूत्र एवं ग्यारह अङ्ग सूत्र गणधर रचित माने जाते हैं तथापि प्रश्न व्याकरण सूत्र आदि में गणधर रचित सम्पूर्ण विषय हटाकर अन्य विषय ही रख दिये गये हैं, जिनका नन्दी सूत्र में निर्देश भी नहीं है। अन्य अनेक उपलब्ध सूत्रों के कर्ता अज्ञात हैं इस प्रकार बृहत्संग्रहणी में उक्त आगम- (सूत्र) की परिभाषा में आने वाला श्रुत बहुत ही अल्प है। वर्तमान में 32 आगम अथवा 45 आगम कहने की परम्परा प्रचलित है, जिसमें सूत्र की परिभाषा के अतिरिक्त अनेक आगम सम्मिलित किये जाते हैं और इनमें किसी व्याख्या ग्रन्थ को भी सूत्र गिन लिया गया है। यथा-ओधनियुक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति आदि।

दस पूर्व से कम यावत् एक पूर्व तक के ज्ञानी द्वारा रचित श्रुत भी सम्यग् हो सकता है और उसे आगम कहा जा सकता है। यह नन्दी सूत्र के उत्कालिक श्रुत एवं कालिक श्रुत की सूची से स्पष्ट होता है। नन्दी सूत्र की रचना के समय उपलब्ध 72 सूत्रों को नन्दी सूत्र के रचनाकार ने आगम रूप में स्वीकार किया है। उनमें एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के द्वारा रचित या संकलित अनेक सूत्र हैं।

अतः इन 72 सूत्रों में से जितने सूत्र उपलब्ध हैं और जिनमें कोई अत्यधिक परिवर्तन या क्षति नहीं हुई है उन्हें आगम न मानना केवल दुराग्रह है, एवं उससे नन्दी सूत्र कर्ता की आशातना होना भी स्पष्ट है। इन 72 सूत्रों में से उपलब्ध जिन सूत्रों में अहिंसादि मूल सिद्धान्तों के विपरीत प्ररूपण कभी किसी के द्वारा प्रक्षिप्त कर दिया गया है उन्हें शुद्ध आगम मानना भी उचित नहीं है।

इन 72 सूत्रों के सिवाय अन्य सूत्र, ग्रंथ, टीका, भाष्य, नियुक्ति, चूर्णी, निबंध, ग्रंथ या समाचारी ग्रंथ आदि को आगम या आगम तुल्य मानने का आग्रह करना तो सर्वथा अनुचित है।

नन्दी सूत्र की रचना के समय 72 सूत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पूर्वधरों द्वारा रचित सूत्र, ग्रंथ या व्याख्या ग्रंथ उपलब्ध नहीं थे यह निश्चित है। यदि कुछ उपलब्ध होते तो उन्हें श्रुतसूची में अवश्य समाविष्ट किया जाता क्योंकि इस सूची में अज्ञात रचनाकारों के तथा एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के रचित श्रुत को भी स्थान दिया गया है, तो अनेक पूर्वधारी या 14 पूर्वधारी आचार्यों द्वारा रचित और उपलब्ध श्रुत का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं करने का कोई कारण ही नहीं हो सकता।

अतः शेष सभी सूत्र, व्याख्याएं, ग्रंथ आदि नन्दी सूत्र की रचना के बाद में रचित है यह स्पष्ट है ! फिर भी इतिहास संबंधी वर्णनों के दूषित हो जाने से व्याख्या ग्रन्थ भी चौदह पूर्वी आदि द्वारा रचित होने की भ्रान्त धारणाएं प्रचलित है।

निशीथ सूत्र - उद्देशक 19 सूत्र 13

8. स्वाध्याय की अवश्य करणीयता एवं प्रायश्चित्त-

दिन की प्रथम व अन्तिम पोरिसी और रात्रि की प्रथम और अन्तिम पोरिसी, ये चार पोरिसियां कालिक श्रुत की अपेक्षा से स्वाध्यायकाल है। इन चारों काल में स्वाध्याय नहीं करना और अन्य विकथा प्रमाद आदि में समय व्यतीत कर देना यह ज्ञान का अतिचार हैं। यथा -

'काले न कओ सज्झाओ, सज्झाए न सज्झाइयं'। आव. अ.4

इस अतिचार के सेवन करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। तात्पर्य यह है कि भिक्षु को आवश्यक सेवा कार्य के सिवाय चारों ही पोरिसियों में स्वाध्याय करना आवश्यक होता है।

स्वाध्याय न करने से होने वाली हानियां -

1. स्वाध्याय नहीं करने से पूर्वगृहीत श्रुत विस्मृत हो जाता है।
2. नये श्रुत का ग्रहण एवं उसकी वृद्धि नहीं होती है।
3. विकथाओं तथा अन्य प्रमादों में संयम का अमूल्य समय व्यतीत होता है।
4. संयम गुणों का नाश होता है।
5. स्वाध्याय तप और निर्जरा के लाभ से वंचित होना पड़ता है। परिणामतः भव परम्परा नष्ट नहीं हो सकती है अतः स्वाध्याय करना भिक्षु का परम कर्तव्य है ऐसा समझना चाहिए।

स्वाध्याय करने से होने वाले लाभ-

1. स्वाध्याय करने से विपुल निर्जरा होती है।
2. श्रुत ज्ञान स्थिर एवं समृद्ध होता है।
3. श्रद्धा, वैराग्य, संयम एवं तप में रूचि बढ़ती है।
4. आत्म-गुणों की पुष्टि होती है।
5. मन एवं इन्द्रिय निग्रह में सफलता मिलती है।
6. स्वाध्याय, धर्म ध्यान का आलम्बन कहा गया है एवं इससे चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है। फलतः इससे धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति होती है।

'चारों काल में कालिक श्रुत का स्वाध्याय करना तथा अन्य पहरों में उत्कालिक श्रुत का स्वाध्याय करना या अर्थ ग्रहण करना अर्थात् वांचणी लेना। दिन के तीसरे पहर में भिक्षा न लाना हो तो उत्कालिक श्रुत के स्वाध्याय आदि में लगे रहना। रात्रि के दूसरे पहर में भी भिक्षु उक्त स्वाध्याय करे या सोए। रात्रि के तीसरे पहर में निद्रा लेकर उससे निवृत्त हो जाए और उस पहर का समय शेष हो तो उत्कालिक श्रुत आदि का स्वाध्याय करे। फिर चौथे पहर में कालिक श्रुत का स्वाध्याय करे।'

यह साधु की दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का वर्णन स्वाध्याय से ही परिपूर्ण है। उत्काल की पोरिसी में सूत्रों का स्वाध्याय, सूत्रों का अर्थ, आहार, निद्रा आदि प्रवृत्ति की जा सकती है। किन्तु चारों पोरिसी काल में केवल स्वाध्याय ही किया जाता है। उत्तरा. अ. 26 के अनुसार स्वाध्याय के समय में यदि गुरु आदि कोई सेवा का कार्य कहें तो करना चाहिए और न कहे तो स्वाध्याय में ही लीन रहना चाहिए।

यह स्वाध्याय कालिक श्रुत का है। इसमें नया कंठस्थ करना या उसी का पुनरावर्तन करना आदि समाविष्ट है। जब नया कंठस्थ करना पूर्ण हो जाय तब उसकी केवल पुनरावृत्ति करना ही होता है।

व्यव. उ. 4 में साधु-साध्वी को सीखे हुए ज्ञान को कंठस्थ रखना आवश्यक बताया है और भूल जाने पर कठोरतम प्रायश्चित्त कहा गया है। अर्थात् प्रमाद से भूल जाने पर उसे जीवन-पर्यन्त किसी भी प्रकार की पदवी नहीं दी जाती है और पदवीधर हो तो उसे पदवी से हटा दिया जाता हैं। केवल वृद्ध स्थविरों को यह प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः श्रुत कंठस्थ करना और उसे स्थिर रखना, निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से ही हो सकता है।

उत्तरा. अ 26 में स्वाध्याय को संयम का उत्तर गुण बताया है। सर्व दुखों से मुक्त करने वाला तथा सर्व भावों की शुद्धि करने वाला कहा है।

इन सब आगम वर्णनों को हृदय में धारण करके भिक्षु सदा स्वाध्यायशील रहे और सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्थान का सेवन न करे अर्थात् स्वाध्याय के सिवाय विकथा प्रमाद आदि में समय न बितावे।

विकथा आदि में समय बिताने पर एवं यथासमय आगम स्वाध्याय न करने पर प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। जिसे सरलतापूर्वक स्वतः स्वीकार करना चाहिए। एवं संघ व्यवस्था में भी इसके प्रायश्चित्त देने की एवं स्वीकार करने की परम्परा रखनी चाहिए।

व्यवहार - उद्देशक 7 सूत्र 15-16

9. स्वाध्याय की प्रमुखता में एक भ्रांति का निवारण-

ज्ञान के अतिचारों के वर्णन से एवं निशीथ उद्देशक 19 सूत्र 13 के प्रायश्चित्त विधान से तथा श्रमणसूत्र के तीसरे पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाध्याय के समय निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

इस स्वाध्याय विधान की पूर्ति के लिए प्रायश्चित्त से बचने के लिए किसी परम्परा में प्रतिक्रमण के साथ ही दशवैकालिक की सत्तरह गाथाओं का स्वाध्याय कर लिया जाता है, यह परम्परा अनुचित है क्योंकि प्रतिक्रमण का समय तो

अस्वाध्याय का काल होता है, अतः उसके साथ स्वाध्याय करना आगम विरुद्ध भी है तथा आचारांग निशीथ सूत्र आदि अनेक कंठस्थ किए हुए कालिक आगमों का यथासमय स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी रह जाता है।

अतः सायंकालीन प्रतिक्रमण के पूर्ण हो जाने पर काल का आकाश का प्रतिलेखन करने के बाद पूरे पहर स्वाध्याय करना चाहिए। उसी प्रकार सुबह के प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के पूर्व रात्रि के चौथे पहर में स्वाध्याय करने का आगम विधान है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु केवल दशवैकालिक सूत्र की उन्हीं 17 गाथाओं का बार-बार अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करके संतोष नहीं मानना चाहिए।

चारों पहर में स्वाध्याय न करना यह ज्ञान का अतिचार है एवं लघु चौमासी प्रायश्चित्त का स्थान है। ऐसा जानकर यदि कभी स्वाध्याय न हो तो उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। किन्तु सेवा या गुरु-आज्ञा में कहीं समय व्यतीत हुआ हो तो चारों पहर में स्वाध्याय न करने पर भी प्रायश्चित्त नहीं आता है। इसी प्रकार रुग्णता आदि अन्य भी आपवादिक कारण समझ लेने चाहिए। अकारण स्वाध्याय की उपेक्षा कर विकथाओं में और आलस्य प्रमाद में समय व्यतीत करने पर संयम मर्यादा के विपरीत आचरण होता है एवं ज्ञान के अतिचार का सेवन होता है। जिससे प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

इन सूत्रों का आशय यह है कि विकथा वार्ताओं में या समाचार-पत्रों के पढ़ने में समय व्यतीत न करके भिक्षु को सदा जैनागमों की स्वाध्याय में ही लीन रहना चाहिए।

निशीथ सूत्र उद्देशक 19 सूत्र 12

10. अस्वाध्याय के आठ दिन और अमांत मान्यता की विचारणा-

सूत्र 12 में जो 'आषाढी प्रतिपदा' आदि शब्द है उनका अर्थ आषाढ़ी पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा अर्थात् श्रावण वदी एकम ऐसा समझना ही उपयुक्त है। किन्तु 'आषाढी पूनम के बाद पुनः आषाढ़ वदी एकम हो' ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार शेष तीनों प्रतिपदा भी उस महोत्सव की पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा को ही मानना उचित है।

आगमों के अनेक स्थलो में कथित तीर्थंकर आदि के वर्णनों में स्पष्ट रूप से प्रत्येक मास में प्रथम कृष्ण पक्ष और द्वितीय शुक्ल पक्ष कहा जाता है। यथा- आचारांग श्रु, 2, अ. 15 में-

'गिम्हाण पढ़मे मासे दोच्चे पक्खे चैत्त सुद्दे, तस्सणं चैत्त सुद्दस्स तेरसी पक्खेणं'

यहां चैत्र सुदी तेरस को भगवान महावीर का जन्म बताते हुए ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास का द्वितीय पक्ष चैत्र सुदी कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी वर्णन है। अतः पूनम के बाद अगले महीने की एकम समझना ही शास्त्र सम्मत है।

लौकिक प्रचलन में अमावस्या के लिए (30) तीस का अंक लिखा जाता है और इसे ही मास का अन्तिम दिन माना जाता है। किन्तु यह मान्यता जैन शास्त्र सम्मत नहीं है। कई विद्वान प्रस्तुत सूत्र (12) के आधार से भी इस लौकिक मान्यता का निर्देश मानते है किन्तु इस सूत्र से ऐसा अर्थ समझना भ्रमपूर्ण है। क्योंकि ठाणांग टीका व निशीथ चूर्णी में वैसा अर्थ नहीं किया गया है, तथा ऊपर निर्दिष्ट आचारांग अ. 15 के पाठ के समक्ष होते हुए भी ऐसा अर्थ करना आगम विरुद्ध है।

अतः आषाढ, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूनम एवं श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख की एकम ये आठ दिन ही अस्वाध्याय के समझने चाहिए।

यद्यपि इन्द्र महोत्सव के लिए आसोज की पूनम जैनागमों की व्याख्याओं में तथा जैनेत्तर शास्त्रों में भी कही गई है तथापि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुछ भिन्न-भिन्न परम्पराएं भी कालान्तर से प्रचलित हो जाती है। यथा-लाट देश में श्रावण की पूनम को इन्द्र महोत्सव होना चूर्णिकार ने बताया है। ऐसे ही किसी कारण से भादवा की पूनम को महोत्सव का दिन मानकर अस्वाध्याय मानने की परंपरा प्रचलित है। जिससे कुल 10 दिन महोत्सव सम्बन्धी अस्वाध्याय के माने जाते हैं। किन्तु इसे केवल परम्परा ही समझना चाहिए क्योंकि इसके लिए मौलिक प्रमाण कुछ भी नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आठ दिन ही कहे गए हैं उन आठ दिनों में स्वाध्याय करने पर ही सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। भादवा की पूनम एवं आसोज बदी एकम को स्वाध्याय करने से प्रस्तुत सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

निशीथ सूत्र उद्देशक 19 सूत्र 15

11. मासिक धर्म के अस्वाध्याय का विवेक व सत्यावबोध-

स्वयं का अस्वाध्याय दो प्रकार का होता है- 1. व्रण संबंधी 2. ऋतुधर्म संबंधी। इसमें भिक्षु के एक प्रकार का एवं भिक्षुणी के दोनों प्रकार का अस्वाध्याय होता है।

शरीर में फोड़े फुन्सी, भगंदर, मस्सा आदि से जब रक्त या पीव बाहर आता है तब उसका अस्वाध्याय होता है। उसकी शुद्धि करके 100 हाथ के बाहर परठकर स्वाध्याय किया जा सकता है। शुद्धि करने के बाद भी रक्त आदि निकलता रहे तो स्वाध्याय नहीं किया जा सकता। किन्तु उसके एक-दो या उत्कृष्ट तीन पट वस्त्र के बांधकर परस्पर आगम वांचनी ली दी जा सकती है। तीन पट के बाहर पुनः खून दिखने लग जाए तो फिर उन्हें शुद्ध करना आवश्यक होता है।

ऋतुधर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक रहता है। किन्तु व्यवहार-सूत्र के उद्देशक 7 सूत्र 17 में अपने अस्वाध्याय में परस्पर वांचना लेने देने का विधान किया गया है। उसकी भाष्य में विधि इस प्रकार बताई है कि रक्त आदि की शुद्धि करके आवश्यकतानुसार एक दो अथवा उत्कृष्ट सात वस्त्र पट लगाकर साधु- साध्वी परस्पर आगमों की वांचणी दे- ले सकते हैं। प्रमाण के लिये देखें व्यव. उ. 7 भाष्य गा. 390-394 तथा निशीथ भाष्य गा. 6167-6170 तथा अभि. राजेन्द्र कोष भाग 1 पृ. 833 'असज्झाइय' शब्द।

सूत्र 14 और 15 में वर्णित सभी अस्वाध्याय आगमों के मूल पाठ के उच्चारण से ही सम्बन्धित जानने चाहिए। क्योंकि उनकी भाषा 'देव-वाणी' है और अस्वाध्याय का प्रमुख कारण देवों के उपद्रव होने से सम्बन्धित है।

अतः मासिक धर्म आदि अवस्था में आगमों के अर्थ-वाचन या अनुप्रेक्षा, पृच्छा, व्याख्यान श्रवण आदि करने का निषेध नहीं है तथा गृहस्थ को सामायिक आदि संवर प्रवृत्ति एवं नित्य-नियम तथा प्रभु स्तुति-स्मरण का निषेध भी नहीं है।

आगम स्वाध्याय के नियमों को यदि सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्म प्रवृत्तियों के लिए भी लागू किए जावे तो यह प्ररुपणा का अतिक्रमण होता है एवं अकारण समस्त धर्मक्रियाओं में अंतराय होता है। एक विषय के नियम को अन्य विषय में जोड़ना अनुचित प्रयत्न है।

व्यव. उद्देशक 7 में जब स्वयं आगमकार मासिक धर्म आदि के अपने अस्वाध्याय में आगम की वांचणी अर्थात् अर्थ लेने का भी विधान करते हैं तो फिर किसी भी आचार्य के द्वारा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभु स्मरण, नमस्कार मंत्र एवं लोगस्स आदि के उच्चारण का निषेध किया जाना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है।

क्योंकि इस प्रकार की आगम विपरीत मान्यता रखने पर संवत्सरी महापर्व के दिन भी सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, व्याख्यान श्रवण, मुनि दर्शन एवं नमस्कार मंत्रोच्चारण आदि सभी धार्मिक प्रवृत्तियों से वंचित रहना पड़ता है। सभी प्रकार की धर्म प्रवृत्ति से वंचित गृहस्थ पर्व दिनों में भी सावद्य प्रवृत्ति एवं प्रमाद में ही संलग्न होते है। इसलिए ऐसी प्ररूपणा करना सर्वथा अनुचित है।

अतः स्वकीय अस्वाध्याय में श्रावक श्राविका विवेकपूर्वक सामायिक प्रतिक्रमण आदि क्रिया करें तो इसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए और गृह कार्यों से निवृत्ति के इन दिनों में उनको संवर आदि धर्म क्रिया में ही अधिकतम समय व्यतीत करना चाहिए। साध्वियों को अन्य अध्ययन, श्रवण, सेवा, तप, आत्मचिंतन, ध्यान आदि में समय व्यतीत करना चाहिए।

निशीथ सूत्र उद्देशक 19 सूत्र 14

12. अस्वध्याय का मर्म एवं विवेक-

अस्वाध्याय में स्वाध्याय के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग. श. 5. उ. 4 में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एवं कोतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे हैं। किन्तु इसकी अनुप्रेक्षा या भाषांतरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है।

अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्योंकि यह सदा उभयकाल संध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है।

'अतः नमस्कार मंत्र, 'लोगस्स' आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढ़े या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय या मनुष्य के रक्त आदि की जल से शुद्धि करना हो तो स्वाध्याय स्थल से 60 हाथ या 100 हाथ दूर जाकर करनी चाहिए। त्रिन्द्रिय चतुरिंद्रय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा उसके बाहर 60 हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार के अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एवं विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्याय काल प्रतिलेखन करने योग्य भूमि अर्थात् जहां पर खड़े होने पर सभी दिशाएं एवं आकाश स्पष्ट दिखे, ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर सभी साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय बंद कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एवं महान् निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है मर्यादा भंग आदि से कर्म बंध होता है, कभी अपयश एवं उपद्रव भी होता है इसलिए संयम विराधना की एवं प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। **निशीथ चूर्णि प्रस्तुत सूत्र।**

अतः स्वाध्याय प्रिय भिक्षु को अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में भी सदा सावधानी रखने के कर्तव्यों का आवश्यक रूप से पालन करना चाहिए। स्मरण रहे कि यह कर्त्तव्य केवल अर्धमागधी भाषा वाले कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के मूल पाठ की अपेक्षा है। आवश्यक सूत्र (प्रतिक्रमण सूत्र) के लिए अस्वाध्याय सम्बन्धी कोई कर्त्तव्य नहीं है एवं सूत्रों की व्याख्या, भाषांतर, अर्थ चिंतन वांचन एवं अन्य संवर धर्म प्रवृत्ति आदि के लिए भी अस्वाध्याय सम्बन्धी कोई कानून नहीं है।

दीक्षा-दीक्षित एवं दीक्षा गुरु

व्यवहार - उद्देशक 4 सूत्र 17

1. बड़ी दीक्षा देने सम्बन्धी विधान एवं प्रायश्चित्त-

प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में भिक्षुओं को सामायिक चारित्र रूप दीक्षा देने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप बड़ी दीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्य काल मर्यादा सात अहोरात्रि की है अर्थात् काल की अपेक्षा नवदीक्षित भिक्षु सात रात्रि बीतने के बाद कल्पाक (बड़ी दीक्षा के योग्य) कहा जाता है।

गुण की अपेक्षा - 1. आवश्यक सूत्र सम्पूर्ण अर्थ एवं विधि सहित कंठस्थ कर लेने पर, 2. जीवादि का एवं समितियों का सामान्य ज्ञान कर लेने पर, 3. दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन की अर्थ सहित वाचना लेकर कंठस्थ कर लेने पर एवं 4. प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओं का कुछ अभ्यास कर लेने पर वह नवदीक्षित भिक्षु 'कल्पाक' हो जाता है।

इस प्रकार कल्पाक (बड़ी दीक्षा योग्य) होने पर एवं अन्य विविध परीक्षण हो जाने पर उस नव दीक्षित भिक्षु को बड़ी दीक्षा (उपस्थापना) दी जाती है। उपरोक्त योग्यता के पूर्व बड़ी दीक्षा देने पर नि. उ. 11 सू. 84 के अनुसार दीक्षा दाता को प्रायश्चित्त आता है।

उक्त योग्यता से सम्पन्न कल्पाक भिक्षु को सूत्रोक्त समय पर बड़ी दीक्षा न देने पर प्रस्तुत सूत्रों में आचार्य उपाध्याय को प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रायश्चित विधान में यह स्पष्ट होता है कि किसी को नई दीक्षा या बड़ी दीक्षा देने का अधिकार आचार्य या उपाध्याय को ही होता है एवं उसमें किसी प्रकार की त्रुटि होने पर प्रायश्चित भी उन्हें ही आता है।

अतः साधु साध्वी या प्रवर्त्तक प्रवर्त्तिनी भी आचार्य, उपाध्याय की आज्ञा से किसी को दीक्षा या बड़ी दीक्षा दे सकते हैं किन्तु उसकी योग्यता के निर्णय की मुख्य जिम्मेदारी आचार्य- उपाध्याय की ही होती है। सामान्य रूप से तो आगमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति करने की जिम्मेदारी सभी साधु- साध्वी की होती ही है, फिर भी गच्छ के व्यवस्था निर्देश आचार्य- उपाध्याय के अधिकार में होते हैं। अतः तत्सम्बन्धी विपरीत आचरण होने पर प्रायश्चित्त के पात्र भी वे आचार्यादि ही होते हैं।

यहां इन तीन सूत्रों में बड़ी दीक्षा के निमित्त से तीन विकल्प कहे गये है-

(1) विस्मरण से मर्यादा उल्लंघन, (2) स्मृति होते हुए मर्यादा उल्लंघन (3) विस्मरण या अविस्मरण से विशेष मर्यादा उल्लंघन।

काल से एवं गुण से कल्पाक बन जाने के बाद उस भिक्षु को चार या पांच रात्रि के भीतर अर्थात् चार रात्रि और पांचवे दिन तक बड़ी दीक्षा दी जा सकती है। यह सूत्र में आये 'चउराय पंचरायाओ' शब्द का अर्थ है। इस छूट में विहार, शुभ दिन, स्त्री के मासिक धर्म की अस्वाध्याय, रुग्णता आदि अनेक कारण निहित है।

अतः दीक्षा के सात दिन बाद आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें या बाहरवें दिन तक कभी भी बड़ी दीक्षा दी जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। बाहरवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर सूत्र 15-16 के अनुसार यथायोग्य तप या दीक्षा छेद रूप प्रायश्चित्त आता है। जिसका भाष्य में जघन्य प्रायश्चित्त पांच रात्रि का कहा गया है। दीक्षा की सत्तरहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष तक उसे प्रायश्चित्त रूप में आचार्य पद से मुक्त कर दिया जाता है।

यहां बड़ी दीक्षा के विधान एवं प्रायश्चित्त में एक छूट और भी कही गई है वह यह है कि उस नवदीक्षित भिक्षु के माता-पिता आदि कोई भी माननीय या उपकारी पुरुष दीक्षित हो रहे हों और उनके कल्पाक होने में देर हो तो उनके निमित्त से उसको बड़ी दीक्षा देने में छह मास तक की भी प्रतीक्षा की जा सकती है तथा उसका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं आता है।

ठाणांगादि आगमों में सात रात्रि का जघन्य शैक्षकाल कहा गया है। अतः योग्य हो तो भी सात रात्रि पूर्ण होने से पूर्व बड़ी दीक्षा नहीं दी जा सकती है क्योंकि उस समय तक वह शैक्ष एवं अकल्पाक कहा गया है।

छह मास का **'उत्कृष्ट शैक्षकाल'** कहा गया है। अतः माननीय पुरुषों के लिए बड़ी दीक्षा रोकने पर भी छह मास का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

इन सूत्रों में स्मृति रहते हुए एवं विस्मरण से 4-5 दिन की मर्यादा उल्लंघन का प्रायश्चित्त समान कहा गया है।

चार-पांच दिन की छूट में शुभ दिन या विहार आदि कारण के अतिरिक्त ऋतुधर्म आदि अस्वाध्याय का भी जो कारण निहित है उसका निवारण 4-5 दिन की छूट में सरलता से हो सकता है।

निशीथ-उद्देशक - 11 सूत्र 84

2. दीक्षार्थी एवं दीक्षा गुरु के योग्यायोग्य का स्पष्टीकरण-

प्रथम सूत्र में जानकर अयोग्य को दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है। द्वितीय सूत्र में अनजान में दीक्षा दिये बाद अयोग्य जानकर के भी बड़ी दीक्षा का प्रायश्चित्त कहा है।

इससे यह ध्वनित होता है कि दीक्षा देने के बाद अयोग्यता की जानकारी होने पर बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

अयोग्यता की जानकारी न होने के दो कारण हो सकते हैं। यथा-

1. दीक्षार्थी द्वारा अपनी अयोग्यता को छिपा लेना।

2. दीक्षादाता के द्वारा छानबीन करके पूर्ण जानकारी न करना।

दूसरे कारण में दीक्षादाता का प्रमाद है। अतः वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है। उपस्थापित करने के बाद उसे छोड़ना या न छोड़ना यह गीतार्थ के निर्णय पर निर्भर है। प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्ति निम्नलिखित है-

1. बाल- आठ वर्ष से कम उम्र वाला, 2. वृद्ध- सत्तर (70) वर्ष से अधिक उम्र वाला, 3. नपुंसक- जन्मनपुंसक, कृतनपुंसक, स्त्री नपुंसक तथा पुरुष नपुंसक आदि। 4.जड़- शरीर से अशक्त, बुद्धिहीन व मूक, 5. क्लीव- स्त्री के शब्द, रूप, निमन्त्रण आदि के निमित्त से उदित मोह-वेद को निष्फल करने में असमर्थ, 6. रोगी- 16 प्रकार के रोग और आठ प्रकार की व्याधि में से किसी भी रोग या व्याधि से युक्त। शीघ्रघाती व्याधि कहलाती है और चिरघाती रोग कहलाते है- भाष्य गाथा 3647। 7. चोर- रात्रि में घर-घर प्रवेश कर चोरी करने वाला, जेब काटने वाला इत्यादि अनेक प्रकार के चोर डाकू लुटेरे, 8. राज्य का अपराधी-किसी प्रकार का राज्य विरुद्ध कार्य करने पर अपराधी घोषित किया हुआ, 9. उन्मत्त यक्षाविष्ट या पागल, 10. चक्षुहीन-जन्मान्ध हो या बाद में किसी एक या दोनों आंखों की ज्योति चली गई हो, 11. दास- किसी का खरीदा हुआ या अन्य किसी कारण से दासत्व को प्राप्त, 12. दुष्ट- कषाय दुष्ट (अति क्रोधी), विषयदुष्ट (विषयासक्त) 13. मूर्ख द्रव्यमूढ आदि अनेक प्रकार के मूर्ख, भ्रमित बुद्धि वाले, 14. कर्जदार- अन्य की सम्पत्ति उधार लेकर न देने वाला, 15. जुंगित (हीन)- जाति से, कर्म से, शिल्प से हीन और शरीर से हीनांग (जिसके नाक, कान, पैर, हाथ आदि कटे हुए हों) 16. बद्ध- कर्म, शिल्प, विद्या, मंत्र आदि सीखने या सिखाने के निमित्त किसी के साथ प्रतिज्ञा बद्ध हो, 17. भृतक-दिवस भृतक, यात्राभृतक आदि, 18. अपहृत- माता-पिता आदि की आज्ञा बिना

अदत्त लाया हुआ बालक आदि, 19. गर्भवती स्त्री, 20. बालवत्सा- दूध मुहे बच्चे वाली स्त्री। भाष्य में इनके अनेक भेद प्रभेद किए है तथा इन्हें दीक्षा देने से होने वाले दोषों और उनके प्रायश्चित्तों के अनेक विकल्प कहे हैं।

आगमविहारी अतिशयज्ञानी इन भाष्यवर्णित सभी को यथावसर दीक्षा दे सकते हैं।

'बालवय' वाले को कारणवश गीतार्थ दीक्षा दे सकते हैं, ऐसा ठाणांग सूत्र अ. 5, सूत्र 108 से फलित होता है।

भाष्य गाथा 3738 में, बीस प्रकार के अयोग्यों में से कुछ को यथावसर दीक्षा दी भी जा सकती है, ऐसा बताया है किन्तु गीतार्थ भिक्षु को यह अधिकार भी अन्य गीतार्थ की सलाह से ही होता है। अन्यथा उसे भी प्रायश्चित्त आता है।

दीक्षा के योग्य व्यक्ति-

1. आर्यक्षेत्रोत्पन्न, 2. जातिकुल सम्पन्न, 3. लघुकर्मी, 4. निर्मल बुद्धि, 5. संसार समुद्र में मनुष्य भव की दुर्लभता, जन्म-मरण के दुःख, लक्ष्मी की चंचलता, विषयों के दुःख, इष्ट संयोगों का वियोग, आयु की क्षणभंगुरता, मरण पश्चात परभव का अति रौद्र विपाक और संसार की असारता आदि भावों को जानने वाला, 6. संसार से विरक्त, 7. अल्पकषायी, 8. अल्पहास्यादि (कुतुहलवृत्ति से रहित), 9. सुकृतज्ञ, 10. विनयवान, 11. राज्य-अपराध रहित, 12. सुडोल शरीर, 13. श्रद्धावान, 14. स्थिर चित्त वाला एवं 15. सम्यग् उपसम्पन्न।

इन गुणों से सम्पन्न को दीक्षा देनी चाहिए अथवा इनमें से एक-दो गुण कम भी हो तो बहुगुण सम्पन्न को दीक्षा दी जा सकती है। **-अभि. राजेन्द्र कोष 'पवज्जा' पृ. 739**

दीक्षादाता के लक्षण-

उपर्युक्त पन्द्रह गुण सम्पन्न तथा 16. विधिपूर्वक प्रव्रजित, 17. सम्यक् प्रकार से गुरुकुलवास-सेवी, 18. प्रव्रज्या-ग्रहण काल से सतत अखण्ड शीलवाला, 19. परद्रोह रहित, 20. यथोक्त विधि से गृहीत सूत्र वाला, 21. सूत्रों एवं अध्ययनों आदि के पूर्वापर सम्बन्धों के ज्ञान में निष्णात 22. तत्त्वज्ञ, 23. उपशांत, 24. प्रवचनवात्सल्ययुक्त, 25. प्राणियों के हित में रत, 26. आदेय वचन वाला, 27. भावों की अनुकूलता से शिष्यों की परिपालना करने वाला, 28. गम्भीर (उदारमना), 29. परीषह आदि आने पर दीनता न दिखाने वाला, 30. उपशमलब्धि सम्पन्न (उपशांत करने में चतुर) उपकरणलब्धि सम्पन्न, स्थिरहस्तलब्धिसम्पन्न, 31. सूत्रार्थवक्ता, 32. स्वगुरुअनुज्ञात गुरु पद वाला। ऐसे गुण वाले विशिष्ट साधक को गुरु बनाना चाहिए। -अभि. राजेन्द्र कोष'प्रवज्जा' पृ.734

दीक्षार्थी के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य-

1. दीक्षार्थी से पूछना चाहिए कि 'तुम कौन हो? क्यों दीक्षा लेते हो? तुम्हें वैराग्य उत्पन्न कैसे हुआ? इस प्रकार पूछने पर योग्य प्रतीत हो तथा अन्य किसी प्रकार से अयोग्य ज्ञात न हो तो दीक्षा देना कल्पता है।

2. दीक्षा के योग्य जानकर उसे यह साध्वाचार कहना चाहिए यथा- 1. प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाना, 2. भिक्षा में अचित्त पदार्थ लेना, 3. वह भी ऐषणा आदि दोषों से रहित शुद्ध ग्रहण करना, 4. लाने के बाद बाल-वृद्ध आदि को देकर

समविभाग से खाना, 5. स्वाध्याय में सदा लीन रहना, 6. आजीवन स्नान नहीं करना, 7. भूमि पर या पाट पर शयन करना, 6. लोच आदि के कष्टों को सहन करना आदि। यदि वह यह सब सहर्ष स्वीकार कर ले तो उसे दीक्षा देनी चाहिए।

-नि. चूर्णि पृ. 278

नवदीक्षित भिक्षु के प्रति दीक्षादाता का कर्तव्य-

1. 'शस्त्रपरिज्ञा' का अध्ययन कराना अथवा 'छज्जीवनिका' का अध्ययन कराना।

2. उसका अर्थ-परमार्थ समझाना कि ये पृथ्वी आदि जीव है, धूप छाया पुद्गल आदि अजीव है तथा पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, नव पदार्थ, कर्मबंध के हेतु व उनके भेद, परिणाम इत्यादि का परिज्ञान कराना।

3. इन्हीं तत्त्वों को पुनः समझाकर उसे धारण कराना, श्रद्धा कराना।

4. तत्पश्चात् उन जीवों की यतना का विवेक सिखाना।

5. सिखाने के बाद श्रद्धा एवं विवेक की परीक्षा करना, यथा- खड़े रहने, बैठने, सोने या परठने के लिये सचित्त भूमि बताकर कहना कि ' यहां खड़े रहो, परठो इत्यादि। सचित्त स्थल देखकर वह चिंतित होता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना।

इसी तरह तालाब आदि की गीली भूमि में चलने, दीपक सरकाने, गर्मी में हवा करने तथा वनस्पति व त्रस युक्त मार्ग में चलने का कहकर परीक्षा करना। ऐषणा दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने का कहकर परीक्षा करना।

इस प्रकार अध्ययन, अर्थज्ञान, श्रद्धान, विवेक तथा परीक्षा में योग्य हो उसे उपस्थापित करना चाहिए।

उल्लिखित विधि से जो योग्य न बना हो उसे उपस्थापित करने पर प्रायश्चित्त आता है। -निशीथ चूर्णि पृ. 280

प्रकीर्ण - परिशिष्ट

व्यवहार उद्देशक 1 सूत्र 33

1. चैत्य शब्द का अर्थ-

सूत्र में **'सम्मं भावियाई'** शब्द का प्रयोग किया गया है टीकाकार ने उसका अर्थ करते हुए **'जिन वचनों से भावित अन्तः करण वाला'** ऐसा अर्थ किया है।

'चैइय' शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोष में बताये गए है उसमें ज्ञानवान और भिक्षु आदि अर्थ भी **'चेइय'** शब्द के किये हैं। अनेक सूत्रों में तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के लिए **'चैइय'** शब्द का प्रयोग किया गया है वहां उस शब्द से भगवान को **'ज्ञानवान'** कहा है।

उपासकदशा अ.1 में श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा का पाठ है। उसमें अन्य तीर्थिक से ग्रहण किये चैत्य को अर्थात् साधु को वन्दन नमस्कार एवं आलाप-संलाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहां स्पष्ट रूप से 'चेइय' शब्द का भिक्षु अर्थ में प्रयोग किया गया है। वहां चैत्य से आलाप संलाप करने का आगम कथन विशेष मननीय है। क्योंकि मूर्ति से आलाप संलाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक समुदाय वाले 'अरिहंत भगवान की मूर्ति' भी कहते हैं किन्तु वह टीकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रों से विरुद्ध भी है। क्योंकि टीकाकर ने यहां अंतःकरण शब्द का प्रयोग किया है वह मूर्ति में नहीं हो सकता। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिहंत सिद्ध की साक्षी के लिए गांव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि अरिहंत चैत्य का अर्थ मन्दिर होता है तो मन्दिर में ही अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गांव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नहीं होती।

अतः 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण में 'ज्ञानी' सम्यग् दृष्टि अथवा समझदार पुरुष' ऐसा अर्थ करना ही उपर्युक्त है।

समवायांग सूत्र में तीर्थंकरों को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'चैत्य वृक्ष' अर्थात् ज्ञानोत्पति स्थल का वृक्ष कहा है। तात्पर्य यह है कि मौलिक गणधर रचित आगमों में एवं विशाल शब्द कोषों में भी 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' सूचित किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में भी 'ज्ञानी' सम्यग् दृष्टि अर्थ ही अपेक्षित हैं एवं उचित है।

व्यवहार - उद्देशक 2 सूत्र 29

2. अनेक पात्र की कल्पनीयता-

सूत्र में आहार करने के साधन रूप में पात्रों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है-

1. स्वयं के (आहार लेने के) पात्र में।
2. स्वयं के 'पलाशक' (मात्रक) में।
3. स्वयं के कमंडलु (पानी लेने के पात्र) में।
4. स्वयं के खोबे में अर्थात् दोनों हाथों से बनी अंजलि में।
5. स्वयं के हाथ में अर्थात् एक हाथ की पसली में।

यहां स्वयं के पलाशक का अर्थ टीकाकार ने 'ढाक के पत्तों से बना दोना' ऐसा किया है।

सूत्र में 'सयंसि' पद प्रत्येक शब्द के साथ है। साधु के स्वयं का पात्र वही होता है जो सदा उसके पास रहता हो एवं जो आगमोक्त हो।

पलास के पत्तों का दोना रखना आगम में निषिद्ध है और वह अधिक समय धारण करने योग्य भी नहीं होता है। अतः 'स्वयं का पलाशक' यह कथन 'मात्रक' के लिए समझाना उपयुक्त है एवं मात्रक रखना आगम सम्मत भी है।

-दशा. द. 8

सूत्र के विधान से ही ऐसा ज्ञात होता है कि वे भिक्षु यदि पात्र की उनोदरी करने वाले हो तो स्वयं के मात्रक में, हाथ में या खोबे (अंजली) में लेकर भी खा सकते हैं।

चौदह पूर्वी श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा रचित इस व्यवहार सूत्र में पात्र की दृष्टि से तीन नाम कहे गये हैं। इससे यह फलित होता है कि भिक्षु सामान्यतया भी अनेक पात्र रख सकता है। अतः एक पात्र ही रखने की एकांतिक परम्परा का ऐतिहासिक कथन आगम सम्मत नहीं कहा जा सकता। अर्थात् कई गतानुगतिक इतिहासज्ञ पंडित कह देते हैं कि पहले जैन साधु सभी एक पात्र ही रखते थे अनेक पात्र रखने की परम्परा शिथिलाचार से प्रारम्भ हुई। किन्तु ऐसे कथन की प्रस्तुत सूत्र से कसौटी की जाय तो वह निरर्थक, निराधार एवं एकांतिक प्ररूपण ही प्रतीत होगा। यदि ऐसा कहा जाय कि पहले जैन साधु अकेले भी रहते थे अचेल भी रहते थे। वे क्रमिक साधना करते थे। एक पात्र रखने वाले भी तपस्वी भिक्षु होते थे। तो यह अनैकांतिक प्ररूपण होगा एवं आगम सम्मत होगा।

व्यवहार – उद्देशक 5 सूत्र 19, 20

1. साधु-साध्वी की परस्पर सेवा आलोचना-

बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक में बारह सांभोगिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियों के साथ साधु को छः सांभोगिक व्यवहार रखना कहा गया है। तदनुसार साध्वियों के साथ एक मांडलिक आहार का व्यवहार नहीं होता है तथा आगाढ़ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी नहीं होता है तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा में होने से और एक गच्छ वाले होने से सांभोगिक कहे जाते हैं।

ऐसे सांभोगिक साधु-साध्वियों के लिए भी आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि परस्पर में करना निषिद्ध है अर्थात् साधु अपने दोषों की आलोचना प्रायश्चित्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि के पास ही करे और साध्वियां अपनी आलोचना प्रायश्चित्त प्रवर्त्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियों के पास ही करे, यह विधि मार्ग या उत्सर्ग मार्ग है।

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण में साधु या साध्वियों में कभी आलोचना-श्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के साधु-साध्वियों को भी परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

परस्पर आलोचना का दुष्फल बताते हुए भाष्य में कहा गया है कि साधु या साध्वी को कभी चतुर्थ व्रत भंग सम्बन्धी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी काम वासना से पराभूत हो तो ऐसे अवसर पर उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल सकता है और वह कह सकता है कि 'तुम्हें प्रायश्चित्त तो लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जायेगा। इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य दोषों की आलोचना करते समय भी एकान्त में पुनः पुनः साधु-साध्वी का सम्पर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

ऐसे ही कारणों से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय आगमों में साधु-साध्वी का परस्पर सभी प्रकार का सम्पर्क वर्जित है। इसलिए उन्हें एक-दूसरे के उपाश्रय में सामान्य वार्तालाप हेतु या केवल दर्शन करने हेतु अथवा परम्परा पालन के लिये नहीं जाना चाहिए।

स्थानांगसूत्र निर्दिष्ट सेवा आदि परिस्थितियों से जाना तो आगम सम्मत है। साधु-साध्वियों के परस्पर सम्पर्क निषेध का विशेष वर्णन बृह. उ. 3 सूत्र एक के विवेचन में देखें। उस सूत्र में परस्पर एक दूसरे के उपाश्रय में बैठने-खड़े रहने आदि अनेक कार्यों का निषेध है।

साधु-साध्वी के शरीर सम्बन्धी और उपकरण सम्बन्धी जो भी आवश्यक कार्य हो वह प्रथम तो स्वयं ही करना चाहिए और कभी कोई कार्य साधु अन्य साधुओं से और साध्वियां अन्य साध्वियों से भी करवा सकती है, यह विधि मार्ग है।

रोग आदि कारणों से या किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त होने के कारण असमर्थ होने से परिस्थितिवश विवेकपूर्वक साधु-साध्वी परस्पर भी अपना कार्य करवा सकते हैं, यह अपवाद मार्ग है।

अतः विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए।

इन सूत्रों के पारस्परिक व्यवहारों के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियों से अति सम्पर्क, मोहवृद्धि होने से कभी ब्रह्मचर्य में असमाधि उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार के परस्पर अनावश्यक अति सम्पर्क को देखकर जन साधारण में कई प्रकार की कुशंकाएं उत्पन्न हो सकती है।

अतः सूत्रोक्त विधान के अनुसार ही साधु-साध्वियों को आचरण करना चाहिए एवं परस्पर सेवा या आलोचना आदि नहीं करना या नहीं करवाना चाहिए।

परस्पर किये जाने वाले सेवा-कार्य-

(1) आहार पानी लाकर देना या लेना अथवा निमन्त्रण करना।

(2) वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की याचना करके लाकर देना या स्वयं के याचित उपकरण देना।

(3) उपकरणों का परिकर्म कार्य-सीना, जोड़ना, रोगानादि लगाना।

(4) वस्त्र, रजोहरण आदि धोना।

(5) रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना।

(6) प्रतिलेखन आदि कर देना।

इत्यादि अनेक कार्य यथासम्भव समझ लेने चाहिए। उन्हें आगाढ़ परिस्थितियों के बिना परस्पर करना- करवाना साधु- साध्वियों को नहीं कल्पता है एवं करने- करवाने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आचार्य आदि पदवीधरों के भी प्रतिलेखना आदि सेवा कार्य केवल भक्ति प्रदर्शित करने के लिये साध्वियां नहीं कर सकती है। यदि आचार्य आदि इस तरह साध्वियों से अपना कार्य अकारण करवायें तो वे भी गुरु चौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि साथ में रहने वाले साधु जो सेवाकार्य कर सकते हों तो साध्वियों से नहीं कराना चाहिए उसी प्रकार साध्वियों को भी जब तक अन्य साध्वियां करने वाली हो तब तक साधुओं से अपना कोई भी कार्य नहीं करवाना चाहिए।

व्यवहार - उद्देशक 6 सूत्र 4-5

4. गीतार्थ बहुश्रुत के बिना रहने का निषेध-

इन सूत्रों में आचारांग एवं निशीथ सूत्र अर्थ सहित कंठस्थ धारण नहीं करने वाले अबहुश्रुत भिक्षुओं को 'अगडसुय' अकृतसूत्र कहा गया है अर्थात् प्रमुख बनकर विचरण करने की योग्यता प्राप्ति के लिए आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांग और निशीथ सूत्र का अध्ययन एवं कंठस्थ धारण नहीं करने वाला भिक्षु आगमिक शब्दों में 'अगडसुया' कहा गया है।

ऐसे एक या अनेक भिक्षुओं के विचरण करने का निषेध उद्देशक तीन के प्रथम सूत्र में किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी ग्रामादि में ऐसे अकृतसूत्री भिक्षुओं को छोड़कर बहुश्रुत भिक्षु अन्यत्र चला जाय तो वे अगीतार्थ भिक्षु वहां रह भी नहीं सकते।

इसी विषय को उपाश्रय की अवस्थिति के विकल्पों से सूत्र में स्पष्ट किया गया है यदि उपाश्रय में निकलने का तथा उन में प्रवेश करने का मार्ग एक ही हो तो वहां 'अगडसुयों' (अगीतार्थों) को एक दिन भी रहना नहीं कल्पता है।

यदि उस उपाश्रय में जाने आने के अनेक मार्ग हो तो अगीतार्थों को एक या दो दिन रहना कल्पता है। तीसरे दिन रहने पर उन्हें प्रायश्चित्त आता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक योग्य भिक्षु को यथासमय बहुश्रुत होने योग्य श्रुत का अध्ययन कर एवं उन्हें कंठस्थ धारण कर पूर्ण योग्यता सम्पन्न हो जाना चाहिए, जिससे यथावसर विचरण एवं गणधारण आदि किये जा सकें। क्योंकि इन सूत्रों में अनेक बहुश्रुतों को साथ में रहने एवं विचरण करने का स्पष्टतः निषेध किया गया है और साथ ही इस मर्यादा को भंग करने वालों को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः प्रत्येक नवदीक्षित योग्य भिक्षु का एवं उनके गणप्रमुख आचार्य, उपाध्याय आदि का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे अन्य रूचियों एवं प्रवृत्तियों को प्रमुखता न देकर आगमोक्त अध्ययन अध्यापन को प्रमुखता देवे एवं संयमविधियों में पूर्ण कुशल बनने व बनाने का ध्यान रखें। आचार कुशल एवं श्रुतसम्पन्न बने बिना किसी भी भिक्षु को अलग विचरने में या अन्य कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

अध्ययन सम्बन्धी आगम सम्मत अनेक प्रकार की जानकारी इसी में प्रारंभ में दी गई है। उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन मनन कर आगमानुसार श्रुत-अध्ययन करने एवं करवाने का प्रमुख लक्ष्य बनाना चाहिए। ऐसा करने पर ही जिनाज्ञा का यथोक्त पालन हो सकता है तथा साधक-आत्माओं का एवं जिनशासन का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

व्यवहार - उद्देशक 7 सूत्र 3-4

5. सम्भोग विच्छेद कब-

ठाणांग सूत्र अ. 3 तथा अ. 9 में सम्भोग विच्छेद करने के कारण कहे गये हैं और भाष्य में भी ऐसे अनेक कारण कहे हैं।

उनका सारांश यह है कि - 1. महाव्रत, समिति, गुप्ति एवं गण समाचारी में उपेक्षापूर्वक चौथी बार दोष लगाने पर, 2. पार्श्वस्थादि के साथ बार-बार संसर्ग करने पर तथा, 3. गुरु आदि के प्रति विरोधभाव रखने पर उस साधु-साध्वी के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है।

व्यवहार - उद्देशक 8 सूत्र 5

6. वृद्धावस्था का एकल विहार-

इस सूत्र में ऐसे एकांकी विचरण करने वाले भिक्षु का वर्णन है जो कि आचार. श्रु. 1 अ. 6 उ. 2, सुय. श्रु 1, अ. 10, उत्तरा. अ. 32 गा. 5 तथा दशवै. चू. 2 गा. 10 में निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकल विहारी है। साथ ही शरीर की अपेक्षा वृद्ध या अतिवृद्ध है, स्थविरकल्पी सामान्य भिक्षु है और कर्म संयोग से वृद्धावस्था तक भी वह अकेला रहकर यथाशक्ति संयम पालन कर रहा है।

शारीरिक कारणों से उसे अनेक औपग्रहिक उपकरण रखने पड़ रहे हैं, उन सभी उपकरणों को साथ लेकर गोचरी आदि के लिए वह नहीं जा सकता है। उसे असुरक्षित स्थान रहने को मिला हो तो वहां उन उपकरणों को छोड़कर जाने पर बच्चे या कुत्ते उन्हें तोड़-फोड़ दे या लेकर चले जाएं अथवा चोर चुरा लें इत्यादि कारणों से सूत्र में यह विधान किया गया है कि वह वृद्ध भिक्षु अपने उपकरणों की सुरक्षा के लिए किसी को नियुक्त करके जाए या पास में ही कोई बैठा हो तो उसे सूचित करके जाए और पुनः आने पर उसे सूचित कर दें कि 'मैं आ गया हूं' उसके बाद ही उन उपकरणों को ग्रहण करे।

शारीरिक स्थितियों से विवश अकेले वृद्ध भिक्षु के लिए भी इस सूत्र में जो अपवादों का विधान किया गया है इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार की या जिनशासन की अत्यन्त उदार एवं अनेकांत दृष्टि है किन्तु आजकल के जिनमतानुयायी ऐसी आत्माओं के प्रति निर्दयवृत्ति एवं घृणा की भावना रखते हैं यह अफसोस की बात है।

सूत्रोक्त वृद्ध भिक्षु चलते समय सहारे के लिए दंड या लाठी रखता है, गर्मी आदि से रक्षा के लिए छत्र रखता है। मल-मूत्र कफ आदि विकारों के कारण अनेक मात्रक रखता है, मिट्टी के घड़े आदि भांड भी रखता है, अतिरिक्त वस्त्र-पात्र रखता है, मच्छर आदि के कारण मच्छरदानी भी रखता है, बैठने में सहारे के लिए भृसिकाकाष्ट आसन रखता है, चर्मखंड, चर्मकोष (जूता आदि) एवं चर्मछेदक भी रखता है अर्थात् अपने आवश्यक उपयोगी कोई भी उपकरण रखता है, उनमें से जिन उपकरणों की गोचरी जाने के समय आवश्यकता न हो, उनके लिए सूत्र में यह विधान किया गया है।

विशिष्ट साधना वाले पडिमाधारी या जिनकल्पी भिक्षु इन औपग्रहिक उपकरण रखने आदि के अपवादों का सेवन नहीं करते हैं और गच्छगत भिक्षु की ऐसी सूत्रोक्त परिस्थिति होना संभव भी नहीं है। क्योंकि गच्छ में अनेक वैयावृत्य करने वाले होते हैं।

अतः परिस्थितिवश सामान्य बहुश्रुत भिक्षु भी जीवन-पर्यन्त एकाकी रहकर यथाशक्ति संयम मर्यादा का पालन करते हुए विचरण कर सकता है, यह इस सूत्र से स्पष्ट होता है।

व्यवहार - उद्देशक 6 सूत्र 6-7

7. अकेले भिक्षु का उपाश्रय-

पूर्व सूत्रद्विक में अकृतसूत्री-अगीतार्थ भिक्षुओं के निवास से सम्बन्धित कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्धिक में बहुश्रुत-गीतार्थ अकेले भिक्षु को ग्रामादि में किस प्रकार के उपाश्रय में किस प्रकार से रहना या नहीं रहना, यह विधान किया गया है।

भाष्य में अगीतार्थ से सम्बन्धित सूत्रों का और इन एकाकी भिक्षुओं से सम्बन्धित सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए इन्हें गच्छ की निश्रागत होना कहा है और 'एगवगड़ा' आदि विशेषणों को उपश्रयों से सम्बन्धित करके विस्तृत विवेचन किया गया है। किन्तु उपलब्ध प्रत्तियों में 'उवस्सय ' शब्द लिपि दोष से छूट गया है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए यहां 'उवस्सय' शब्द को रखते हुए अर्थ एवं विवेचन किया है।

प्रस्तुत सूत्रद्धिक से यह फलित होता है कि-

1. बहुश्रुत एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु को अनेक द्वार एवं अनेक मार्ग वाले उपाश्रय में निवास नहीं करना चाहिए।

2. किन्तु एक द्वार एक मार्ग वाले उपाश्रय में बहुश्रुत एकाकी भिक्षु रह सकता है।

3. एकलविहारी भिक्षु को उभयकाल (सोते और उठते समय अथवा दिन में और रात्रि में) वैराग्य एवं संयमगुणों को पुष्ट करने वाली धर्म-जागरणा से धर्म-भावना की वृद्धि करते हुए रहना चाहिए।

4. अल्पश्रुत अल्प आगमज्ञ- अगीतार्थ भिक्षु को किसी भी प्रकार के उपाश्रय में अकेला नहीं रहना चाहिए।

गीतार्थ बहुश्रुत भिक्षु को अकेला रहना तो इस सूत्र से या अन्य आगमविधानों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, तथापि किस उपाश्रय में निवास करना या न करना अथवा किस तरह जागरूक रहना, यह विधान करना इन सूत्रों का आशय है।

विभिन्न प्रकार के उपाश्रयों में गीतार्थ भिक्षु के अकेले रहने पर अथवा अनेक अगीतार्थों के रहने पर किन-किन दोषों की सम्भावना रहती है, यह समझने के लिए जिज्ञासुओं को भाष्य का अवलोकन करना चाहिए।

उसी आशय का कुछ स्पष्टीकरण आगे के सूत्रों में स्वयं आगमकार ने किया है।

व्यव. भाष्य में इस उद्देशक का सार 'मुनि माणेक' ने गुजराती भाषा में दिया है, उसमें भी इन चारों सूत्रों का अर्थ उपाश्रय में सम्बन्धित किया है।

व्यवहार – उद्देशक 9 सूत्र 40

8. साध्वी की स्वतन्त्र गोचरी–

इन सूत्रों में चार प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जिनकी आराधना साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं।

अंतगडसूत्र के आठवें वर्ग में सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना करने का वर्णन है।

इन प्रतिमाओं में साध्वी भी स्वयं अपनी गोचरी लाती है। जिसमें निर्धारित दिनों तक मिशा दत्ति की मर्यादा का पालन किया जाता है। इन प्रतिमाओं में निर्धारित दत्तियों से कम दत्तियां ग्रहण की जा सकती है या अनशन रूप तपस्या भी की जा सकती है। किन्तु किसी भी कारण से मर्यादा से अधिक दत्ति ग्रहण नहीं की जा सकती है। इन प्रतिमाओं में उपवास आदि तप करना आवश्यक नहीं होता है, स्वाभाविक ही प्रायः सदा उणोदरी तप हो जाता है।

वृहत्कल्प उ. 5 में साध्वी को अकेले गोचरी जाने का भी निषेध किया है। अतः इन प्रतिमाओ में स्वतन्त्र गोचरी लाने वाली साध्वी के साथ अन्य साध्वियों को रहना आवश्यक है, किन्तु गोचरी तो वह स्वयं ही अपनी अकेली की करती है।

इन प्रतिमाओं को भी सूत्र में 'भिक्षु प्रतिमा' शब्द से ही सूचित किया गया है। फिर भी इनको धारण करने में बारह भिक्षु प्रतिमाओं के समान विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है।

जब साध्वी भी गच्छ में रहते हुए स्वतन्त्र गोचरी एवं अभिग्रह आदि कर सकती है तब गच्छ में रहते हुए साधुओं का स्वतन्त्र गोचरी एवं अभिग्रह आदि करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनेक आगमों में साधुओं के स्वतन्त्र गोचरी जाने के वर्णन भी मिलते हैं। अतः आज्ञापूर्वक स्वतन्त्र गोचरी करना दूषण नहीं है अपितु विशिष्ट संयम उन्नति का गुण ही है, ऐसा समझना चाहिए। आजकल अलग गोचरी को एकांत अवगुण की दृष्टि से देखा जाता है वह उचित नहीं है।

व्यवहार – उद्देशक 6 सूत्र 1

9. गोचरी गमन विवेक–

इस सूत्रांश में यह बताया गया है कि पारिवारिक लोगों के घर में गोचरी के लिए प्रवेश करने के बाद कोई भी खाद्य-पदार्थ निष्पादित हो या चूल्हे पर से चावल-दाल या रोटी-दूध आदि कोई भी खाद्य पदार्थ हटाया जाए तो उसे नहीं लेना चाहिए। उस पदार्थ के हटाने में साधु का निमित्त हो या न हो, ज्ञात कुल में ऐसे पदार्थ अग्राह्य हैं।

जहां घर में प्रवेश करने के पहले ही जो पदार्थ निष्पन्न हो या चूल्हे पर से उतरा हुआ हो वही लेना चाहिए।

अपरिचित या अल्पपरिचित घरों में उक्त पदार्थ लेने का सूत्र में निषेध नहीं है।

इसका कारण यह है कि अनुरागी ज्ञातिजन आदि भक्तिवश कभी साधु के निमित्त भी यह प्रवृत्ति कर सकते हैं जिससे अग्निकाय की विराधना होना संभव है किन्तु अल्पपरिचित या अल्पानुरागी घरों में उक्त दोष की संभावना नहीं रहती है। अतः उन कुलों में उक्त नियम की उपयोगिता नहीं है। इसीलिए यह विधान आगमों में अनेक स्थलों में केवल ज्ञातिजनों के कुल के साथ ही जोड़ा गया है। स्वतन्त्र रूप से नहीं कहा गया है।

व्यवहार - उद्देशक 7 सूत्र 11-12

10. क्षमापना भाव-

क्षमापना का धार्मिक जीवन में इतना अधिक महत्व है कि यदि किसी के साथ क्षमापना भाव न आए और ऐसे भावों में काल धर्म प्राप्त हो जाय तो वह विराधक हो जाता है।

यह क्षमापना, द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार का है-

(1) द्रव्य से यदि किसी के प्रति नाराजगी का भाव या रोषभाव हो तो उसे प्रत्यक्ष में कहना कि - ' मैं आपको क्षमा करता हूं और आपके प्रति प्रसन्न-भाव धारण करता हूं।' यदि कोई व्यक्ति किसी की भूल के कारण रूष्ट हो तो उससे कहना कि - 'मेरी गलती हुई आप क्षमा करें, पुनः ऐसा व्यवहार नहीं करूंगा।'

(2) भाव से- शान्ति सरलता एवं नम्रता से अपने हृदय को पूर्ण पवित्र बना लेना चाहिए।

इस प्रकार भावों की शुद्धि एवं हृदय की पवित्रता के साथ व्यवहार से क्षमा और क्षमा करना मांगना' यह पूर्ण क्षमापना विधि है। परिस्थितिवश ऐसा सम्भव न हो तो बृह. उ. 1 सू. 34 के अनुसार स्वयं को पूर्ण उपशांत कर लेने से भी आराधना हो सकती है, किन्तु यदि अंतर हृदय में शान्ति, शुद्धि न हुई हो तो बाह्य विधि से संलेखना, 15 दिन का संथारा और क्षमापना कर लेने पर भी आराधना नहीं हो सकती है, ऐसा भगवती सूत्र श. 13 उ. 6 में आये अभीचिकुमार के वर्णन से स्पष्ट होता है। अतः स्वयं के अंतर हृदय की शुद्धि, उपशांति एवं कषाय कलुष भावों की या नाराजी के भावों की पूर्ण निवृत्ति होना परमावश्यक है। ऐसा होने पर ही द्रव्य भाव से परिपूर्ण क्षमापना हो सकती है।

उद्देशक 10 सूत्र 1-2

11. चंद्र प्रतिमाओं के विशिष्ट नियम-

ये दोनों चंद्र प्रतिमाएं विशिष्ट योग्यता वाला भिक्षु ही धारण कर सकता है। इन प्रतिमाओं में आहार पानी की दत्तियां सूत्रानुसार क्रमशः घटाते बढ़ाते हुए ग्रहण की जाती है। आहार पानी की दत्तियों की संख्या के साथ-साथ इन प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु को निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक होता है :

(1) शारीरिक ममत्व का त्याग करना अर्थात् नियमित परिमित आहार के अतिरिक्त औषध भेषज के सेवन का और सभी प्रकार के शरीर परिकर्म का त्याग करना।

(2) देव मनुष्य या तिर्यञ्च द्वारा किए गए उपसर्गों का प्रतिकार न करना और न उनसे बचने का प्रयत्न करना।

(3) किसी के वंदन या आदर सत्कार किये जाने पर प्रसन्न न होना अपितु समभाव में लीन रहना।

(4) जिस मार्ग में या जिस घर के बाहर पशु या पक्षी हों तो पशुओं के चारा चर लेने के बाद और पक्षियों के चुग्गा चुग लेने के बाद पड़िमाधारी को आहार लेने के लिए घर में प्रवेश करना।

(5) पड़िमाधारी के आने की सूचना या जानकारी न हो या उनकी कोई प्रतीक्षा न करता हो ऐसे अज्ञात घरों से आहार ग्रहण करना।

(6) ऊंछ-विगयरहित रूक्ष आहार ग्रहण करना।

(7) शुद्धोपहृत-लेप रहित आहारादि ग्रहण करना।

(8) अन्य भिक्षु, श्रमणादि जहां पर खड़े हो वहां भिक्षा के लिये न जाना।

(9) एक व्यक्ति का आहार हो उसमें से लेना अधिक व्यक्तियों के आहार में से ना लेना।

(10) किसी भी गर्भवती स्त्री से भिक्षा न लेना।

(11) जो छोटे बच्चे को लिए हुए हो उससे भिक्षा न लेना।

(12) जो स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो उससे भिक्षा न लेना।

(13) घर की देहली के अतिरिक्त अन्य कहीं पर भी खड़े हुए से भिक्षा नहीं लेना।

(14) देहली के एक पांव अंदर और एक पांव बाहर रखकर बैठे हुए या खड़े हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

एषणां के 42 दोष एवं अन्य आगमोक्त सभी विधियों का पालन करना तो इन प्रतिमाधारी के लिए भी आवश्यक ही समझना चाहिये।

इन दोनों चन्द्र प्रतिमाओं की आराधना एक-एक मास में की जाती है।

उद्देशक 8 सूत्र 17

12. ऊणोदरी तप विश्लेषण-

भगवती सूत्र शतक 7 तथा श. 25 एवं उववाई सूत्र में भी ऊनोदरी तप के विषय में वर्णन है। ' आहार ऊणोदरी' के स्वरूप के साथ ही वहां उपकरण ऊणोदरी आदि भेदों का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

उत्तरा. अ. 30 के तप-वर्णन में आहार-ऊणोदरी का ही कथन किया गया है। उपकरण-ऊणोदरी आदि भेदों की विवक्षा वहां नहीं की है। वहां पर आहार-ऊणोदरी के 5 भेद कहे हैं-(1) द्रव्य, (2) क्षेत्र, (3) काल, (4) भाव, और (5) पर्याय।

(1) द्रव्य से- अपनी पूर्ण खुराक से कम खाना, (2) क्षेत्र से- ग्रामादि क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रह करना अथवा भिक्षाचरी में भ्रमण करने के मार्ग का पेटी आदि छः आकार में अभिग्रह करना।

(3) काल से - गोचरी लाने व खाने का पहर, घंटा आदि रूप में अभिग्रह करना।

(4) भाव से - घर में रहे पदार्थों से या स्त्री पुरुषों के वर्ण, वस्त्र, भाव आदि से अभिग्रह करना।

(5) पर्याय से - उपरोक्त द्रव्यादि चार प्रकारों में से एक-एक का अभिग्रहण करना उन- उन भेदों में समाविष्ट है और इन चार में से अनेक अभिग्रह एक साथ करना 'पर्याय ऊणोदरी' है।

प्रस्तुत सूत्र में इन पांचों में से केवल प्रथम द्रव्य उणोदरी का निम्न पांच भेदों द्वारा वर्णन किया गया है।

(1) अल्पाहार- एक कवल, दो कवल यावत् आठ कवल प्रमाण आहार करने पर अल्पाहार ऊणोदरी होती है।

(2) अपार्द्ध-ऊणोदरी- नौ से लेकर बारह कवल अथवा पन्द्रह कवल प्रमाण आहार करने पर आधी खुराक से कम आहार किया जाता है। उसे 'अपार्द्ध ऊणोदरी' कहते हैं अर्थात् पहली अल्पाहार रूप ऊणोदरी है और दूसरी आधी खुराक से कम आहार करने रूप ऊणोदरी है।

(3) द्विभाग प्राप्त ऊणोदरी (अर्द्ध ऊणोदरी)- 16 कवल प्रमाण आहार करने पर अर्द्ध खुराक का आहार किया जाता है जो पूर्ण खुराक के चार भाग विवक्षित करने पर दो भाग रूप होती है। अतः इसे सूत्र में द्विभाग प्राप्त 'ऊणोदरी कहा है और दो भाग की ऊणोदरी होने से इसे 'अर्द्ध ऊणोदरी' भी कह सकते हैं।

(4) त्रिभाग प्राप्त-अंशिका ऊणोदरी :- 24 कवल (27 से 30 कवल) प्रमाण आहार करने पर त्रिभाग का आहार होता है और एक भाग आहार की ऊणोदरी होती है। इसके लिए सूत्र में ' अंशिका ऊणोदरी' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें आहार के चार भाग में से तीन भाग का आहार किया जाता है। अतः यह त्रिभाग प्राप्त आहार रूप ऊणोदरी है। अथवा इसे 'पाव ऊणोदरी' भी कह सकते हैं। इस स्थल पर लिपि दोष से प्रतियों में पाठ भेद हो गये हैं। अतः यहां अन्य आगमों से पाठ सुधारा गया है। प्रतियों में 'ओमोयरिए' 'पत्तो मोयरिए' ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं।

(5) किंचित-ऊणोदरी :- 31 कवल प्रमाण आहार करने पर एक कवल की ही ऊणोदरी होती है जो 32 कवल आहार की अपेक्षा अल्प होने से इसे 'किंचित् ऊणोदरी' कहा गया है।

सूत्र के अंतिम अंश से यह स्पष्ट किया गया है कि इन पांच में से किसी भी प्रकार की ऊणोदरी करने वाला भिक्षु 'प्रकामभोजी' (भरपेट खाने वाला) नहीं होता।

32 कवल रूप पूर्ण आहार करने वाला 'प्रमाण प्राप्त भोजी' कहा गया है। उसके किंचित् भी ऊणोदरी नहीं होती है।

भिक्षु को इन्द्रिय संयम एवं ब्रह्मचर्य समाधि के लिए सदा ऊणोदरी तप करना आवश्यक है अर्थात् उसे कभी भरपेट आहार नहीं करना चाहिए।

आचा. श्रु 1 अ. 9 उ. 4 में भगवान महावीर स्वामी के आहार-विहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान स्वस्थ अवस्था में भी सदा ऊणोदरी तप युक्त आहार करते थे। यथा-

'ओमोयरियं चाएइ, अपुट्ठे वि भगवं रोगेहि।'

नीति में भी कहा गया है कि-

संत सती ने सूरमा, चौथी विधवा नार।
ऐता तो भूखा भला, धाया करे बिगाड़।।

प्रस्तुत सूत्र में कवल प्रमाण को स्पष्ट करने के लिए 'कुक्कुटि-अंडकप्रमाण' ऐसा विशेषण लगाया गया है। इस विषय में व्याख्या ग्रन्थों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किये गये

(1) निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भागो तत् कुक्कटी प्रमाणे- अपनी आहार की मात्रा का जो सदा बत्तीसवां भाग होता है वह कुक्कटी अंडक प्रमाण अर्थात् उस दिन का कवल कहा जाता है।

(2) कुत्सिता कुटी-कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीर रूपायाः कुक्कुट्या अंडकमिव अंडक मुखं। = अशुचि मय यह शरीर ही कुक्कुटी है, उसका जो मुख है वह कुक्कुटी का अंडक कहा गया है।

(3) यावतप्रमाणमात्रैण मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति तत्स्थल कुक्कुट अंडक-प्रमाणम्। = जितना बड़ा कवल मुख में रखने पर मुख विकृत न दिखे उतने प्रमाण का एक कवल समझना चाहिए। उस कवल के समावेश के लिए जो मुख का भीतरी आकार बनता है। उसे कुक्कुटी अंडक प्रमाण समझना चाहिए।

(4) अयमन्यः विकल्पः कुक्कुट अंडकोपमे कवलः = अथवा कुकड़ी के अण्डे के प्रमाण जितना कवल, यह भी अर्थ का एक विकल्प है।

'ऊणोयरिया' -अभि. रा. कोष भा. 2 पृ. 1132.

उपर्युक्त तीन व्याख्यास्थलों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि'कुक्कुडिअंडग' इतना शब्द न होने पर भी सूत्राशय स्पष्ट हो जाता है और यह शब्द भ्रमोत्पादक भी है।

अतः यह शब्द कभी किसी के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया हो व्याख्याकारों ने इसे मौलिक पाठ समझ कर ज्यों-त्यों करके संगति करने की कोशिश की हो।

व्याख्या में यह भी कहा गया है कि एक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'प्रकामभोजी' है अनेक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'निकामभोजी' है और 32 कवल से भी अधिक खाने वाला 'अतिभोजी' है।

शंका– यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है बत्तीस कवल के आहार से जो यह सम्पूर्ण माप कहा गया है वह प्रत्येक बार के भोजन की अपेक्षा से है या अनेक बार के भोजन की अपेक्षा से है? तथा दूध छाछ आदि पेय पदार्थों का समावेश इन 32 कवल में किस प्रकार होता है?

समाधान - आचारशास्त्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन में एक बार भोजन करना ही भिक्षु का शुद्ध उत्सर्ग आचार है। आगमों में अनेक जगह अन्य समय में आहार करने का जो विधान है उसे आपवादिक विधान समझना चाहिए। आपवादिक आचरण को सदा के लिए प्रवृत्ति रूप में स्वीकार कर लेना शिथिलाचार है। अतः कारणवश अनेक बार या सुबह-शाम आहार करना ही अपवाद मार्ग है। उत्सर्ग मार्ग तो एक बार खाने का ही है। अतः आगमोक्त एक बार के औत्सर्गिक आहार करने की अपेक्षा यह विधान है।

जितने आहार से पेट पूर्ण भर जाय, पूर्ण तृप्ति हो जाय अथवा जिससे भूख रहने का या और कुछ खाने का मन न हो, ऐसी सम्पूर्ण मात्रा कवल में विभाजित कर लेना चाहिए।

इसमें दूध, रोटी, फल आदि सभी को समाविष्ट समझना चाहिए। अनुमान से जितने-जितने कवल प्रमाण भूख रखी जाय उतनी-उतनी उणोदरी समझनी चाहिए।

सामान्यतया उत्सर्ग मार्ग से भिक्षु का आहार विगय रहित होता है। अतः रोटी आदि की अपेक्षा 32 कवल समझना और भी सरल हो जाता है।

इसी के आधार से यह फलित होता है कि कारण से अनेक बार किए जाने वाले आहार का कुल योग 32 कवल होना चाहिए। अतः अनेक बार आहार करना हो तो 32 कवलों को विभाजित करके समझ लेना चाहिए।

अनेक दिनों तक एक वक्त विगय रहित सामान्य आहार करके कुल खुराक का माप रोटी की संख्या में कायम किया जा सकता है। फिर उसे योग्य अनुमान के द्वारा अन्य आहार में विभाजित कर लेना चाहिए। छाछ और पानी को आहार में नहीं गिनना चाहिए।

।। छेद सूत्र परिशिष्ट खंड एक समाप्त ।।

विषय सूची

1. प्रतिलेखन के समय का परिज्ञान
2. पात्र प्रतिलेखन दो बार (सप्रमाण)
3. धोवण पानी और गर्म पानी का ज्ञान विज्ञान
4. मकान एवं पाट की शुद्ध गवेषणा सीखो
5. ऊपर की मंजिल में साधु का ठहरना एवं डोरी पर कपड़ा सुखाना
6. अकल्पनीय शय्या उपाश्रय
7. निवास संबंधी कल्प मर्यादा और अपवाद विचार
8. भिक्षु का नौका विहार एवं वाहन उपयोग
9. स्त्री परिषद में रात्रि व्याख्यान विचारणा
10. पात्र के बंधन सूत्रों का वास्तविक आशय
11. पुस्तक रखने सम्बन्धी सत्य हकीकत
12. अनुकम्पा में दोष के भ्रम का निवारण
13. संभोग प्रत्ययिक क्रिया का अस्तित्त्व
14. अनुमोदन क्रिया का स्पष्टीकरण
15. सचित्त धान्य खाने का प्रायश्चित्त
16. अचित्त नमक और आहार-अणाहार, रात्रि भोजन परिज्ञान (विडलवण और उद्भिज लवण का वास्तविक अर्थ)
17. गृहस्थ के बर्तन में खाना और वस्त्र धोना
18. सरीखे 54 सूत्रों का संकलनात्मक परिचय
19. दंत मंजन सम्बन्धी उत्सर्ग अपवाद और विवेक ज्ञान
20. मैल परीषह जीतने के उत्सर्ग अपवाद का विवेक ज्ञान
21. विभूषा वृत्ति सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान
22. मस्तक ढांकने का प्रायश्चित्त विधान
23. साधु साध्वियों के भंडोपकरणों का ज्ञान विज्ञान (16 उपकरणों का चर्चा प्रमाण सहित व्याख्यान)
24. गुरू आदि की सूत्रोक्त आशातनाओं में अपवाद
25. पूर्व ज्ञान के बिना एकलविहार (आगम प्रमाण)
26. 32 अस्वाध्याय का स्पष्टीकरण

छेद सूत्र
परिशिष्ट खण्ड -2
निशीथ उद्देशक 2 सूत्र 57

प्रकरण-1

प्रतिलेखन के समय का परिज्ञान-

दोनों समय प्रतिलेखन-

साधु को अपने सभी उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करना आवश्यक है। छोटे से उपकरण की प्रतिलेखना में भी यदि उपेक्षा करे तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

चूर्णिकार ने प्रतिलेखन नहीं करने से जीवों की विराधना एवं बिच्छु आदि से . आत्मविराधना आदि अनेक दोष कहे हैं। अंत में उपसंहार करते हुए कहा है कि

'जम्हा एते दोसा तम्हा सब्बोवहि दुसंझं पडिलेहियव्वो।'

-नि. भा. गा. 1436

अर्थ- जब इतने दोष है तो भिक्षु को सभी उपकरणों की दोनों समय प्रतिलेखना अवश्य करनी चाहिए।

प्रतिलेखन प्रारम्भ का समय-

'भाष्यकार ने प्रतिलेखन का समय जिनकल्पी के सूर्योदय के बाद का ही कहा है किन्तु स्थविरकल्पी सूर्योदय के कुछ समय पूर्व भी प्रतिलेखना कर सकते हैं, ऐसा कहा है।

गाथा 1425 में कहा गया है कि सूर्योदय से पूर्व निम्नोक्त दस प्रकार की उपधियों का प्रतिलेखन किया जा सकता है।

मुहपत्तिय-रयहरणे कप्पतिग णिसेज चोलपट्टे य।
संथारूत्तरपट्टे य, पेक्खिते जुहग्गमे सूरे ।।

मुंहपत्ति, रजोहरण, तीन चद्दर, दो निषद्या, चोलपट्टक, संथारा व उत्तरपट्ट, इन दस की प्रतिलेखना होने पर सूर्योदय हो।

चूर्णि में 'अण्णे भणति' ऐसा कहकर ग्यारहवां 'दंड' भी कहा गया है।

सम्भव है कि यह गाथा तेरहवीं शताब्दी के बाद रचे गये धर्मप्रज्ञप्ति आदि किसी ग्रन्थ से यहां ली गई हो।

क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 26 गा. 8 व 21 में सूर्योदय होने पर प्रतिलेखन करने का स्पष्ट विधान है तथा उपरोक्त गाथा 1425 के पूर्व स्वयं भाष्यकार ने दो गाथाओं में कहा है कि रात्रि में प्रतिलेखना नहीं हो सकती है। वे गाथाएं ये हैं।

पडिलेहण पप्फोडण पमज्जणा चेव दिवसओ होंति।
पप्फोडणापमज्जणरतिंपडिलेहणाणत्थि।।1422।।

पडिलेहणा पमज्जण पायादीयाण दिवसओ होइ।
रत्तिपमज्जणापुण, भणियापडिलेहणा णत्थि।।1423।।

राओ व पप्फोडण पमज्जणा य दो संभवंति,
पडिलेहणा न सम्भवति अचक्खुविसयाओ।

यहां अत्यधिक स्पष्ट किया गया है कि प्रतिलेखना दिन में ही होती है, रात्रि में नहीं। अतः सूर्योदय पूर्व 10 प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना का उपरोक्त भाष्य गा. 1425 का निर्देश संदेहास्पद है। अर्थात् अन्य ग्रन्थों से प्रक्षिप्त है या अपवाद परिस्थिति को उत्सर्ग रूप दे दिया गया है।

इस प्रमाण में रात्रि प्रतिक्रमण आदि के समय बारंबार मुंहपति की प्रतिलेखना करना भी उचित नहीं है। अतः वैसी प्रवृति तो प्रतिलेखना की विडंबना करना ही है एवं निरर्थक का प्रमाद रूप नाटक मात्र है।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 26 गाथा 23 में मुंहपत्ति-प्रतिलेखना के बाद गोच्छग की प्रतिलेखना करने का स्पष्ट निर्देश है, जबकि इस 10 उपधि में गोच्छग का कथन ही नहीं किया गया है किन्तु उसे पोन पौरूषी बाद पात्र के प्रतिलेखन के साथ रखा है। इस कारण से भी उत्तराध्ययनसूत्र के मूल पाठ से गाथा 1425 के कथन की संगति नहीं होती है।

उत्तराध्ययन अ. 26 व भाष्य गाथा 1426 में बताया है कि पात्र-प्रतिलेखना दिन की प्रथम पौरषी के चतुर्थ भाग के अवशेष रहने पर करना चाहिए और चरम पौरूषी के प्रारम्भ में ही पात्र प्रतिलेखन करके बांध कर रख देना चाहिए। उसके बाद शेष उपकरणों की भी प्रतिलेखना करके फिर स्वाध्याय करना चाहिए।

एस पढम-चरमपोरिसीसु कालो, तव्विवरीओ अकालो पडिलेहणाए ।।

इस तरह दिन की प्रथम चतुर्थ पोरिषी प्रतिलेखन का काल है और शेष 6 पोरिषी (4 रात्रि की व दो दिन की) प्रतिलेखना के लिए अकाल है। इस व्याख्या से भी सूर्योदय के पूर्व रात्रि की अंतिम पोरिषी का समय प्रतिलेखन का अकाल सिद्ध होता है।

सार- सूर्योदय के पहले प्रतिलेखन की परंपरा जिन गच्छों में प्रचलित है वह आगम सम्मत नहीं है।

प्रकरण – 2

पात्र-प्रतिलेखन दो बार

(एक चर्चास्पद निबन्ध)

जिन शासन आगमों के आधार पर ही सुरक्षित चल रहा है। हमारे लिए भी आज आगम ही सर्वोपरि प्रमाण भूत है। अपने आपको विद्वान समझने वाले कई लोग अपने मान्य धारणा प्रवृत्ति के मोह-दुराग्रह में आगम प्रमाणों की उपेक्षा करके धारणा, परम्परा और प्रवृत्ति को इतना अधिक महत्व दे देते हैं कि उनसे स्वतः आगमों की महान् आशातना हो जाती है एवं सिद्धान्तों के विपरीत प्ररूपणा का महापाप करते हुए भी वे अपने परम्परा और खोटी पकड़ के मोह दुराग्रह में सामान्य सा सरल विषय भी समझ ही नहीं पाते हैं। यह भी जीव की अपनी मान कषाय के कारण होने वाली एक दुर्दशा ही है।

प्रतिलेखन साधु समाचारी का एक प्रमुख आचार है। जिसके लिए मौलिक आगम और उनकी व्यख्याओं में स्पष्ट रूप से सुबह शाम दो बार करने का विधान है। भिक्षु को अपने सभी भंडोपकरणों की सुबह शाम दोनों समय प्रतिलेखना करना आवश्यक होता है।

तदनुसार पात्र भी भिक्षु के आवश्यक उपकरण है उनकी भी दोनों समय प्रतिलेखना करनी चाहिए इसमें कोई विवाद को स्थान ही नहीं है। साथ ही साधु को जो भी उपकरण अपनी निश्राय में (पास में) रखना हो वह उसका भण्डोपकरण ही कहलाएगा और जो भी भण्डोपकरण साधु रखता है वह शरीर संयम के उपयोग के लिए ही रखता है उसकी प्रतिलेखना भी उसे दोनों समय करना आवश्यक समझना चाहिए क्योंकि किसी भी आगम में या उसकी व्याख्या में 'एक बार प्रतिलेखना करना' ऐसा विधान नहीं किया गया है।

कई आगम विपरीत प्रवृत्तिएं तो शिथिलाचार एवं प्रमाद से प्रारम्भ हो जाती है और कई अपवाद रूप परिस्थिति से प्रारम्भ होकर फिर कालांतर से परंपरा बन जाती है। जिसे कभी भेड़ चाल की वृत्ति वाले दुराग्रह में डालकर सिद्धांत बना देते हैं।

फिर भी न्याय का स्थान रूप हमारे प्रमाण भूत आगम मौजूद है। अतः कभी अव्यवस्था एवं उत्तावल से छूटी हुई शाम की पात्र प्रतिलेखना के लिए प्रमाण दिये जा रहे हैं। तटस्थ विद्वान इन प्रमाणों से सही मूल्यांकन करेंगे।

प्रमाणोल्लेख–

(1) आवश्यक सूत्र– श्रमण सूत्र की तीसरी पाटी और उसकी टीका में पात्र का उल्लेख दो बार प्रतिलेखन में है। अभिधान राजेन्द्र कोष 'पडिक्कमण' शब्द पृ. 273।

मूल– 'उभओकालं भंडोवगरणस्स अपडिलेहणाए..........।

टीका- तथा उभय कालं = प्रथम पश्चिम पोरिषी लक्षणं, भाण्डोपकरणस्य = पात्र-वस्त्रादे अप्रत्युप्रेक्षणया दुप्रत्युप्रेक्षणया। तत्र अप्रत्युप्रेक्षणया = मूलत एव चक्षुसा. अनिरक्षणीया........इत्यादि।

यहां सभी भण्डोपकरणों की दो बार प्रतिलेखना करना, यह विधान किया गया है इसमें पात्र भी है और उनके वस्त्रादि भी है। अतःवस्त्र और पात्र की विधि समान समझना।

आवश्यक सूत्र उभयकाल साधुओं को छः आवश्यक सहित करना आवश्यक होता है। उसके चौथे अध्याय के उक्त मूल पाठ में दो बार प्रतिलेखन का स्पष्ट कथन है और इसकी व्याख्या में आचार्य मलयगिरि ने प्रमुख उपकरणों में वस्त्र-पात्र स्पष्ट कहे हैं। अतः पात्र की प्रतिलेखना भी दोनों समय करना यह स्पष्ट है। इसके लिए विवाद को तनिक भी स्थान नहीं है। -आवश्यक सूत्र टीका आचार्य मलयगिरि।

(2) व्यवहार सूत्र- उद्देशा 8 में अधिक पात्र दूर क्षेत्र से लाने का विधान है। उसके भाष्य में एवं टीका में उन पात्रों को भी दो बार प्रतिलेखन करने का कहा है। भाष्य गाथा

ओमंथणमादीणं, गहणे उवहिं तहिं पउंजंति।
गहिए व पगास मुहे, करेंति पडिलेह दो काले ।। 244 ।।

टीका-अवमंथन = अधोमुखं कृत्वा प्राणादीन, खोटनेन भूमौ यतनया पातयति। अमुं विधि तत्र ग्रहणे प्रयुंजति। गृहिते च तानि पात्राणि प्रकाश मुखानि करोती तथा द्वौ कालौ-प्रातः अपरान्हे च प्रत्युप्रेक्षति। अंतिम वाक्य में स्पष्ट कहा कि उन पात्रों को दोनों काल सुबह शाम प्रतिलेखन करते हैं।

-राजेन्द्र कोष 'पत्त' 4135

यह विधान मर्यादा से अधिक पात्र का है जो काम में नहीं आ रहे हैं, केवल पड़े रहते हैं। इनकी भी दोनों समय प्रतिलेखन करने का स्पष्ट कथन है। एक बार करने का लेश मात्र भी संकेत नहीं है। तो उपयोग में आने वाले पात्र के लिए एक बार की प्रतिलेखना का आग्रह और प्ररूपणा मनगढंत और शिथिलाचार मूलक है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(3) निशीथ सूत्र- उद्देशा 14 सूत्र 5 की भाष्य गाथा और चूर्णी टीका में भी स्पष्ट लिखा है कि अधिक ग्रहण किये पात्र भिक्षु रास्ते में ले जा रहा हो, उस समय काम में नहीं लेते हुए जाता है फिर भी दो बार प्रतिलेखन करे।

-गाथा 4557 व चूर्णी ।।

इसमें यह कहा गया है कि जिस तरह अपने उपकरणों का दो बार प्रतिलेखन किया जाता है उसी तरह दूसरों के लिये ले जाये जाने वाले इन बांध कर रखे हुए पात्रों की भी दो बार प्रतिलेखन करे।

-निशीथ चूर्णी पृ. 455 ।।

इतने स्पष्ट 1000 वर्ष प्राचीन प्रमाण के आगे अपने काम में आने वाले पात्र की भी एक बार प्रतिलेखन की प्रवृति किसी प्रकार उचित नहीं हो सकती।

(4) निशीथ सूत्र- उद्देशा 2 सूत्र 59 भाष्य गाथा 1426 के विवेचन में पात्र प्रतिलेखन के काल का वर्णन करते हुए बताया है कि- **'चरम पोरिसीए पुण ओगाहंतीए चेव पडिलेहेउं निक्खिवंति। ततो सेसोवकरणं, ततो सज्झायं पट्ठवेति। आगे गाथा 1436 के विवेचन में 'जम्हा एते दोषा तम्हा सव्वोवही दुसंझं पडिलेहियव्वो।**

भावार्थ- चौथी पोरिषी लगते ही पात्रों का प्रतिलेखन करके रखना। फिर शेष उपकरणों की प्रतिलेखन करना। फिर सज्झाय करना। आगे गाथा 1436 के विवेचन में कहा है कि जब इतने दोष संभव रहते हैं तो अवश्य ही सभी उपधि की दोनों वक्त प्रतिलेखना करनी चाहिए।। **निशीथ चूर्णि।।**

(5) उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन 26 गा. 37

'चउत्थीए पोरिसीए णिक्खिवित्ताण भायणं ।'

टीका- चतुर्थ्यां पोरूष्यां निक्षिप्य = प्रत्युप्रेक्षणा पूर्वकं बध्वा, भाजनं = पात्रं, ततः स्वाध्यायं कुर्यात्।

भावार्थ- चौथी पौरिषी लगने पर भाजनों को पात्रों को प्रतिलेखन करके बांध कर रखे फिर स्वाध्याय करे।

नोट- ये पांचों प्रमाण लोकाशाह से भी सेकड़ों वर्षों पूर्व के हैं।

(1) सूर्योदय होने पर प्रतिलेखन प्रारम्भ करना। (2) सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका प्रमार्जनिका (गोच्छग) की प्रतिलेखना करना फिर शेष सभी उपधि की प्रतिलेखना करना, (3) पात्र की प्रतिलेखना पौन पोरिषी आने के बाद करना। किन्तु नवकारसी में गोचरी जाना हो तो सुबह ही करना। (4) चौथा प्रहर लगते ही पात्र प्रतिलेखन कर बांध देना। किन्तु शाम को खाना पीना हो तो उसकी व्यवस्था से करना। (5) सुबह शाम अपने खाने के स्थान की प्रतिलेखना प्रमार्जना करना। (6) शाम को सूर्यास्त के पूर्व परठने की भूमि की प्रतिलेखना करना। (7) प्रतिलेखना मौन पूर्वक एकाग्रचित से करना। शांति से शास्त्रोक्त विधिपूर्वक ही प्रतिलेखन करना।

प्रकरण – 4

सूई आदि के उत्तरकरण (सुधरवाने) के सूत्रों का मर्म–

यद्यपि साधु के लिए अत्यल्प उपधि रखने का विधान है, फिर भी क्षेत्र काल के अनुसार या परिवर्तित शारीरिक स्थितियों के अनुसार कब, कहां, किन उपकरणों की आवश्यकता हो जाय और उस समय कदाचित् कहां वे उपकरण न मिलें, इस आशय से कांटा निकालने के उपकरण या दंतशोधनक आदि अन्य उपकरण वर्तमान में भी साथ में रखे जाते हैं।

इसी प्रकार सूत्रोक्त सूई, कैंची आदि उपकरण भी क्षेत्र काल आदि की परिस्थिति से रखे जा सकते हैं, ऐसा इन उत्तरकरण सूत्रों से प्रतीत होता है।

निशीथभाष्य गा. 1413-1416 तथा बृहत्कल्पभाष्य गा. 4096-4099 तक अपवादिक परिस्थिति में रखे जाने वाले अनेक औपग्रहिक उपकरण सूचित किये हैं वे गाथाएं अर्थ सहित उद्देशक 16 सूत्र 39 के विवेचन में हैं एवं इसी में देखे। उन उपकरणों में सूई, कैंची आदि भी है, चर्म-छत्र दंड भी है एवं पुस्तकें आदि भी कही गई है।

ये उत्तरकरण के सूत्र भी परिस्थिति से साथ में रखे हुए औपग्रहिक उपकरण रूप सूई आदि से ही सम्बन्धित है क्योंकि एक दिन के लिये प्रत्यर्पणीय उपकरण तो देखकर और उपयोगी होने पर ही लाया जाता है। कदाचित् भूल हो भी जाय तो उसे लौटाकर अन्य भी लाया जा सकता है।

इस प्रकार की प्रत्यर्पणीय सूई, कैंची आदि की नोक या धार गृहस्थ से करवाना और गुरूमासिक प्रायश्चित्त का पात्र बनाना, ऐसी प्रवृत्ति किसी भी भिक्षु के द्वारा करने की संभावना ही नहीं की जा सकती।

जो उपकरण सदा पास में रहते हैं, वे काम लेते-लेते जब खराब हो जाते हैं, तब उनका ही परिष्कार या सुधार स्वयं करना अथवा कभी अन्य से करवाना, आवश्यक हो जाता है, उस समय ही सूत्रोक्त गृहस्थ से उत्तरकरण करवाने रूप परिस्थिति की सम्भावना उत्पन्न होती है।

अतः सूत्रनिर्दिष्ट, 'उत्तरकरण' क्षेत्र-काल आदि की अपेक्षा से पास में रखे गये-सूई, कैंची, नखछेदनक एवं कर्णशोधनक सम्बन्धी ही समझने चाहिए।

वर्तमान में सूई, कैंची व नखछेदनक रखने की परिपाटी नहीं है। साथ ही ये धातु-निर्मित होने के कारण रखना अकल्पनीय है ऐसा माना जाता है।

प्रस्तुत सूत्रों में वर्णित सूई, कैंची, नखछेदनक तथा आचारांगसूत्र और व्यवहार सूत्र में वर्णित-चर्मछेदनक आदि उपकरण धातुनिर्मित ही सर्वत्र उपलब्ध होते हैं तथा आगमों में पात्र के सिवाय धातु युक्त उपकरण की अकल्पनीयता का कोई भी पाठ नहीं मिलता है।

परिग्रह का मूल है ममत्व। बहुमूल्य वस्तुओं पर प्रायः ममत्व अधिक होता है। अतएव संयमी श्रमण धन (प्रचलित सिक्के), स्वर्ण, रजत (चांदी) तथा उनसे निर्मित वस्तुएं न रखे। ऐसे निषेध आगमों में अनेक जगह मिलते हैं, देखिए दशवैकालिक अ.10 गा. 6 में **'अहणे णिज्जायरूवरयए'** तथा उत्तराध्ययन अ. 35 गा. 13 में **'हिरण्णं जायरूवं च मणसा वि न पत्थए'** इत्यादि स्थलों में सोने चांदी और सिक्कों का ही निषेध है किन्तु लोहे की सूई, कैंची, नखछेदनक, कर्णशोधनक और चर्मछेदनक आदि रखने का सर्वथा निषेध किसी भी आगम में नहीं है। अतः इनका एकान्त निषेध करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

आगमों में केवल पात्र के प्रसंग में ही तीन जाति के सिवाय अन्य अनेक जाति के पात्र ग्रहण करने का निषेध है। उसमें केवल धातु के ही निषेध का वर्णन नहीं है किन्तु पत्थर, कांच, दांत, सींग, चर्म, वस्त्र, शंख आदि अनेक जाति का निषेध है, जो केवल पात्र के लिए समझना ही उपयुक्त है। सभी उपकरणों के लिए यह विधान उपयुक्त नहीं हो सकता। अन्यथा वर्तमान में रखे जाने वाले कांच, दांत, आदि के अनेक उपकरणों का निषेध हो जाएगा।

अतः कभी शरीरोपयोगी औपग्रहिक उपधि या अध्ययन में सहायक सामग्री पेन आदि धातु (लोहे आदि) की भी रखी जा सकती है। यह इन उत्तरकरण सूत्रों और अन्य आगम स्थलों की विचारणा से स्पष्ट होता है। इस विषय को अत्यंत स्पष्ट समझने के लिये एक संवाद प्रस्तुत किया जाता है।

उद्देशक 17 सूत्र 153

प्रकरण - 6

धोवण पानी और गर्म पानी का ज्ञान-विज्ञान-

आगमों में अनेक जगह अचित्त शीतल जल अर्थात् धोवण पानी के नामों का कथन है। उनमें ग्राह्य पानी ग्यारह ही हैं जो इस सूत्र में कहे गये हैं इससे अधिक नाम जो भी आगमों में उपलब्ध है वे सब अग्राह्य कहे गये हैं।

ग्राह्य धोवण पानी बनने के बाद तुरन्त ग्राह्य नहीं होता है। करीब आधा घण्टा या मुहूर्त के बाद ग्राह्य होता है। चूर्णीकार ने समय निर्धारण न करते हुए अपनी बुद्धि से ही समय निर्णय करने को कहा है क्योंकि धोवण पानी बनने के शस्त्रों में विभिन्नता होती है। फिर भी तत्काल लेने पर तो प्रस्तुत सूत्रानुसार प्रायश्चित्त आता है।

लेने योग्य पानी के आगम पाठ में और न लेने योग्य पानी के आगम पाठ में निश्चित संख्या सूचित नहीं है, किन्तु वहां अन्य भी ऐसे अचित पानी लेने का विधान है तथा न लेने योग्य पानी के आगम पाठ में भी अन्य ऐसे न लेने योग्य पानी लेने का निषेध है। अतः कल्पनीय अकल्पनीय पानी अन्य अनेकों हो सकते है, यह स्पष्ट है। संख्या निश्चित करना आगम सम्मत नहीं है।

पानी शस्त्र-परिणमन होने पर भी तत्काल अचित्त नहीं होता है। अतः वह उसी समय लेने योग्य नहीं होता है। वही पानी कुछ समय बाद अचित्त होने पर लेने योग्य हो जाता है इसका कारण यह है कि पानी के कण-कण में असंख्य जीव है उन तक परम्परा से शस्त्र के पहुंचने में समय लगता है अतः पूर्ण अचित्त होने में भी समय लगता है।

फल आदि धोए हुए अचित्त पानी में यदि बीज गुठली आदि हो तो ऐसा पानी छाण करके दे तो भी वह लेने योग्य नहीं है।

धोवण पानी सूचक आगम स्थल इस प्रकार है-

1. दशवैकालिक अ.5 उ.1 में तीन प्रकार के धोवण पानी लेने योग्य कहे हैं। इनमें दो प्रकार के धोवण पानी आचारांग श्रु. 2 अ.1 उ.7 के अनुसार ही कहे गए हैं और ' बार धोयण' अधिक है।

2. उत्तराध्ययन मूत्र अ. 15 गा. 13 में तीन प्रकार के धोवण कहे गए हैं इन तीनों' का कथन आ. श्रु 2 अ. 1 उ. 7 में है।

3. आचारांग श्रु 2 अ.1उ 7 में अल्पकाल का धोवण लेने का निषेध है अधिक काल का बना हुआ धोवण लेने का विधान है तथा गृहस्थ के कहने पर स्वतः लेने का भी विधान है।

4. आ. सु. 2 अ.1 उ. 8 सू. 373 में अनेक प्रकार के धोवण पानी का कथन है। इसमें बीज, गुठली आदि हो तो ऐसे पानी को छान करके देने पर भी लेने का निषेध किया है।

5. ठाणांग अ. 3 उ. 3 सु 188 में उपवास, बेले, तेले, के तप में 3-3 प्रकार के ग्राह्य पानी का विधान है।

6. दशवैकालिक अ. 8 गा. 6 में उष्णोदक ग्रहण करने का विधान है।

आचारांग व निशीथ में वर्णित 'सुद्ध वियड' उष्णोदक से भिन्न है क्योंकि वहां तत्काल बने 'सुद्ध वियड' के ग्रहण करने का निषेध एवं प्रायश्चित्त कहा गया है अतः उसे अचित्त शुद्ध शीतल जल ही समझना चाहिए।

आगमों में वर्णित ग्राह्य धोवण पानी के संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है--

ग्यारह प्रकार के ग्राह्य धोवण पानी और उनके अर्थ-

1. उत्स्वेदिम-	आटे से लिप्त हाथ या बर्तन का धोवन,
2, संस्वेदिम-	उबाले हुए तिल, पत्र-शाक आदि का धोया हुआ जल,
3. तन्दुलोदक-	चावलों का धोवण,
4. तिलोदक-	तिलों का धोवण,
5. तुषोदक-	तुष युक्त धान्यों के तुष निकालने में बना धोवण।
6. जवोदक -	जौ का धोवण।
7. आयाम-	अवश्रावण- उबाले हुए पदार्थों का पानी।
8. सोवीर-	कांजी का जल, गर्म लोहा-लकड़ी आदि डुबाया हुआ पानी।
9. शुद्ध विकट-	हरड़, बहेड़ा, राख, लोंग आदि पदार्थों से अचित्त बनाया गया जल।
10. वारोदक-	गुड़ आदि किसी भी खाद्य पदार्थों के घड़े (बर्तन) का धोया जल।
11. आम्लकांजिक	खट्टे पदार्थों का धोवण या छाछ की आछ।

बारह प्रकार के अग्राह्य धोवण पानी-

1. आम्रोदक-	आम्र धोया हुआ पानी,
2. अम्बाडोदक-	आम्रातक (फल विशेष) धोया हुआ पानी,
3. कापित्थोदक-	केथ या कवीठ का धोया हुआ पानी,
4. बीजपूरोदक-	बिजोरे का धोया हुआ पानी
5. द्राक्षोदक-	दाख का धोया हुआ पानी,
6. दाडिमोदक-	अनार का धोया हुआ पानी,
7. खजूरोदक-	खजूर का धोया हुआ पानी,
8. नालिकेरोदक-	नारियल का धोया हुआ पानी,
9. करीरोदक-	केर का धोया हुआ पानी,
10. बदिरोदक-	बेरों का धोया हुआ पानी,

11. आमलोदक- आवलों का धोया हुआ पानी,

12. चिंचोदक- इमली का धोया हुआ पानी।

फलों का धोया हुआ पानी भी अचित्त तो हो सकता है क्योंकि पानी में कुछ देर रह या धोने पर कुछ फलों का रस तथा उन पर लगे अन्य पदार्थों का स्पर्श पानी को अचित कर देता है किन्तु बीज गुठली या फल रह जाने के कारण इन जलों का निषेध है और जिसमें जब बीज गुठली फल आदि न हो तो इन्हें ग्राह्य समझना चाहिए।

इनके सिवाय गर्म जल भी ग्राह्य कहा गया है जो एक ही प्रकार का होता है। पानी के अग्नि पर पूर्ण उबल जाने पर वह अचित्त हो जाता है। अर्थात् गर्म पानी में हाथ न रखा जा सके इतना गर्म हो जाना चाहिए। इससे कम गर्म होने पर पूर्ण अचित्त एवं कल्पनीय नहीं होता है। टीका आदि में तो तीन उकाले आने पर अचित्त होने का उल्लेख मिलता है किंतु साधु के लिए ऐसी गवेषणा करना दुःशक्य है।

उक्त आगम स्थलों से स्पष्ट है कि धोवण पानी अर्थात् अचित्त शीतल जल अनेक प्रकार का हो सकता है। आगमोक्त नाम तो उदाहरण रूप में है। आटा, चावल आदि किसी खाद्य पदार्थ को धोया हुआ पानी या खाद्य पदार्थ के बर्तन धोया हुआ पानी अथवा अन्य किसी प्रकार के पदार्थों से पूर्ण अचित्त बना हुआ कोई भी पी सकने योग्य पानी भिक्षु को लेना कल्पता है।

दशवैकालिक अ. 5 उ. 1 गा. 76-81 के कथनानुसार अचित्त पानी को ग्रहण करने के साथ यह विवेक रखना भी बताया है कि भिक्षु यह सोचे कि क्या यह पानी पिया जा सकेगा। इससे प्यास बुझेगी या नहीं? इसका निर्णय करने के लिए कभी वहां पर ही पानी को चखा जा सकता है। कदाचित् नहीं पीने योग्य पानी ग्रहण कर लिया गया हो तो उसे अनुपयोगी जानकर एकान्त निर्जीव भूमि में परठ देना चाहिए।

सौवीर और आम्लकांजिक की चर्चा– इस प्रस्तुत निशीथ सूत्र में 'सोवीर' और आम्लकांजिक दोनों शब्दों का प्रयोग है जबकि अन्य आगमों में एक 'सोवीर' शब्द ही कहा गया है। इसका अर्थ टीका आदि में कांजी का पानी, आरनाल का पानी आदि किया गया है। हिन्दी शब्द कोश में कांजी के पानी का स्पष्टीकरण करते हुए-नमक जीरा आदि पदार्थों से बनाया गया स्वादिष्ट एवं पाचक खट्टा पानी कहा है। इससे यह अनुमान होता कि सोबीर शब्द का पर्यायवाची 'आम्लकांजिक' शब्द है जो कभी पर्यायवाची रूप में कहा जोड़ा गया हो और बाद में स्वतंत्र शब्द बन गया हो। क्योंकि अन्य आगमों में यह शब्द नहीं हैं एवं इस सूत्र की चूर्णि में भी इसकी व्याख्या नहीं है।

दोनों शब्दों का पृथक अस्तित्त्व स्वीकार करने पर 'सौवीर' का अर्थ कांजी का पानी और ' अंवकजिय' का अर्थ छाछ का आछ आदि, ऐसा किया जाता है।

आगम पाठ के विषयों का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सौवीर' का टीका एवं कोष आदि में किया गया अर्थ प्रसंग संगत नहीं हैं क्योंकि सूत्र में कहे गए अचित जल तृषा शांत करने के पेय जल है और इन्हें तेले तक तपस्या में पीने का विधान जबकि कांजी का पानी तो स्वादिष्ट बनाया गया पेय पदार्थ है, जो आयम्बिल में भी पीना नहीं कल्पता है। उसे उपवास, बेला एवं तेला की तपस्या में पीना तो सर्वथा अनुचित्त होता है।

आंवला इमली आदि खट्टे पदार्थों के धोवण पानी का भी उल्लेख आचा. श्रु. 2, अ. 1 उ. 8 में पृथक किया गया है अतः यहां एक सौवीर शब्द मानकर उसका 'छाछ के ऊपर की आछ' अर्थ मानना प्रसंग संगत हो सकता है। दोनों शब्द स्वीकार करना हो तो सौवीर शब्द से लोहे आदि गर्म पदार्थों को जिस पानी में डुबाकर ठंडा किया गया हो वह पानी एवं 'अम्लकाजिक' शब्द से छाछ के उपर का नितरा हुआ आछ ऐसा अर्थ करने पर भी सूत्रगत दोनों शब्दों की संगति हो सकती है।

शुद्धोदक- प्रस्तुत सूत्र में 'शुद्धोदक' शब्द का भ्रान्ति से गर्म पानी अर्थ भी किया जाता है, किन्तु गर्म पानी के लिये आगमों में उष्णोदक शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां तत्काल के धोवण (अचित्त जल) का विषय है तथा आचा. श्रु. 2 अ. 1 उ.7 में भी ऐसे ही धोवण पानी के वर्णन में शुद्धोदक (शुद्ध अचित्त जल) का कथन है।

अन्न के अंश से रहित तथा अनेक अमनोज्ञ रसों वाले धोवण पानी के अतिरिक्त अचित्त बने या बनाये गये शीतल जल को शुद्धोदक समझना चाहिए। इसमें लौंग, कालीमिर्च, त्रिफला, राख आदि मिलाये हुए पानी का समावेश हो जाता हैं किन्तु शुद्धोदक का गर्म पानी अर्थ करना अनुचित्त ही है क्योंकि उसका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् तत्काल धोया या चिरकाल का धोया इस विषय से गर्म पानी का सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। अतः शुद्धोदक का गर्म पानी अर्थ करना गलत है।

आचा. श्रु. 2 अ. 1 उ. 7 में अचित्त पानी भिक्षु को स्वयं ग्रहण करने का भी कहा है। इसका कारण यह है कि भिक्षु के लिये निर्दोष अचित्त पानी मिलना कुछ कठिन है तथा पानी के बिना निर्वाह होना भी कठिन है। अतः अचित्त निर्दोष पानी उपलब्ध हो जाने पर कभी पानी देने वाला व्यक्ति वजन उठाने में असमर्थ हो या पानी देने वाली बहन गर्भवती या ऋतुमति हो अथवा उनके आने के मार्ग में सचित्त पदार्थ पड़े हों या उनके आने से जीव विराधना होने की संभावना हो, इत्यादि कारणों से भिक्षु गृहस्थ के आज्ञा देने पर या स्वयं उससे आज्ञा प्राप्त करके अचित्त जल ग्रहण कर सकता है। यदि पानी का परिमाण अधिक हो, बर्तन उठाकर नहीं लिया जा सकता हो तो भिक्षु स्वयं के पात्र से या गृहस्थ के लोटे आदि से भी पानी ले सकता है ऐसा सूत्र में विधान है। किन्तु आहार के लिये इस प्रकार का कोई विधान आगम में नहीं है एवं इस प्रकार से आहार के स्वयं लेने की परम्परा भी नहीं है।

अचित्त रहने का काल- एक बार अचित्त बना हुआ पानी पुनः कालान्तर से सचित्त भी हो सकता है क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव पुनः उसी काय के उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते हैं- सूय. श्रु. 2 अ. 3

दशवैकालिक के पांचवे अध्ययन की चूर्णि में कहा गया है कि गर्मी में एक अहोरात्र से एवं सर्दी और वर्षाकाल में पूर्वान्ह (सुबह) में गर्म किये जल के अपरान्ह (सायंकाल) में सचित्त होने की सम्भावना रहती है।

यथा- गिम्हे अहोरत्तेण सच्चित्ती भवति, हेमंते वासासु पुवण्हे कतं अवरहण्हे सचित्ती भवति ।

-दश. चूर्णी पृष्ठ 61,114

आचारांग श्रु. 1 अ.1 उ. 3 की शीलांकाचार्य कृत टीका में धोवण पानी के अचित्त होने का एवं साधु के लिये कल्पनीय होने का वर्णन है वहां पानी को अचित्त करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थों का वर्णन भी है।

प्रवचन सारोद्धार 136 गाथा 881 में प्रासुक अचित्त शीतल जल के ग्राह्य होने का कथन है तथा गाथा 882 में उष्ण जल एवं प्रासुक शीतल जल दोनों के अचित्त रहने का काल भी कहा है। उसकी टीका में स्पष्ट किया गया है कि उष्ण पानी के जितना ही चावल आदि के धोवण का भी अचित्त रहने का काल है।

उसिणोदगं तिदंडुक्कालियं, फासुयजलाति जइ कप्पं ।
नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरि विधरियव्वं ।।

यहां गर्म और धोवण दोनों को कारण से अधिक समय तक रखना बताया है।

टीका- त्रिभिर्दण्डे- उत्कालैरुत्कालितं आवृतं यदुष्णोदकं तथा यत्प्रासुकं-स्वकाय परकाय

शस्त्रोपहतत्त्वेन अचित्त- भूतं जलं तदेव यतीनाम् कल्प्यं, गृहीतमुचितं ।

जायइ सचित्तय से गिम्हंमि पहरपंचगसुवरिं ।
चउपहरोवरिसिसिरेवासासुपुणोतिपहरुपरिं ।। 882 ।।

यदूध्द्वमपि घ्रियते तदा क्षार- प्रक्षेपणीयो, येन भूयः सचित्तं न भवतीति ।

लघु प्रवचन सारोद्धार की मूल गाथा 85 में भी गर्म और धोवण दोनों प्रकार के अचित्त पानी का काल समान कहा है।

यथा- **खाइमि तले विवच्चासे, ति-चउ-पण जाम उसिण नीरस्स ।**
वासाइसुतम्माणं,फासुयजलस्साविएमेव ।।85।।

इस प्रकार टीका-ग्रंथों में दोनों प्रकार के प्रासुक जलों को ग्रहण करने का विधान है।

तपस्या में धोवण- स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थान में उपवास आदि तपस्या में भी धोवण पानी पीने का विधान किया गया है तथा कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण में चातुर्मास में किये जाने वाले उपवास, बेला, तेला में चावल, आटे, तिल आदि के धोवण पानी का तथा ओसामण या कांजी आदि कुल 9 प्रकार के पानी का उल्लेख करके समस्त प्रकार के अचित्त जलों को लेने का विधान किया गया है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि धोवण पानी को अकल्पनीय या शंकित मानना या ऐसा प्रचार करना उचित नहीं है।

सारांश यह है कि एषणा दोषों से रहित आगम सम्मत किसी भी अचित्त जल को ग्राह्य समझना चाहिए एवं उसका निषेध नहीं करना चाहिए। साथ ही उन्हें ग्रहण करने में वह पानी अचित्त हुआ है या नहीं इसकी परीक्षा करने का तथा मौसम के अनुसार उसके चलित रस होने का एवं पुनः सचित्त होने के समय का विवेक अवश्य रखना चाहिए।

पुनःश्च- (1) धोवण पानी का एकांत निषेध करना आगम विपरीत प्ररूपणा है।

(2) धोवण एवं शुद्धोदक और गर्म पानी गवेषणा करके लेना कल्पता है।

(3) मुख्य गवेषणा-1. आधाकर्मी-साधु के निमित्त बना न हो 2. पानी की मात्रा के उचित अनुपात से ही उसमें शस्त्र पड़ा हो। 3. तत्काल का न हो और कल का न हो 4 रस चलित न हुआ हो।

(4) तेले तक भी सभी धोवण कल्पते हैं।

(5) आधाकर्मी गर्म पानी लेने का रिवाज अनुचित्त है।

अचित्त घोवण की परीक्षा- बने हुए धोवण को हिलाने पर बर्तन की दिवारें और तला नहीं दिखना चाहिए और उसमें से शस्त्र के पदार्थ को निकाल कर फेंक दिया हो तो गर्म पानी जैसा साफ नहीं दिखना चाहिए एवं स्वाद में सचित्त जल से कुछ भी भिन्नता होनी चाहिए।

रस चलित की परीक्षा- धोवण पानी में लार बनने लगे या सड़ी सी गंध आने लगे या धोवण का स्वाभाविक स्वाद पलट कर खट्टा-मीठा सा आने लगे तो वह रस चलित धोवण अग्राह्य है ऐसा अधिकतम गर्मी के दिनों में हो सकता है। खाद्य पदार्थ के रस चलित होने की परीक्षा भी इसी तरह से करनी चाहिए।

उद्देशक 5 सूत्र 36-38

प्रकरण -7

मकान एवं पाट की शुद्ध गवेषणा सीखो-

1, केवल जैन साधु के उद्देश्य से अथवा जैन साधु युक्त अनेक प्रकार के साधुओं या पथिकों के उद्देश्य से बनायी गयी धर्मशाला आदि 'उद्देशिक-शय्या' है।

2. गृहस्थ के अपने लिये बनाये जाने वाले मकान का या परिकर्म के कार्य का निर्धारित समय साधु के निमित्त से आगे-पीछे करने पर या शीघ्रता से करने पर अर्थात् अनेक दिन का कार्य एक दिन में करने पर, वह गृहस्थ का व्यक्तिगत मकान भी 'सपाहुड शय्या' हो जातीहै।

3. मकान गृहस्थ के लिये बना हुआ है। उसमें साधु के लिये परिकर्म कार्य करने पर गृहस्थ के उपयोग में आने के पूर्व कुछ काल तक वह मकान 'सपरिकर्म शय्या' है।

इन तीन प्रकार के दोषयुक्त शय्या में प्रवेश करने का अर्थात् रहने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

दूसरे व तीसरे दोष वाली शय्या का मौलिक निर्माण गृहस्थ के स्वप्रयोजन से होता है और प्रथम दोष वाली शय्या में बनाने वालों का स्वप्रयोजन नहीं होकर केवल पर-प्रयोजन से उसका निर्माण किया जाता है, यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

वर्तमान में उपलब्ध उपाश्रयों की कल्प्याकल्प्यता-

साधु-साध्वी के ठहरने के स्थान को आगम में 'शय्या, वसति एवं उपाश्रय' कहा जाताहै।

1. कल्प्य- दोष रहित-पूर्ण शुद्ध, साधु साध्वी के ठहरने योग्य ।

2. अकल्प्य- दोष युक्त साधु-साध्वी के ठहरने के अयोग्य।

3. कल्प्याकल्प्य- दोष युक्त होते हुए भी कालान्तर से या पुरुषान्तरकृत होने पर ठहरने योग्य।

1. कल्प्य उपाश्रय- (1) अपने लिये या सामाजिक उपयोग के लिये अथवा धार्मिक क्रियाओं की सामूहिक आराधना के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

(2.) अपना अतिरिक्त मकान धार्मिक आराधना के लिये अथवा साधु साध्वियों के ठहरने के लिये संघ को समर्पित कर दिया जाता है।

(3.) बड़े बड़े क्षेत्रों के समाज या संघ में मतभेद होने पर विभिन्न पक्षों के द्वारा भिन्न-भिन्न मकानों का निर्माण करवाया जाता है।

(4.) एक उपाश्रय होते हुए भी चातुर्मास आदि में भाई एवं बहिनों के स्वतन्त्र पौषध, प्रतिक्रमण आदि करने के लिये दूसरे उपाश्रय की आवश्यकता प्रतीत होने पर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

(5.) धार्मिक क्रियाओं की आराधना के लिये किसी का बना हुआ मकान खरीद लिया जाता है।

इन मकानों में साधु-साध्वियों के निमित्त निर्माण कार्य आदि न होने से ये पूर्ण निर्दोष है।

2. अकल्प्य उपाश्रय- (1) कई ऐसे गांव होते हैं जिनमें जैन गृहस्थों के केवल एक-दो घर होते हैं या एक भी घर नहीं होता है, वहां साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा या कुछ सम्मिलित व्यक्तियों द्वारा करवाया जाता है एवं उस मकान का कुछ भी नाम रख दिया जाता है।

(2) सन्त-सतियों के ठहरने के स्थान अलग-अलग होने चाहिए, ऐसा अनुभव होने पर दूसरे मकान का निर्माण करवाया जाता है।

(3) नये बसे हुए गांव या उपनगर में अथवा पुराने गांव में धर्म भावना या प्रवृत्ति बढ़ने पर गृहस्थों की धार्मिक आराधनाओं के लिये और साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

(4) सतियों के ठहरने के लिये और बहिनों की धार्मिक आराधनाओं के लिये भी नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

इन मकानों के बनवाने में प्रमुख उद्देश्य साधु-साध्वियों का होने से औद्देशिक एवं मौलिक निर्माण में मिश्रजात दोष होने के कारण ये पूर्णतः अकल्पनीय होते हैं।

3. कल्प्याकल्प्य उपाश्रय- (1) बड़े-बड़े संघों में अपने आयोजनों प्रयोजनों को लेकर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है, साथ ही में संत-सतियों की अनुकूलता को भी लक्ष्य में रखा जाता है।

(2) साधु साध्वियों के लिये मकान खरीद लिया जाता है।

(3) गृहस्थों एवं साधु साध्वियों के संयुक्त उपयोग के लिये भी कहीं-कहीं मकान खरीद लिया जाता है।

(4) निर्दोष मकान में भी साधु-साध्वियों के उद्देश्य से कई प्रकार के सुधार करवाये जाते हैं।

(5) चातुर्मास के अवसर पर श्रोताओं की सुविधा के लिये, संघ की शोभा के लिये अथवा साधुओं के आवश्यक उपयोगों के निमित्त कुछ सुधार करवाये जाते हैं।

(6) साधु-साध्वियों के उद्देश्य से सचित्त पदार्थ या अधिक वजन वाले अचित्त उपकरण स्थानान्तरित किये जाते हैं अथवा मकान की सफाई कर दी जाती है।

इन मकानों में सूक्ष्म उद्देश्य या अल्प आरम्भ अथवा परिकर्म कार्य होने से ये गृहस्थों के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय हो जाते हैं।

आचा. श्रु. 2 अ.5 एवं 6 में साधु के लिये खरीदे गये वस्त्र-पात्र को गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय कहा गया है और अ. 2 उ. 1 में साधु के लिये किये गये अनेक प्रकार के आरम्भ एवं परिकर्म युक्त मकान भी गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद कल्पनीय कहे हैं, इत्यादि आगम प्रमाणों के आधार से ही यहां उक्त मकानों को कालान्तर से कल्पनीय होना बताया गया है।

सार-1 जिन मकानों के निर्माण एवं परिकर्म में साधु-साध्वी का किंचित्त भी निमित्त नहीं है, वे पूर्ण कल्पनीय होते हैं। जिन मकानों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य साधु-साध्वी का होता हैं, वे पूर्ण अकल्पनीय होते हैं। जिन मकानों के निर्माण में साधु-साध्वियों का मुख्य लक्ष्य न होकर उनकी अनुकूलताओं का लक्ष्य रखा गया हो या उनके निमित्त सामान्य या विशेष परिकर्म (सुधार) आदि किये गये हो तो वे मकान अकल्पनीय होते हुए भी कालान्तर से या गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से कल्पनीय हो जाते हैं।

-आचा. श्रु. 2 अ. 2 उ. 1

पाट की गवेषणा-

सदोष एवं निर्दोष उपाश्रय के विकल्पों की जानकारी होने के साथ पाट सम्बन्धी विकल्पों की जानकारी होना भी आवश्यक है क्योंकि कई उपाश्रयों में सोने बैठने के लिये पाट भी रहते हैं। उन पाटों के सम्बन्ध में भी तीन विकल्प होते हैं-

1. निर्दोष, 2. सदोष, 3. अव्यक्तदोष।

निर्दोष पाट- 1. कई प्रान्तों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार गृहस्थों के घरों में, सामाजिक कार्यों के मकानों में, पाठशालाओं में तथा पुस्तकालयों आदि में आवश्यकतानुसार पाट बनाये जाते हैं। वे घरों में रखे हो अथवा उपाश्रय में भेंट दे दिये हों।

229 2. कई गांवों में मकोड़े, बिच्छु आदि जीवों के उपद्रव के कारण श्रावक श्राविकाओं के दया संवर, पोषध, आदि करते समय उपयोग में लेने के लिये कई पाट बनवाये जाते हैं।

ये उक्त दोनों तरह के पाट पूर्ण शुद्ध है।

सदोष पाट– 1. सन्त-सतियों के बैठने या शयन करने के लिये अथवा व्याख्यान वाचते समय बैठने के लिये छोटे बड़े पाट बनवाये जाते हैं।

2. कई जगह साधु और गृहस्थ दोनों के उपयोग में लेने के लिये पाट बनवाये जाते हैं।

3. बने हुए पाट साधु-साध्वियों के उद्देश्य से खरीदकर उपाश्रय में भेंट किये जाते हैं। ये तीनों साधु के उद्देश्य से खरीदे या बनाये गये पाट है, अतः सदोष है।

अव्यक्त दोष वाले पाट– 1. विवाह आदि के विशेष अवसरों पर पाट बनवाकर भेंट दिये जाते हैं, उस समय उपाश्रय में आवश्यक है या नहीं इसका कोई विचार नहीं किया जाता है।

2. मेरा नाम उपाश्रयों में रहे इसके लिए पाट ही देना विशेष उपयुक्त है, ऐसे विचार से भी उपाश्रयों में पाट भेंट किये जाते हैं।

ये निरुद्देश्य या अव्यक्त उद्देश्य से बनाये गये पाट है।

पाट आदि संस्तारकों के सम्बन्ध में औद्देशिकादि गुरुतर दोषों का कथन करने वाले आगमपाठ नहीं मिलते हैं तथा किस दोष वाला पाट कब तक अकल्प्य रहता है और कब कल्प्य हो जाता है, इस प्रकार के स्पष्ट कथन करने वाले पाठ भी उपलब्ध नहीं होते हैं।

आचा. श्रु. 2 अ. 2 उ. 3 में पाट से सम्बन्धित जो पाठ है उसका सार यह है कि साधु साध्वी पाट ग्रहण करना चाहे तो उन्हें यह ध्यान रखना आवश्यक है--

1. उसमें कहीं जीव-जन्तु तो नहीं है।

2. गृहस्थ उसे पुनः स्वीकार कर लेगा या नहीं।

3. अधिक भारी तो नहीं है।

4, जीर्ण या अनुपयोगी तो नहीं है। यदि वह पाट जीवरहित, प्रतिहारिक, हल्का एवं स्थिर (मजबूत) है तो ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा नहीं लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पाट से सम्बन्धित दोषों का कथन आगमों में उपलब्ध नहीं है। पाट आदि के निर्माण में केवल परिकर्म कार्य ही किये जाते हैं। जो मकान के पुरुषान्तरकृत कल्पनीय दोषों से अत्यल्प ही होते हैं अर्थात् इनके बनने में अग्नि, पृथ्वी आदि की विराधना नहीं होती है। अप्काय की विराधना भी प्रायः नहीं होती है। अतः आधाकर्मादि दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। इसलिए इनके बनाने में केवल परिकर्म दोष या क्रीतदोष ही होता है। क्रीत मकान या परिक्रम दोष युक्त मकान के कल्पनीय होने के समान ही इन उक्त दोनों विभाग के दोषों वाले पाटों को भी कालान्तर से अथवा गृहस्थ के उपयोग में आ जाने के बाद कल्पनीय समझ लेना चाहिए।

जैन साधुओं के 1. दिगम्बर 2. श्वेताम्बर-मन्दिर मार्गी 3. स्थानकवासी 4. तेरहपंथी आदि रूप जो भेद है, उनमें से एक संघ के साधुओं के उद्देश्य से बना हुआ आहार या मकान दूसरे संघ के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त नहीं है। इस विषय का कथन मूल आगमों में नहीं है किन्तु प्राचीन व्याख्या ग्रंथों में है। उसका आशय यह है कि जिनके सिद्धान्त और वेश समान हों वे प्रवचन एवं लिंग (उभय) से साधार्मिक कहे जाते हैं। इस प्रकार के साधर्मिक साधु के लिये बना आहार मकान आदि दूसरे साधर्मिकों के लिये भी कल्पनीय नहीं होता है।

उपर्युक्त चारों जैन विभागों के वेश और सिद्धांतों में भेद पड़ गये हैं और प्रत्येक संघ ने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है। अतः उक्त एक जैन संघ का औद्देशिक मकान आदि दूसरे संघ वालों के लिये औद्देशिक नहीं है। छोटे क्षेत्र के छोटे श्रावक समाज में सभी जैन संघों के मिश्रित भाव से निर्मित औद्देशिक शय्या आदि सभी संघों के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त ही समझना चाहिए।

उद्देशक 13 सूत्र 11

प्रकरण-8

ऊपर की मंजिल में साधु का ठहरना-

अंतरिक्षजात- मंच, माल, मकान की छत आदि स्थलों की ऊंचाई तो उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है, अतः अंतरिक्षजात का 'ऊंचे स्थान' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, किन्तु 'आकाशीय अनावृतस्थल' ऐसा अर्थ करना चाहिए अर्थात् सूत्र कथित ऊंचे स्थलों के चौतरफा भित्ति आदि न होकर खुला आकाश हो तो वे ऊंचे स्थल अंतरिक्षजात विशेषण वाले कहे जाते हैं। यही अर्थ आचा. श्रु. 2 अ. 2 उ. 1 के इस विषयक विस्तृत पाठ से भी स्पष्ट होता है क्योंकि सूत्रगत ऊंचे स्थल यदि भित्ति आदि से चौतरफ आवृत हों तो गिरने आदि की आचारांग में कही गई सम्भावनाएं संगत नहीं हो सकती है। अनावृत्त ऊंचे स्थानों में ही सुखाए गये वस्त्र पात्र आदि के उड़ कर गिर जाने की सम्भावना रहती है एवं उससे अयतना और प्रमाद की वृद्धि होती है। इसीलिए आगम में ऊंचे और अनावृत्त स्थान अनेक क्रियाएं करने के लिए निषिद्ध है किन्तु आवृत्त स्थान में ऊंचे-नीचे किसी भी स्थान का विवेक पूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उसमें सूत्रोक्त कोई भी दोष नहीं लगते हैं। क्योंकि पदार्थों का उड़ना, गिरना, पड़ना, भित्ति से अनावृत्त स्थानों में ही सम्भव हो सकता है। चौतरफ से आवृत्त या उपर से ढ़के अथवा उपर की मंजल के बंद कमरों में ऐसे कोई दोष संभव नहीं है। अतः सूत्र का सही आशय समझ कर ही प्ररूपणा एवं प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र कथित प्रायश्चित्त भी ऊंचे और अनावृत्त (चौतरफ से बिना भित्ति वाले) स्थान पर सूत्र निर्दिष्ट कार्य करने पर ही आता है ऐसा समझना चाहिए।

उद्देशक 16 सूत्र 1-3

प्रकरण-9

अकल्पनीय शय्या-उपाश्रय-

सागारिक शय्या- स्त्री-पुरुष जहां रहते हों अथवा जहां अकेली स्त्री रहती हो या केवल स्त्रियां ही रहती हों, वह स्थान 'सागारिक शय्या' है। ऐसी शय्या में भिक्षुओं के रहने का इस सूत्र में प्रायश्चित्त कहा है।

आभूषण, वस्त्र, आहार, सुगन्धित पदार्थ, वाद्य, नृत्य, नाटक, गीत तथा शयन, आसन आदि से युक्त स्थान 'द्रव्य-सागारिक शय्या' है। और स्त्रीयुक्त स्थान 'भाव-सागारिक शय्या' है। छद्मस्थ साधक के अनुकूल निमित्त मिलने पर कभी भी मोहकर्म का उदय हो सकता है। जिससे वह संयम समाचारी में शिथिल हो सकता है या ब्रह्मचर्य से विचलित हो सकता है।

सउदकशय्या- जहां पर खुले हौज में या घड़े आदि में पानी रहता हो वह सउदक शय्या है। वहां ठहरने पर भिक्षु के गमनागमन आदि क्रियाओं से अप्कायिक जीवों के विराधना हो सकती है।

बृहत्कल्प सूत्र- उ. 2 में जहां सम्पूर्ण दिन-रात अचित्त जल के घड़े भरे रहते हों वहां ठहरने का निषेध है और यहां सामान्य रूप से जल पड़ा रहने वाले स्थान का प्रायश्चित्त कहा है।

उदय भाव से किसी भिक्षु को उस जल के पीने का संकल्प भी हो सकता है अथवा अन्य लोगों को साधु के जल पीने की आशंका हो सकती है।

सागणिक शय्या- जिस घर में या घर के कक्ष में अग्नि जल रही हो या दीपक जलता हो वह सागणिक शय्या है। वहां भिक्षु न ठहरे क्योंकि वह वहां गमनागमन करेगा या वन्दन प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि संयम समाचारी के कार्य करेगा तो अग्निकाय की विराधना होने की सम्भावना रहेगी। शीत निवारण के लिये अग्नि का उपयोग करने पर हिंसा के अनुमोदन का दोष लगेगा।

आपवादिक कल्प- उक्त दोष वाले स्थानों में 1-2 रात्रि ठहरने पर भी अगीतार्थ साधु को प्रायश्चित्त आता है और गीतार्थ साधु को प्रायश्चित्त नहीं आता है क्योंकि वह आपवादिक स्थिति के विवेक का यथार्थ निर्णय ले सकता है।

वास्तव में गीतार्थ का विहार करना और गीतार्थ की निश्रा में विहार करना ही कल्पनीय विहार है। एक या अनेक अगीतार्थों के विचरण करने तथा भिक्षाचरी करने आदि कार्यों का निषेध ही है। आचा. और निशीथ. को अर्थ सहित कंठस्थ धारण नहीं करने वाले सभी अगीतार्थ होते हैं।

अतः अन्य मकान के सुलभ न होने पर पूर्वोक्त शय्याओं में गीतार्थ भिक्षु 1-2 रात्रि ठहर सकता है, अधिक ठहने पर उसे भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

उद्देशक 2 सूत्र 37

प्रकरण - 10

निवास सम्बन्धी कल्प मर्यादा और अपवाद विचार-

कल्प-मर्यादा के सम्बन्ध में आचा. श्रु. 2 अ. 2, उ. 2 के अनुसार दो क्रियायें दोष रुप कही गई हैं-

1. कालातिक्रान्त क्रिया 2. उपस्थान क्रिया।

कालातिकान्त क्रिया- एक क्षेत्र में एक मासकल्प (29 दिन) रहने के बाद भी वहां से विहार न करें तथा एक क्षेत्र में चातुर्मासकल्प (आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) रहने के बाद भी वहां से बिहार न करे तो 'कालातिक्रान्त क्रिया' नामक दोष लगता है।

उपस्थान क्रिया- एक क्षेत्र में एक मासकल्प रहने के बाद दो मास अन्यत्र बिताये बिना वहीं आकर रहे तो 'उपस्थान क्रिया' नामक दोष लगता है।

इन दोनों क्रियाओं का सेवन करना ही 'नित्यवास' माना गया है। इसी नित्यवास का सूत्रोक्त लघुमास प्रायश्चित्त है।

नित्यवास-निषेध एवं उसके प्रायश्चित्त विधान का मूल हेतु यह है कि अकारण निरन्तर नित्यनिवास से अतिपरिचय होता है, उससे अवज्ञा या अनुराग दोनों हो सकते हैं। अवज्ञा से धर्म की हीलना और अनुरागवृद्धि से चरित्र की स्खलना होना संभव है। चारित्र स्खलना में गवेषणा और ब्रह्मचर्य की स्खलना प्रमुख होती है। इसलिए मासकल्प या चातुर्मासकल्प बिताकर विहार करना एवं दुगुना काल अन्यत्र विचरना अत्यावश्यक है।

दशवैकालिक द्वितीय चूलिकागाथा 11 के अनुसार चातुर्मासकल्प वाले क्षेत्र में एक वर्ष पर्यन्त पुनः न जाने की काल गणना इस प्रकार है-- चातुर्मासकल्प के चार मास, उससे दुगुना आठ मास बीतने पर पुनः चातुर्मासकल्प आजाने से तिगुना काल एक वर्ष हो जाता है।

दुगुना तिगुणेणं- आचा. श्रु. 2 अ. 2 उ. 2 में नित्यवास सम्बन्धी उपस्थान क्रिया का वर्णन करते हुए यह सूचित किया गया है कि शेष काल के कल्प (एक मास) का दुगुना काल अन्यत्र बिताये बिना पुनः वहां नहीं आना और चातुर्मास का तिगुणा काल अन्यत्र बिताये बिना पुनः वहां नहीं आना चाहिए अर्थात् दो महीने अन्यत्र बिताने के बाद पुनः उस क्षेत्र में मास कल्प रहा जा सकता है और चातुर्मास बाद तिगुनाकाल बारह मास अन्यत्र बिताने के बाद उस क्षेत्र में कभी भी मास कल्प या चौमासकल्प रहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि एक चौमासे के बाद दो चौमासे अन्यत्र किये बिना उस क्षेत्र में चौमासा नहीं करना यह एकांत धारणा अनावश्यक एवं आगमाधार रहित है अर्थात अति प्ररुपण है। तथा चौमासे के बाद या मास कल्प पूरा करने के बाद एक रात या दो रात कहीं बिताकर फिर उस चौमासे किये क्षेत्र में रहना स्पष्टतः आगम विपरीत स्वच्छंद प्रवृत्ति है।

कल्प में अपवाद का आधार- आगमों में कल्प उपरांत रहने का कहीं भी आपवादिक विधान उपलब्ध नहीं है, किन्तु यहां भाष्य गाथा 1021-1024 तक ग्लान अवस्था आदि परिस्थितियों में तथा ज्ञानादि गुणों की वृद्धि हेतु नित्यवास को दोष रहित कहा है तथा इन कारणों से रहने वाले भिक्षु को जिनाज्ञा एवं संयम में स्थित माना है।

इसी भाष्य गाथा के विधान के आधार से आजकल औषध उपचार के लिए या अध्ययन-अध्यापन के लिए युवक संत-सतियां कल्प उपरान्त ठहरते हैं अथवा मध्यम तीर्थंकर के शैलक राजर्षि की ओट लेकर एक वृद्ध ग्लान साधु के आलम्बन से अनेक साधु साध्वी कल्प उपरांत एक जगह ठहरते हैं जब कि सेवा के लिए तो एक या दो संतों की आवश्यकता होती है।

वास्तव में सेवा कार्य या स्वयं की रुग्णता और अध्ययन के हेतु बिना केवल आलस्य या स्वच्छंदता से कल्प उपरांत ठहरना अकारण मर्यादा भंग करना है जिसकी छूट भाष्य गाथा में भी नहीं कही गई है।

सार- (1) रुग्णता एवं अध्ययन हेतु युवक संत भाष्याधार से कल्प उपरांत ठहरते हैं।

(2) किसी की ओट से अकारण ठहरना स्वच्छंद वृत्ति है।

(3) चौमासे के बाद एक चौमासा उस क्षेत्र में नहीं करना दूसरा चौमासा किया जा सकता है।

(4) मास कल्प के बाद दुगुना और चौमासे के बाद तिगुणा काल बिताये बिना उस क्षेत्र में आकर ठहरना गलत है।

(5) दुगुना तिगुणेणं आचारांग का पाठ ही शुद्ध है।

उद्देशक 18 सूत्र 1

प्रकरण–11

भिक्षु का नौका विहार एवं वाहन उपयोग–

अप्काया के जीवों की विराधना का भिक्षु पूर्णतः त्यागी होता है अतः उसे नौका विहार करना नहीं कल्पता है।

आचारांग सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र तथा दशाश्रुतस्कंघ सूत्र- में अपवादरूप विशेष प्रयोजनों से नौका द्वारा जाने का विधान है।

नौका विहार के कारण– सूत्रों में कहे गये नौका विहार करने का प्रमुख कारण तो कल्पमर्यादा पालन करने का है, साथ ही 1. सेवा में जाना, 2. भिक्षा दुर्लभ होने पर सुलभ भिक्षा वाले क्षेत्रों में जाना, 3. स्थल मार्ग जीवाकुल होने पर, 4. स्थल मार्ग अत्यधिक लम्बा होने पर (इसका अनुपात भाष्य से जानना), 5. स्थल मार्ग में चोर, अनार्य या हिंसक जन्तुओं का भय हो, 6. राजा आदि के द्वारा निषिद्ध क्षेत्र हो तो नौका द्वारा पार करने योग्य नदी को पार करने के लिये नाव में बैठना आगम विहित है अथवा इसे सप्रयोजन माना गया है। उनका इस सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है। किन्तु अप्काया आदि की होने वाली विराधना का प्रायश्चित्त बारहवें उद्देशक में कहे अनुसार समझ लेना चाहिए।

ठाणांग सूत्र अ.5 में वर्षाकाल में विहार करने के कुछ कारण कहे हैं उन कारणों से विहार करने पर कभी नौका द्वारा नदी आदि पार करना पड़े तो वह भी सकारण नौका विहार है, अतः उसका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। नाव देखने के लिये या नौका विहार की इच्छा पूर्ति के लिये ग्रामानुग्राम विचरण करने के लिए या तीर्थ स्थलों में भ्रमण करने हेतु अथवा अकारण या सामान्य कारण से नाव में बैठना निष्प्रयोजन बैठना कहा जाता है उसी का इस प्रथम सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रथम सूत्र के विवेचन में बताये गये कारणों से जाना आवश्यक होने पर, नौकासंतारिम जल युक्त मार्ग ही होने पर, अन्य कोई उपाय न होने से, नौका विहार का सूत्र में विधान है। यदि विहार करते हुए कभी मार्ग में जंघासंतारिम जल हो तो उसे पार करने के लिए पैदल जाने की विधि आ. श्रु.2, अ. 3, उ. 2 में बताई गई है।

जंघाबल क्षीण हो जाने पर या अन्य किसी शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो भिक्षु एक स्थान पर स्थिरवास रह सकता है।

सूत्रोक्त नौका विहार का विधान प्रवचन प्रभावना के लिए भ्रमण करने हेतु नहीं है, क्योंकि निशीथ उ. 12 में तथा दशा.द. 2 में महिने में दो बार और 9 वर्ष में नव बार की ही छूट है जिसका केवल कल्प मर्यादा पालने हेतु नदी पार करने से सम्बन्ध है। इसके सिवाय प्रवचन प्रभावना के लिए पाद विहारी भिक्षु को वाहनों के प्रयोग का संकल्प करना भी संयम जीवन में अनुचित्त है।

अन्य वाहन का उपयोग- उत्सर्ग विधानों के अनुसार संयम साधना करने वाले भिक्षु को पाद विहार ही प्रशस्त है और अपवाद विधानों के अनुसार परिमित जल मार्ग को नौका द्वारा पार करने का आगम में विधान है अन्य वाहनों के उपयोग करने का निषेध प्रश्न श्रु. 2 अ. 5 में है वहां हाथी, घोड़े, वाहन, रथ आदि यान तथा डोली, पालकी आदि का भी निषेध है। विशेष परिस्थिति में इनके आपवादिक उपयोग का निर्णय गीतार्थ की निश्रा से विवेक पूर्वक करना चाहिए। यान-वाहन उपयोग करने के कारण अकारण का स्पष्टीकरण भी नाव के प्रयोग के लिए कहे गये कारणों के समान समझ लेना चाहिए। कल्प मर्यादा का कारण इनमें नहीं होता है।

जीव विराधना की तुलना- विशेष कारण होने पर नौका द्वारा जल मार्ग पार करने में अप्कायिक जीवों की विराधना अधिक होती है और अन्यकायिक जीवों की विराधना अल्प होती है।

सकारण अन्य वाहनों के उपयोग में वायुकायिक जीवों की विराधना अधिक तथा तेजस्कायिक जीवों की विराधना अल्प एवं शेषकायिक जीवों की विराधना और भी अल्प होती है। इन जीव विराधनाओं का उद्देशक 12 सूत्र 8 के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

अपवाद का निर्णय एवं प्रायश्चित्त- अपवादों के सेवन का उसके सेवन की सीमा का और प्रायश्चित्त का निर्धारण तो गीतार्थ ही करते हैं।

आगमोक्त एवं व्याख्या में कहे अपवादों के अतिरिक्त यानों का उपयोग करना अकारण उपयोग माना जाता है अतः उनके अकारण उपयोग का प्रायश्चित्त यहां प्रथम सूत्र के अनुसार समझना चाहिए एवं सकारण वाहन उपयोग का प्रायश्चित्त नहीं आता है। यह भी इस प्रथम सूत्र से स्पष्ट होता है।

किन्तु गवेषणा आदि दोषों का प्रायश्चित्त सकारण या अकारण दोनों प्रकार के वाहन प्रयोग में आता है, इन सूत्रों का तात्पर्य समझना चाहिए।

नौका विहार सम्बन्धी विधि निषेध तथा उपसर्गजन्य स्थिति का विस्तृत वर्णन आचा. श्रु. 2, अ. 3, उ. 1-2 में स्वयं सूत्रकार ने किया है। अतः तत्सम्बन्धी अर्थ विवेचना एवं शब्दार्थ वहीं से जानना चाहिए। अन्य जानकारी के लिए निशीथ उद्देशक 12 तथा 18 एवं बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कंध का विवेचन देखना चाहिए।

उद्देशक 8 सूत्र 10

प्रकरण – 12

स्त्री परिषद में रात्रि व्याख्यान विचारणा–

आगमों में स्त्री-संसर्ग का निषेध होते हुए भी स्त्रियों को दिन में धर्मकथा कहने का सर्वथा निषेध नहीं किया है। अकेला साधु और अकेली स्त्री हो तो धर्मकथा आदि का निषेध अन्य सूत्रों में तथा उपर्युक्त सूत्रों में हुआ है। अनेक स्त्रियां या अनेक साधु हो तो उसका निषेध आगम में नहीं है। अर्थात् अनेक स्त्रियां हो या पुरुष युक्त स्त्रियां हों तो दिन में धर्मकथा कही जा सकती है। फिर भी वय, योग्यता व गुरु की आज्ञा लेने का विवेक रखना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में स्त्री परिषद में धर्मकथा कहने का निषेध किया गया है। अतः रात्रि में साधु के निकट सम्मुख केवल स्त्री परिषद् हो या पुरुष युक्त स्त्री परिषद् हो तो धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए। यह विधिमार्ग है।

अपरिमाणाए- भिक्षाचारी आदि के लिये गया हुआ साधु गृहस्थ के घर में धर्मकथा नहीं कर सकता है। किन्तु अत्यावश्यक प्रश्न के उत्तर संक्षिप्त में दे सकता है एवं आवश्यक होने पर व्रत महाव्रत का स्वरूप भी कह सकता है। देखें- **बृहत्कल्प उद्देशक** 3 इसी आशय से यहां भी ' अपरिमाणए' शब्द का प्रयोग सूत्र में किया गया है। भाष्यचूर्णी आदि में भी इसी आशय का कथन है ।

भाष्यागाथा- **'इत्थीणं मज्झम्मि, इत्थीसंसत्ते परिबुडे ताहि ।**
चउ पंच उ परिमाणं, तेण परं कहंत आणादी ।। 2430 ।।

'परिमाणं जाव तिण्णि चउरो पंचवा वागरणानि, परतो छट्टादि अपरिमाणं ।'

यहां तीन, चार या पांच पृच्छा या गाथा को परिमित कहा गया। छः पृच्छा आदि को अपरिमाण कहा है।

भिक्षा लेने के बाद गृहस्थ के घर में खड़े रहने का निषेध बृहत्कल्प में किया गया है, किन्तु जिस प्रकार आपवादिक स्थिति में बृहत्कल्प सूत्र के अनुसार संक्षिप्त उत्तर देने आदि का विधान भी है। इसी तरह इस सूत्र में भी 'अपरिमाणए' शब्द से आपवादिक कथन ही समझना चाहिए।

साधु के लिये अन्य कथा या विकथा तो सर्वथा निषिद्ध है ही अतः यहां 'कथा' से धर्मोपदेश आदि करना ही अपेक्षित है। अतः उचित एवं आवश्यक प्रतीत होने पर रात्रि में उक्त परिषद को संक्षिप्त धर्मकथा या प्रश्न का उत्तर कह सकता है, परिमाण उल्लंघन होने पर ही सूत्रोक्त गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सार- (1) दिन के व्याख्यान की परिषद में बैठने के समान रात्रि में स्त्रियां व्याख्यान की निकट परिषद में नहीं बैठना चाहिए। एक तरफ दूर अलग बैठ सकती है। यह सूत्र का आशय है। (2) गोचरी गया हुआ साधु गृहस्थ के घर में आवश्यक होने पर परिमित धर्म कथन कर सकता है उसी प्रकार आवश्यक होने पर रात्रि में अनेक स्त्रियों को या स्त्री युक्त पुरुषों को परिमित धर्म कथन या परिमित उत्तर भिक्षु दे सकता है।

उद्देशक 1 सूत्र 43

प्रकरण-13

पात्र के बंधन सूत्रों का वास्तविक आशय-

साधु का लक्ष्य तो यह रहे कि जिस पात्र का सुधार या उसके बंधन आदि कार्य न करना पड़े, ऐसे पात्र की ही याचना करें। सूत्र 41-42 व 44-45 इन दो-दो सूत्रों का भाव यही है कि 'जो भी पात्र मिले वह ऐसा हो कि कुछ भी संस्कार सुधार किए बिना सीधा उपयोग में आवे। यदि ऐसा न हो तो आवश्यकतानुसार जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन बंधन लगाये जा सकते हैं।'

बंधन का अर्थ है- पात्र की गोलाई को धागे आदि से बांधकर मजबूत करना, जिससे अधिक समय तक सुरक्षित रह सके।

एक स्थान पर बंधन लगाना एक बंधन कहलाता है और तीन स्थानों पर बांधना तीन बंधन कहलाता है।

मिट्टी के पात्र में बिना बंधन के काम चल सकता हो तो एक भी जगह बांधने की आवश्यकता नहीं होती है।

लकड़ी के अत्यन्त छोटे पात्र में एक भी बंधन की आवश्यकता नहीं होती है। लकड़ी के बड़े पात्र में एक बंधन आवश्यक होता है। तुम्बे का पात्र आवश्यकतानुसार दो या तीन जगह बंधन लगाने से सुरक्षित रहता है। साधु का मुख्य लक्ष्य सदा यह रहे कि अधिक प्रमाद न हो और स्वाध्याय बढ़े।

साधु का प्रमाद शरीर और उपधि सम्बन्धी कार्य करना होता है, सावध योगरुप गृहस्थ के प्रमाद का तो वह सर्वथा त्यागी ही होता है।

अइरेग बंधन- आवश्यक होने पर बंधन लगाने की अनुज्ञा (स्वीकृति) है, उत्कृष्ट तीन बंधन लगाने की भी अनुज्ञा है। तीन बंधन वाला पात्र जब तक उपयोग में आवे तब तक रखा जा सकता है। सामान्यतः तीन से ज्यादा बंधन की आवश्यकता या उपयोगिता किसी भी प्रकार के पात्र में नहीं होती है। यह सूत्र 44-45 से स्पष्ट होता है, तथापि सूत्र 46 में विकट परिस्थिति की संभावना के आशय से उसकी भी सीमित अनुज्ञा दी गई है अर्थात् किसी क्षेत्र या काल की परिस्थिति में लकड़ी या तुंबा का पात्र जिसमें कि पहले से तीन बंधन लगे हैं और वह टूट-फूट जाय तो जब तक अन्य पात्र न मिले तब तक 4-5 बंधन लगाकर के भी चलाना पड़े तो शीघ्रातिशीघ्र मिट्टी आदि के पात्र की याचना कर लेना चाहिए और अधिक बंधन वाले पात्र को परठ देना चाहिए। उस अधिक बंधन वाले पात्र को डेढ़ महीने के बाद रखने पर इस (46 वें) सूत्र से प्रायश्चित्त आता है।

विधि और अविधि बंधन की व्याख्या-

1. बंधन और थेगली लगाने के बाद तथा सिलाई आदि के बाद वह स्थान प्रतिलेखन करने योग्य हो जाना चाहिए।

2. जहां बंधन, थेगली आदि लगाये गए हों, वहां से आहार आदि का अंश सरलता से साफ हो जाय ऐसा हो जाना चाहिए।

3. बंधन आदि लगाने का कार्य कम से कम समय में हो जाए अधिक समय न लगे। ये ही विधि या विवेक समझने चाहिए और इसके विपरीत अविधि समझना चाहिए।

उद्देशक 12 सूत्र 5

प्रकरण – 14

पुस्तक रखने सम्बन्धी सत्य हकीकत-

भाष्य में पुस्तकों के पाँच प्रकार बताये हैं। यथा

1. गंडी पुस्तक- चौड़ाई, मोटाई में समान अर्थात् चौरस लंबी पुस्तक ।

2. कच्छपी पुस्तक- बीच में चौड़ी, किनारे कम चौड़ी, अल्प मोटाई वाली।

3. मुष्टि पुस्तक- चार अंगुल विस्तार में वृत्ताकार गोल अथवा चार अंगुल लंबी चौड़ी समचौरस ।

4. संपुट- फलक पुस्तक - वृक्ष आदि के फलक से निर्मित पुस्तक ।

5. छेदपाटी पुस्तक- ताड़ आदि के पत्तों से बनी पुस्तक, कम चौड़ी तथा लम्बाई व मोटाई में अधिक एवं बीच में एक, दो या तीन छिद्र वाली।

ये सभी पुस्तकें झुषिर (पोलार) युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य है, अतः अकल्पनीय है।

पुस्तक रखने से होने वाले नुकसान-

1. विहार में भार अधिक होता है।

2. कंधों पर घाव हो सकते हैं।

3. पोल रहने से प्रतिलेखन अच्छी तरह नहीं होता है।

4. कुंथुवे, फूलन पनक की उत्पत्ति हो सकती है।

5. धन की आशा से चोर चुरा सकते हैं।

6. तीर्थंकर भगवान ने इनके उपयोग करने की आज्ञा नहीं दी है अर्थात् प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में कहे गये भिक्षु के उपकरणों में इनका नाम नहीं है।

7. स्थानांतरित करने में परिमंथ होता है।

8. सूत्र लिखा हुआ है ही, ऐसा सोच कर साधु-साध्वी प्रमादवश पुनरावृत्ति या कंठस्थ नहीं करे तो उससे श्रुत-अर्थ विनष्ट होता है।

9. पुस्तक सम्बन्धी परिकर्म में सूत्रार्थ के स्वाध्याय की हानि होती है।

10. अक्षर लिखने में कुंथुवे आदि प्राणियों का वध हो सकता है।

11. कई संघातिम जीवों के कलेवर अक्षरों पर चिपक जाते हैं अथवा उसका खून अक्षरों पर लग जाता है।

जीववध के चार दृष्टान्त-

1. चतुरंगिणी सेना के बीच से हिरण,

2. घी दूध आदि में से संपातिम जीव,

3. तेल की घाणी आदि में से तिल या त्रस जीव तथा

4. जाल में फंसा हुआ मत्स्य इत्यादि अनेक जीव कदाचित् छुट भी सकते हैं. बच भी सकते हैं. किन्त पुस्तक के बीच में आजाने वाले प्राणी नहीं बच सकते। इसलिये भाष्य में कहा है- **जतिय मेत्ता वारा, मुंचति, बंधति य जतिया बारा । जति अक्खराणि लिहंति व, तति लहुगा व आवज्जे ।।**

-भा.गा.4008

अर्थ- इन पुस्तकों को जितनी बार खोले, बंद करे या जितने अक्षर लिखें उतनी बार लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और जो प्राणी मर जाय उसका प्रायश्चित्त भी अलग आता है।

पुस्तक रखने का अपवाद मार्ग एवं विवेक-

शारीरिक परिस्थिति से आवश्यक होने पर चर्म-पंचक ग्रहण करके उपयोग में लिये जा सकते हैं, उसी प्रकार श्रुतविस्मृति आदि कारणों से अध्ययन में सहयोगी होने से, पुस्तक आदि साधन भी विवेक के साथ रखे जा सकते हैं।

अपने पास रखी जाने वाली औघिक और औपग्रहिक उपधि का उभयकाल प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना भिक्षु का आवश्यक आचार है। तदनुसार यदि पुस्तकों को अपनी उपधि रुप में रखना हो तो उनका भी उभय काल यथाविधि प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना चाहिए। ऐसा करने पर भाष्योक्त कई दोषों की सम्भावना भी नहीं रहती है और ज्ञान-आराधना में भी सुविधा रहती है।

भाष्यकाल की पुस्तकों की अपेक्षा वर्तमान युग की पुस्तकों में झुषिर अवस्था भी अत्यल्प होती है इस कारण से भी इनमें दोष की सम्भावना अल्प है।

ज्ञान भण्डारों में उचित विवेक किए बिना रखी जाने वाली अप्रतिलेखित पुस्तकों में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उन पुस्तकों का उपयोग करने में जीवविराधना की अत्यधिक सम्भावना रहती है, अतः उसका यथोचित विवेक रखना चाहिए।

आवश्यक अध्ययन के बाद पुस्तकें रखना, लिखना या पढ़ना आदि प्रवृतियों से निवृत्त होने का संकल्प रखना चाहिए एवं यथा समय इनसे निवृत्त होकर कंठस्थ स्वाध्याय एवं ध्यान साधना मय जीवन व्यतीत करना चाहिए।

उद्देशक 12 सूत्र 1-2

प्रकरण-15

अनुकम्पा में दोष के भ्रम का निवारण-

कोलुण शब्द का अर्थ करूणा या अनुकम्पा होता है। यथा- कोलुणं-कारुण्यं, अणुकम्पा । -चूर्णी

बंधा हुआ पशु बंधन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा हो, उसे बंधन से मुक्त कर देना अथवा सुरक्षा के लिये खुले पशु को नियत स्थान पर बांध देना यह पशु के प्रति करूणा भाव है।

पशु को बांधने पर वह बंधन से पीड़ित हो या आकुल-व्याकुल हो तो तज्जन्य हिंसा दोष लगता है। खोलने पर कुछ हानि कर दे, निकलकर कहीं गुम जाये या जंगल में चला जाये और वहां कोई दूसरा पशु उसे खा जाये या मार डाले तो भी दोष लगता है।

यद्यपि पशु आदि के खोलने बांधने आदि के कार्य संयम समाचारी से विहित नहीं है। ये कार्य भी गृहस्थ के कार्य ही हैं। इसलिए उसका प्रायश्चित्त गृहस्थ कार्य करने के प्रायश्चित्त के बराबर आना चाहिए अर्थात् गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आना चाहिए। किन्तु अनुकम्पा भाव की मुख्यता होने से इसका गुरु प्रायश्चित्त न कहकर लघु प्रायश्चित्त कहा गया है।

अनुकम्पा भाव रखना यह सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण है, फिर भी भिक्षु ऐसे अनेक गृहस्थ, जीवन के कार्यों में न उलझ जाये इसलिये उसके संयम जीवन की अनेक मर्यादाए है। भिक्षु के पास आहार या पानी आवश्यकता से अधिक हो तो उसे परठने की स्थिति होने पर भी किसी भूखे या प्यासे व्यक्ति को मांगने पर या बिना मांगे देना नहीं कल्पता है क्योंकि इस प्रकार देने की प्रवृत्ति से या प्रस्तुत सूत्र कथित प्रवृत्ति करने से क्रमशः भिक्षु अनेक गृहस्थ कृत्यों में उलझ कर संयम साधना के मुख्य लक्ष्य से दूर हो सकता है। उत्तरा. अ. गा. 40 में नमिराजर्षि शक्रेन्द्र के द्वारा की गई दान की प्रेरणा के उत्तर में कहते है। **'तस्सावि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचणं ।।' अर्थात् कुछ भी दान न करते हुए गृहस्थ के महान दान से भी संयम श्रेष्ठ है।**

अनुकम्पा भाव युक्त प्रवृत्ति की सामान्य परिस्थिति के प्रायश्चित्त में एवं विशेष परिस्थिति के प्रायश्चित्त में भी अन्तर होता है जो प्रायश्चित्तदाता गीतार्थ के निर्णय पर ही निर्भर रहता है।

यदि कोई पशु या मनुष्य मृत्यु संकट में पड़े हों और उन्हें कोई बचाने वाला न हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई भिक्षु उन्हें बचा ले तो उसे छेद या तप प्रायश्चित्त नहीं आता है। केवल गुरू के पास उसे आलोचना रूप निवेदन करना आवश्यक होता है।

यदि उस अनुकम्पा की प्रवृत्ति में बांधना, खोलना आदि गृहकार्य, आहार-पानी देना आदि मर्यादा भंग के कार्य या जीवविराधना का कोई कार्य हो जाये तो उन दोषों का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। किन्तु अनुकम्पा का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। फिर भी सूत्र में अनुकम्पा शब्द लगाकर कथन किया है वह मोह भाव का अभाव सूचित कर लघु प्रायश्चित्त कहने की अपेक्षा से है और साथ में यह भी बताया गया है कि करूणा भाव की प्रमुखता से गृहस्थ प्रवृत्ति का भी गुरू से लघु प्रायश्चित्त हो जाता है।

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने संयमसाधना काल में तेजोलेश्या से भस्मभूत होने वाले गौशालक को अपनी शीतलेश्या से बचाया और केवल ज्ञान के बाद इस प्रकार कहा कि 'मैने गौशालक की अनुकम्पा के लिये शीतलेश्या छोड़ी, जिससे वेश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई। - भग. श. 15

अतः प्रस्तुत सूत्र में करूणा भाव या अनुकम्पा भाव का प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु उसके साथ की गई गृहस्थ की प्रवृत्ति या संयममर्यादा भंग की प्रवृत्ति का ही प्रायश्चित्त है और करूणा भाव साथ में होने से उस प्रवृत्ति का लघु प्रायश्चित्त है ऐसा समझना चाहिए।

अनुकम्पा पवित्र आत्म परिणाम है–

अनुकम्पा का अर्थ है– किसी प्राणी को दुःखी देखकर देखने वाले का ह्रदय करूणा से भर जाना और भावना जागृत होना कि 'इसका यह दुःख दूर हो जाय', इसको ही अनुकम्पा कहते हैं। यह अनुकम्पा आत्मा का परिणाम है, आत्मा का गुण है और एकांत निर्वद्य है। अतः अनुकम्पा के सावद्य निर्वद्य ऐसे विकल्प करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अनुकम्पा के परिणामों के पश्चात् किसी के दुःख को दूर करने के लिए जो साधन रूप प्रवृत्ति की जाती है वह प्रवृत्ति सावद्य और निर्वद्य दोनों तरह की हो सकती है। यथा-भूख-प्यास से व्याकुल पुरुष को श्रावक द्वारा अचित्त भोजन व अचित्त जल दे देना अथवा सचित्त भोजन और सचित्त जल दे देना। किन्तु इससे आत्म परिणाम रूप जो अनुकम्पा भाव है, उन भावों को या आत्म गुणों को सावध निर्वद्य के विकल्प से नहीं कहा जा सकता। वे तो शुभ एवं पवित्र आत्म परिणाम ही है।

आत्मा के इन्हीं पवित्र परिणामों के कारण गृहस्थ प्रवृत्ति का भी प्रस्तुत सूत्र में लघु प्रायश्चित्त कहा गया है।

अनुकम्पा के भावों के निमित्त से अन्य कोई भी प्रवृत्ति की जाय उसे भी यथा योग्य सावद्य या निर्वद्य समझ लेनी चाहिए।

सार– (1) अनुकम्पा के आत्म परिणाम तो सदा सर्वदा श्रेष्ठ एवं पवित्र ही होते हैं।

(2) अनुकम्पा से किसी के दुःख को दूर करने में जो प्रवृत्ति की जाती है वह निर्वद्य भी होती है और सावध भी होती है। प्रवृत्ति करने में साधु एवं श्रावक की अपनी-अपनी अलग-अलग मर्यादाएं होती है तदनुसार ही विवेक रखना योग्य है।

उद्देशक 5 सूत्र 39

प्रकरण -16

संभोग-प्रत्ययिक क्रिया का अस्तित्त्व-

'एकत्र भोजनं संभोग ततप्रत्यया क्रिया-कर्मबन्ध, नास्तीति, जो एवं भाषते, तस्स मास लहूं । एस सुत्तत्थो ।' 'संभोइओ संभोइएण समं उवहिं सोलसेहिं आहाकम्मादिएहिं उग्गमदोसेहिं सुद्धं उप्पाएति तो सुद्धो, अह अशुद्धं उप्पाएइ, जेण उग्गमपदोसेण अशुद्धं गेण्हति, तत्थ जावतिओ कम्मबंधो जं च पायच्छित्तं तं आवज्जति।' -नि. चूर्णी ।

जिसके साथ में आहार का संभोग होता है ऐसा कोई भी सांभोगिक साधु आहारादि ही गवेषणा में कोई दोष लगाता है, तो उस वस्तु का उपयोग करने वालों को भी गवेषणा दोष सम्बन्धी क्रिया अर्थात् कर्मबन्ध व प्रायश्चित्त आता है।

अतः संभोगप्रत्ययिक क्रिया के सम्बन्ध में गलत धारणा तथा प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए कि 'गवेषणा करने वाले को दोष लगता है, खाने या उपयोग में लेने वाले को कोई संभोग प्रत्यया क्रिया नहीं लगती है। ' किन्तु सूत्रकृतांग सूत्र अ. 10 में कही गई सूचना को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात्- जहां आधाकर्मी आहार आदि का उपयोग करना आवश्यक हो जाता हो उस समूह का त्याग कर एकत्व चर्या धारण कर लेनी चाहिए।

संभोग विसंभोग सम्बन्धी अन्य जानकारी पूर्व में इसी ग्रंथ में दी गई है।

उद्देशक 1 सूत्र 1

प्रकरण- 17

अनुमोदन क्रिया का स्पष्टीकरण-

'**करेइ, करेंतं वा साइज्जइ**'- सूत्र में कराने की क्रिया नहीं दी गई है। 'कराना' भी एक प्रकार का अनुमोदन ही है, क्योंकि कराने में अनुमोदन निश्चित है जिससे कराने की क्रिया का भी ग्रहण हो जाता है । चूर्णिकार ने भी -- 'साइज्जणा-कारावणे, अनुमोदने' इस प्रकार व्याख्या की है तथा आदि और अंत के कथन से मध्य का ग्रहण भी हो सकता है। अतः जहां पर भी 'करेइ, करेंतं वा साइज्जइ पाठ है, वहां यह अर्थ समझ लेना चाहिए कि 'करता है या करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।'

साइज्जइ- किसी भी निषिद्ध कार्य के होने में अभिरूचि रखना 'साइज्जणा' है। वह दो प्रकार की है- (1) निषिद्ध कृत्य दूसरे से करवाना । (2) निषिद्ध कृत्य करते हुये का अनुमोदन करना।

दूसरे से करवाना भी दो प्रकार का है- (1) जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की है, उससे करवाना, (2) जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की नहीं है, उससे बलपूर्वक करवाना।

अनुमोदन भी दो प्रकार का है- (1) निषिद्ध कार्य करने वाले की सराहना करना, (2) अकृत्य करने वाले को गणप्रमुख आदि के द्वारा मना न करना।

शंका- गुरूतर दोष किसमें है, किसी अन्य से निषिद्ध कृत्य करवाने में या निषिद्ध कृत्य का अनुमोदन करने में?

समाधान- अनुमोदन में लघुतर दोष है और करवाने में गुरुत्तर दोष है । -- नि. चू. भाग 2 पृष्ट - 25, गाथा 588

उद्देशक 4 सूत्र 31

प्रकरण - 18

कृत्स्न सचित्त धान्य खाने का प्रायश्चित्त-

द्रव्यकृत्स्न और भावकृत्स्न इन दो भेदों के चार भंग होते हैं। द्रव्यकृत्स्न का अर्थ है अखण्ड और भावकृतस्न का अर्थ है सचित्त। यहां प्रायश्चित्त का विषय है इसलिए 'भावकृत्स्न' (सचित्त) अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

यहां 'ओसहिओ' से धान्य और उपलक्षण से अन्य प्रत्येक जीव वाले बीजों को ग्रहण करना चाहिए। अतः सूत्र का अर्थ है कि सचित्त धान्य एवं बीज का आहार करने से लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

द्रव्य और भाव की चौभंगी में सचित्त सम्बन्धी प्रथम और द्वितीय दो भंग है उनका ही यह प्रायश्चित्त है, अचित्त सम्बन्धी दो भंगों में सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं है।

अचित अखंड धान्यादि खाने का विधान- व्याख्याकार ने 'अचित्त अखण्ड' में भी प्रायश्चित्त कहा है किन्तु सूत्रकार का आशय यह नहीं है। इसके लिए निम्न आगम स्थल देखने चाहिए।

1. अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयणं मंथुकुम्मासेणं । आ. सु. 1. अ.9, उ. 4, गा. 4

2. अवि सूइयं व सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।

अदु बुक्कसं व पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ।। आ. सु. 1, अ.9, उ. 4, गा.13

3. आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीर-जवोदगं च । उत्त. अ.15, गा. 13

4. पंताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।

अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए णिसेवए मंथु ।। उत्त. अ. 8, गा.12

दशवे. अ. 5. उ. 1, गा.98 में '**मंथुकुम्मासभोयणं ।**

उपरोक्त स्थलों से स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान् महावीर स्वामी ने अचित्त अखण्ड धान्य चावल, उड़द आदि का आहार किया था तथा उत्तराध्ययन सूत्र में जौ के ओदन का व उड़द के बाकले आदि के लेने एवं खाने का कथन है। वर्तमान में भी चावल, बाजरा, जौ आदि का ओदन व अखण्ड मूंग चना आदि का व्यंजन साग बनता है एवं लिया जाता है।

अतः अचित्त अखण्ड धान्यादि खाने का प्रायश्चित्त न समझ कर सचित्त धान्य या बीज के आहार का यह मासिक प्रायश्चित्त है ऐसा समझना ही आगमसम्मत है।

सचित्त धान्य जानकर खाने का प्रायश्चित्त और अनजाने में खाने का प्रायश्चित्त भिन्न-भिन्न होता है। उसे प्रारम्भ में दी गई प्रायश्चित्त-तालिका से समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त कच्ची वनस्पति, नमक, पानी आदि असंख्य जीवी प्रत्येककाय के खाने का या उसके सचित्त से संयुक्त अचित्त पदार्थ खाने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त निशीथ के बारहवें उद्देशक में है और फूलण आदि अनंतकाय संयुक्त आहार खाने का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त निशीथ के दसवें उद्देशक में है।

ये सभी (तीनों) प्रायश्चित्त सचित्त खाने की अपेक्षा या सचित्त मिश्रित खाने की अपेक्षा है। भिक्षु को ये सचित्त खाने का प्रसंग भूल से हो जाने की संभावना रहती है। जानकर सचित्त खाना तो भिक्षु के लिए असंभव सा ही है।

उद्देशक 11 सूत्र 60

प्रकरण-19

अचित्त नमक और आहार-अणाहार, रात्रि-भोजन-परिज्ञान-

बिलं वा लोणं-पकाया हुआ नमक।
उब्भियं वा लोणं-अन्य शस्त्रपरिणत नमक।

ये दोनों प्रकार के नमक अचित्त हैं। आगम में सचित्त नमक के साथ इन दो प्रकार के नमक का नाम नहीं आता है। दशवै. अ. 3 गा. 8 में 6 प्रकार के सचित्त नमक ग्रहण करने व खाने को अनाचार कहा है, यथा --

'सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ।।'

आचा. श्रु. 2, अ.1, उ. 10 में इन उक्त दो प्रकार के नमक को खाने का विधान है। दशवै अ. 6, गा. 18 में इन दो के संग्रह का निषेध है और प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में रखे हुए को खाने का प्रायश्चित्त है। इन स्थलों के वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उपरोक्त छः प्रकार के सचित्त नमक में से कोई नमक अग्नि-पक्व हो तो उसे 'बिडलवण' कहते हैं और अन्य शस्त्रपरिणत हो तो उसे 'उद्‌भिन्न नमक' कहते हैं।

भाष्यकार यहां आहार एवं अनाहार योग्य पदार्थों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि ये सूत्रोक्त पदार्थ भूख-प्यास को शांत करने वाले न होते हुए भी आहार में मिलाये जाते है और आहार को संस्कारित करते हैं, अतः ये भी आहार के उपकारक होने से आहार ही है।

औषधियां आहार व अनाहार रूप से दो प्रकार की कही है-

1. जिन्हें खाने पर कुछ भी अनुकूल स्वाद आए वे आहार रूप है।

2. जो खाने में अनिच्छनीय एवं अरूचिकर हो वे अनाहार है, यथा- त्रिफला आदि औषधियां, मूत्र, निम्बादि की छाल, निम्बोली तथा और भी ऐसे अनेक पत्र, पुष्प, फल बीज आदि समझ लेना चाहिए।

अथवा भूख में जो कुछ भी खाया जा सकता है वह सब आहार है।

यह व्याख्या एक विशेष अपेक्षा से ही समझनी चाहिए क्योंकि व्यव. उ. 9 के अनुसार रात्रि में स्वमूत्र पीना भी निषिद्ध है, जिसे भाष्य में अनाहार कहा गया है। अतः इन त्रिफला आदि पदार्थों को भी रात्रि में खाना या उपवास आदि में अनाहार समझ कर खाना आगम सम्मत नहीं समझना चाहिए अर्थात् आहार या अनाहार कोई भी पदार्थ रात्रि में खाना-पीना साधु को नहीं कल्पता है। गोबर आदि लेप्य पदार्थ भी रात में लगाने का प्रायश्चित्त निशीथ के बारहवें उद्देशक में कहा है।

विवेचन के अन्त में भाष्यकार ने भी आहार व अनाहार रूप पदार्थों को सामान्यतया रात्रि में रखने और खाने का निषेध ही किया है। आहार के रखने पर गुरुचौमासी और अनाहार के रखने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

उद्देशक - 12 सूत्र 10

प्रकरण-20

गृहस्थ के बर्तन में खाना और वस्त्र धोना-

भिक्षु गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में आहारादि ग्रहण कर उसे खा सकता है किन्तु गृहस्थ के थाली-कटोरी आदि में नहीं खा सकता है तथा उनके गिलास लोटे आदि से पानी नहीं पी सकता है। यह मुनिजीवन का आचार है।

दशवै. अ. 6 गा. 51-52-53 में इसका निषिध किया गया है, यह वर्णन इस प्रकार

'कांस्य मिट्टी आदि किसी भी प्रकार के गृहस्थ के बर्तन में अशन-पान आदि आहार करता हुआ भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है। ।। 51 ।।

भिक्षु के खाने या पीने के बाद गृहस्थ के द्वारा उन बर्तनों को धोये जाने पर अप्काय की विराधना होती है और उस पानी के फेंकने पर अनेक त्रस प्राणियों की भी हिंसा होती है, अतः इसमें जिनेश्वर देव ने असंयम कहा है। ।। 52 ।।

पूर्वकर्म-पश्चात् कर्म आदि दोष लगते हैं अतः भिक्षु को गृहस्थ के बर्तनों में खाना-पीना नहीं कल्पता है। इन्हीं कारणों से निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के बर्तन में आहारादि नहीं करते।

दशवै. अ. 3 गा. 3 में गृहस्थ के बर्तन में खाने की प्रवृत्ति को अनाचार कहा है

सूय. श्रु. 1 अ. 2 उ. 2 गा. 20 में गृहस्थ के बर्तनों में नहीं खाने वाले भिक्षु को सामायिक चारित्रवान कहा है।

सूय. श्रु. 1 अ. 9 गा. 20 में कहा गया है कि-भिक्षु गृहस्थ के बर्तनों में आहार कदापि नहीं करें।

गृहस्थ के पात्र में खाने से होने वाले दोष-

1. गृहस्थ के घर में खाना ।

2. गृहस्थ के द्वारा स्थान पर लाया हुआ खाना ।

3. गृहस्थ द्वारा बर्तनों को पहले या पीछे धोना ।

4. नया बर्तन खरीदना।

5. आहार-पानी की अलग-अलग व्यवस्था करना। इत्यादि अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है।

अतः भिक्षु को आगमानुसार लकड़ी, मिट्टी या तुम्बे के अपने पात्र में ही आहार करना चाहिए। गृहस्थ के थाली, कटोरी, गिलास, लोटे आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त आगम पाठों में गृहस्थ के पात्र में आहार-पानी के उपयोग करने का निषेध है और उन सूत्रों की व्याख्याओं में आहार-पानी सम्बन्धी दोषों का ही कथन है। अतः वस्त्रप्रक्षालन के लिए औपग्रहिक उपकरण के रूप में गृहस्थ के पात्र का यदि उपयोग किया जाए तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता हैं क्योंकि उनका उपयोग करने पर पश्चात्कर्मादि कोई दोष भी नहीं लगते हैं। सामान्यतया तो भिक्षु को अपने उपकरणों से ही सभी आवश्यक कार्यों का निर्वाह करना चाहिए। यही श्रेष्ठ है।

उद्देशक 3 सूत्र 69

प्रकरण-21

सरीखे 54 सूत्रों का संकलनात्मक परिचय-

निशीथ सूत्र में 54 सूत्रों का समूह रूप एक आलापक या गमक है जिसका अन्यान्य अपेक्षा से उद्देशक 3-4-6-7-11-15-17 में भी कथन है। सर्वत्र इसी उद्देशक के मूल पाठ व अर्थ एवं विवेचन की सूचना की गई है। अतः इनको संक्षिप्त तालिका से समझ लेना चाहिए।

क्रमांक		तीसरे उद्देशक के सूत्रांक	
1-6	16-21	पैर परिकर्म के सूत्र	6
7-12	22-27	काय (शरीर) परिकर्म के सूत्र	6
13-18	28-33	व्रण (घाव) चिकित्सा के सूत्र	6
19-24	34-39	गंडादि (घुमडे आदि) की शल्य चिकित्सा के सूत्र	6
25	40	कृमिनीहरण का सूत्र	1
26	41	नख परिकर्म का सूत्र	1
27-30	42-47	रोम परिकर्म के सूत्र (जंघ, वत्थि, रोमराइ, कक्ख, उत्तरोट्ठ और मसु)	6
33-35	48-50	दंत परिकर्म के सूत्र	3
36-41	51-56	ओष्ठ परिकर्म के सूत्र	6
42-48	57-63	चक्षु परिकर्म के सूत्र	7
49-51	64-66	रोम केश परिकर्म के सूत्र (नासा, भमुग, केसाई)	3
52	67	प्रस्वेद-पसीना निवारण का सूत्र	1
53	68	चक्षु, कर्ण, दंत, नख, मल-नीहरण सूत्र	1
54	69	मस्तक ढंकने का सूत्र	1
		योग	**54**

इस तीसरे उद्देशक में अकारण स्वयं करने का प्रायश्चित्त बताया है।

चौथे उद्देशक में अकारण साधु-साधु परस्पर में करने का प्रायश्चित्त बताया है।।

छट्टे-सातवें उद्देशक में मैथुन भाव से क्रमशः स्वयं करने व साधु-साधु परस्पर करने का प्रायश्चित्त है।

ग्यारहवें उद्देशक में साधु के द्वारा गृहस्थ के ये कार्य करने का प्रायश्चित्त है।

पन्द्रहवें उद्देशक में गृहस्थ से ये कार्य कराने का प्रायश्चित्त है एवं विभूषा वृत्ति से करने का प्रायश्चित्त भी कहा है। इस उद्देशक में 54 सूत्र के दो आलापक है।

सत्रहवें उद्देशक में साधु गृहस्थ के द्वारा साध्वी के कराने का तथा साध्वी गृहस्थ के द्वारा साधु के कराने का प्रायश्चित्त कथन हुआ है। इस उद्देशक में भी दो आलापक है।

इस प्रकार इन 54 सूत्रों का निशीथ सूत्र में कुल नव बार पुनरावर्तन अन्यान्य अपेक्षा से हुआ है।

जिस प्रकार इस उद्देशक में इन 54 सूत्रों का प्रायश्चित्त विधान अकारण से ये प्रवृत्तियां करने का है उसी प्रकार अन्य उद्देशों में भी जहां कहीं भी शरीर और उपकरण के परिकर्म सम्बन्धी अन्य सामान्य (विभूषा, मैथुन, गृहस्थ सेवा आदि के निर्देश बिना) सूत्र है वहां अकारण करने का ही प्रायश्चित्त समझना चाहिए। यथा- प्रथम उद्देशक में पात्र वस्त्र संबंधी सुधार कार्य का प्रायश्चित्त आदि।

उद्देशक 3 सूत्र 48-50

प्रकरण - 22

दंत-मंजन सम्बन्धी उत्सर्ग-अपवाद और विवेक-ज्ञान-

दशवैकालिक अ. 3 गा. 3. में दंतप्रक्षालन को अनाचार कहा है तथा उववाई आदि अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर श्रमण-चर्या में 'अदंत धावण' भी एक आवश्यक महत्वशील चर्या कही गई है। वर्तमान युग में साधु-साध्वियों की आहार पानी की सामग्री प्राचीन काल जैसी न रहने के कारण दंतप्रक्षालन (दंतमंजन) आदि न करने पर दांतों में दंतक्षय या 'पायरिया' आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। अतः जिन साधु-साध्वियों को उक्त जिनाज्ञा का पालन करना हो तो उन्हें नीचे लिखी सावधानियां रखनी चाहिए-

1. पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करना, यदि सेवन किया जाए तो उपवास आदि तप अवश्य करना,

2. सदा ऊणोदरी तप अवश्य करना, अर्थात् भूख से कम ही खाना।

3. अत्यन्त गर्म या अत्यन्त ठण्डे पदार्थों का सेवन नहीं करना,

4. भोजन करने के बाद या कुछ खाने-पीने के बाद दांतों को साफ करते हुए कुछ पानी पी लेना चाहिए। शाम का चौविहार का त्याग करते समय भी इसी प्रकार दांतों को अच्छी तरह साफ करते हुए पानी पी लेना चाहिए।

5. दिन भर या बार बार नहीं खाना ।

उक्त सावधानियां रखने पर 'अदंत धावण' नियम का पालन करते हुए भी दांत स्वस्थ रह सकते हैं, एवं इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य पालन आदि में भी समाधि भाव रह सकता है।

आगमोक्त अदंतधावन, अस्नान, ब्रह्मचर्य, ऊणोदरी तप तथा अन्य बाह्य आभ्यन्तर तप एवं अन्य सभी नियम परस्पर सम्बन्धित है, अतः आगमोक्त सभी नियमों का पूर्ण पालन करने पर ही स्वास्थ्य एवं संयम की समाधि कायम रह सकती है।

तापर्य यह है कि अदंत धावन नियम के पालन में खान-पान का विवेक आवश्यक है, और खान पान के विवेक से ही इन्द्रिय निग्रह में सफलता प्राप्त हो सकती है। इन्द्रिय निग्रह सफलता में ही संयमाराधन की सफलता रही हुई है। इन्हीं कारणों से आगमों में अदंतधावण को इतना अधिक महत्व दिया गया है।

सामान्यतः मंजन करना और दंतधावन सम्बन्धी क्रियाएं करना, ये सब संयम जीवन के अयोग्य प्रवृत्तियां हैं किन्तु यदि असावधानी से या अन्य किसी कारण से दांतों के रूग्ण हो जाने पर चिकित्सा के लिए मंजन करना एवं दंतप्रक्षालन सम्बन्धी क्रियाएं करना पड़े तो वह अनाचार नहीं है एवं उसका प्रस्तुत सूत्र से प्रायश्चित्त भी नहीं आता है।

दांतों की रूग्णता ज्ञात होने के बाद भी साधक को उपर्युक्त सावधानियां रख कर शीघ्र ही चिकित्सा के निमित्त किये जाने वाले दंत प्रक्षालन मुक्त हो जाना चाहिये,अर्थात् सदा के लिये दंतप्रक्षालन प्रवृत्ति को स्वीकार न करके खान-पान का विवेक करके अदंतधावनचर्या को पुनः स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रों में अकारण (भ्रम से, रोग के भय से या गलत संस्कार से, आदत से) मंजन करने का एवं प्रक्षालन करने का या अन्य कोई पदार्थ लगाने का प्रायश्चित्त कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

विभूषा के संकल्प से मंजन आदि करने का प्रायश्चित्त यहां इन लघुमासिक प्रायश्चित्त के सूत्रों में नहीं समझें। विभूषा के संकल्प का तो पंद्रहवें उद्देशक में लघु चौमासी प्रायश्चित्त अलग ही कहा गया है।

उद्देशक 3 सूत्र 67-68

प्रकरण - 23

मैल परीषह जीतने के उत्सर्ग अपवाद का विवेक ज्ञान-

अपवाद कल्प- अल्पाधिक चक्षु रोग हो जाने के कारण आंख का मैल निकालना 'सकारण' है और वह प्रायश्चित्त योग्य नहीं है। दांतों में से अन्न आदि का कण निकालना तथा अल्पाधिक दंत-रोग हो जाने पर दांतों का मैल निकालना भी 'सकारण' समझना चाहिए।

नखों में प्रविष्ट अशुचिमय पदार्थो का निकालना तथा प्रविष्ट अन्नकणों का निकालना प्रायश्चित्त योग्य नहीं है, तथा बाल ग्लान वृद्ध आदि की वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अथवा सामूहिक सेवा कार्यों के लिए नखों का मैल निकालना 'सकारण' है।

उत्सर्ग कल्प- जो आत्मलब्धिक आहार करने वाले या एकाकी आहार करने वाले, गच्छवासी धर्मरूचि अनगार या अर्जुनमाली के समान साधक हो तथा गच्छनिर्गत साधक हो या गच्छगत होते हुए भी सेवा सम्बन्धी कार्यों से पूर्ण निवृत्त साधक हो या समान रूचि वाले ही सहयोगी साथी साधक हो तो उन्हें अशुचि व आहार कणों के निकालने के सिवाय नख का मैल निकालने की आवश्यकता नहीं रहती है।

विवेक- खाज खुजलाने आदि की प्रवृत्ति कम करने से या स्वावलंबी व सेवानिष्ठ जीवन होने से नखों में मैल के रहने की संभावना भी कम रहती है।

सूत्र 67 और 68 के इस प्रायश्चित्त विधान में जल्ल परीषह को जीतने के लिए बल दिया गया है फिर भी जो भिक्षु सामर्थ्य की कमी से या क्षेत्र काल की दृष्टि से जल्ल परीषह जीतने में सफल न हो सके तो भी उसे इन परीषहजय के विधानों से विपरीत प्ररूपणा तो नहीं करनी चाहिए एवं अपनी कमजोरी को कमजोरी स्वीकार करने की सरलता धारण करनी चाहिए।

उद्देशक 15 सूत्र 153-154

प्रकरण - 24

विभूषावृत्ति संबन्धी ज्ञान विज्ञान-

भिक्षु वस्त्र, पात्र आदि उपकरण संयम निर्वाह के लिए रखता है और उपयोग में लेता है। दशवैकालिक सूत्र अ. 6 गा. 20 में कहा है

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ।।

प्रश्न व्याकरण सूत्र श्रु.2 अ.1 तथा 5 में भी कहा है-

एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातवदसमसगसीय-परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएणं।

भावार्थ- संयम निर्वाह के लिए, लज्जा निवारण के लिये, गर्मी, सर्दी, हवा डांस, मच्छर आदि से शरीर के संरक्षण के लिए भिक्षु वस्त्रादि धारण करे या उपयोग में ले। इस प्रकार उपकरणों को रखने का प्रयोजन आगमों में स्पष्ट है। किन्तु भिक्षु यदि विभूषा के लिए, शरीर आदि की शोभा के लिए अर्थात् अपने को सुन्दर दिखाने के लिए अथवा निष्प्रयोजन किसी उपकरण को धारण करता है तो उसे 153 वें सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

154 वें सूत्र में विभूषावृत्ति से अर्थात् सुन्दर दिखने के लिए यदि भिक्षु वस्त्रादि उपकरणों को धोवे या सुसज्जित करे तो उसका प्रायश्चित्त कहा है।

इन दोनों सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि भिक्षु बिना विभूषा वृत्ति के किसी प्रयोजन से वस्त्रादि उपकरण रखे या उन्हें धोवे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है अर्थात् भिक्षु संयम के आवश्यक उपकरण रख सकता है और उन्हें आवश्यकतानुसार यथाविधि धो भी सकता है, किन्तु धोने में विभूषा के भाव नहीं होने चाहिए एवं अनावश्यक भी नहीं होना चाहिए।

यदि पूर्ण रूप से भिक्षु को वस्त्र आदि धोना अकल्पनीय ही होता तो उसका प्रायश्चित्त कथन अलग प्रकार से होता किन्तु सूत्र में विभूषा वृत्ति से ही धोने का प्रायश्चित्त कहा है। अन्य प्रायश्चित्त नहीं कहा है।

शरीर परिकर्म सम्बन्धी 54 सूत्र तो अनेक उद्देशों में आए हैं किन्तु यहां विभूषा वृत्ति के प्रकरण में 56 सूत्र कहे गए हैं। अतः इसी सूत्र पाठ से भिक्षु का वस्त्र प्रक्षालन विहित है। विशिष्ट अभिग्रह प्रतिमा धारण करने वालों की अपेक्षा से ही आचा. श्रु. 1 अ. 8 उ. 4-5-6 में वस्त्र प्रक्षालन का एकांत निषेध है ऐसा वहां के वर्णन से भी स्पष्ट हो जाता है।

इस उद्देशक में विभूषा के संकल्प से शरीर-परिकर्मों का और उपकरण रखने तथा धोने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अन्य आगमों में भी भिक्षु के लिये विभूषावृत्ति का विभिन्न प्रकार से निषेध किया गया है।

1. दश. अ. 3 गा. 9 में विभूषा करने को अनाचार कहा है

2. दश. अ. 6 गा. 65 से 67 तक में कहा है कि- 'नग्नभाव एवं मुंडभाव स्वीकार करने वाले, बालों एवं नखों का संस्कार न करने वाले तथा मैथुन से विरत भिक्षु को विभूषा से प्रयोजन ही क्या है? अर्थात् ऐसे भिक्षु को विभूषा करने का कोई प्रयोजन हो नहीं है फिर भी जो भिक्षु विभूषावृत्ति करता है वह चिकने कर्मों का बन्ध करता हैं, जिससे वह घोर एवं दुस्तर संसार सागर में गिरता है।'

'केवल विभूषा के विचारों को भी ज्ञानी, विभूषा प्रवृत्ति करने के समान ही कर्मबन्ध एवं संसार का कारण मानते है। इस विभूषावृत्ति से अनेक सावध प्रवृत्तियां उद्भूत होती है। अतः यह प्रवृत्ति षट्काय-रक्षक मुनि के आचरण योग्य नहीं है।'

3. दश. अ. 8 गा. 57 में संयम के लिए विभूषावृत्ति को तालपुट विष की उपमा दीगई।

4. उत्तरा. अ. 16 में कहा है कि- 'जो भिक्षु विभूषा के लिए प्रवृत्ति करता है वह निर्ग्रन्थ नहीं है, अतः भिक्षु को विभूषा नहीं करनी चाहिए।'

भिक्षु विभूषा और शरीर-परिमंडन का त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यरत भिक्षु श्रृंगार के लिए वस्त्रादि को भी धारण न करे।' उतरा. 16

इन आगम स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के लिए विभूषावृत्ति सर्वथा अहितकर है, कर्मबन्ध का कारण है तथा प्रायश्चित्त के योग्य है। अतः भिक्षु विभूषा के संकल्पों का त्याग करें अर्थात् शारीरिक श्रृंगार करने का एवं उपकरणों को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करें। उपकरणों को संयम और शरीर की सुरक्षा के लिए ही धारण करें एवं आवश्यक होने पर ही उनका प्रक्षालन करें। विभूषा के संकल्पों से रहित होकर वस्त्र का प्रक्षालन करना हो तो सामान्यतः केवल अचित्त जल से ही प्रक्षालन करना चाहिए। विशेष कारण से किसी पदार्थ का उपयोग करना हो तो जीव विराधना न हो इसका पूर्ण विवेक रखना चाहिए एवं विभूषावृत्ति का मानस भी न बनने पावे इसकी भी सतत सावधानी जागरुकता रखनी चाहिए।

उद्देशक 3 सूत्र 69

प्रकरण - 25

मस्तक ढांकने का प्रायश्चित्त विधान-

इस सूत्र के भाष्य आदि व्याख्याओं में बताया गया है कि साधु को गोचरी विहार आदि कार्यों के लिए कहीं मकान के बाहर जाना हो तो मस्तक नहीं ढांकना चाहिए। ऐसा करने से लिंग (वेशभूषा) की विपरीतता होती है। क्योंकि 'मस्तक ढांक कर बाहर जाना, यह स्त्री की वेश भूषा है। बाहर जाने के समय ही लिंग का पूर्ण विवेक रखा जाता है। जैनेत्तर सन्यासी आदि भी बाहर जाने के समय लिंग के अनेक आवश्यक उपकरण साथ लेकर जाते हैं। जैन भिक्षु भी बाहर जाते समय अपने रजोहरण, पात्र झोली आदि लेकर एवं चद्दर चोलपट्टक मुख वस्त्रिका आदि व्यवस्थित करके बाहर जाते है।

साधु का मस्तक पर वस्त्र ढांक कर बाहर जाना लिंग की विपरीतता है और साध्वी का मस्तक बिना ढांके बाहर जाना लिंग की विपरीतता है।

यथासंभव उपाश्रय के अंदर भी साधु को मस्तक ढंक कर नहीं रहना चाहिए और साध्वी को मस्तक उघाड़ कर नहीं रहना चाहिए।

अपवाद रूप से कई परिस्थितियों में साधु को मस्तक ढंक कर बाहर जाने की भाष्य में छूट बताई हैं किन्तु आवश्यक रूप से कम्बल मस्तक पर ओढ़ कर गोचरी आदि जाने का या रात्रि में मस्तक ढांक कर बाहर जाने का कथन वहां पर नहीं किया है। परम्परा से ऐसी प्रवृत्तियां चल रही है किन्तु इन परम्पराओं के लिए आगम में कोई विधान नहीं है एवं प्रस्तुत सूत्र में तो मस्तक ढांक कर बाहर जाने का प्रायश्चित्त कहा ही है एवं व्याख्याकारों ने उसी को स्पष्ट किया है।

कदाचित् आवश्यक होने पर साधु उपाश्रय में मस्तक ढांक कर और साध्वी उपाश्रय में बिना मस्तक ढंके रह जाय तो उसका इस सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है फिर भी अपने-अपने लिंग की वेशभूषा का विवेक तो रखना ही चाहिए।

उद्देशक - 16 सूत्र 69

प्रकरण - 26

साधु-साध्वियों के भण्डोपकरणों का ज्ञान विज्ञान-

भिक्षु के सम्पूर्ण उपधि सूचक सूत्र बृहत्कल्पसूत्र उ. 3 में तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु. 2 अ.5 में है।

बृहत्कल्प- ''भिक्षु को दीक्षित होते समय रजोहरण, गोच्छग, पात्र और तीन अखण्ड वस्त्र ग्रहण करके प्रव्रजित होना कल्पता है।''

यहां रजोहरण, गोच्छग (पूंजणी) और पात्र की संख्या का कथन नहीं किया गया है। शेष उपकरण चद्दर, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका, आसन, झोली, पात्र के वस्त्र, रजोहरण का वस्त्र इनके लिए कुल तीन अखण्ड वस्त्र लेने का कथन है किन्तु इनकी अलग-अलग संख्या या माप यहां नहीं बताया गया है।

बृहत्कल्पसूत्र के उद्देशक तीन में ही अखण्ड वस्त्र (पूर्ण थान) रखने का निषेध किया गया है। अतः यहां पर कहे गए तीन थान केवल सम्पूर्ण उपधि के माप के सूचक है, ऐसा समझना चाहिए जिसका परम्परा से 72 हाथ प्रमाण वस्त्र का माप भी माना जाता है। किन्त मूल आगमों में एवं भाष्यादि में इस माप का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र- 'पात्रधारी सुविहित श्रमणों के ये उपकरण होते हैं- पात्र, पात्रबन्धनक, पात्र केसरिका, पात्र रखने का वस्त्र, तीन पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, तीन चद्दर, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि इनको भी वह संयम और शारीरिक सुरक्षा के लिए धारण करता है।'

यहां रजोहरण और गोच्छग का कथन करने के साथ पात्र के स्थान पर पात्र सम्बन्धी 6 उपकरण एवं तीन अखण्ड वस्त्र की जगह चद्दर, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि कहे हैं, इनमें पटल एवं चादर की संख्या तीन-तीन कही है, किन्तु पात्र, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका एवं सम्पूर्ण उपकरणों की संख्या का निर्देश नहीं है तथा पाठ के अन्त में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे अन्य उपधि का भी ग्रहण हो सकता है, यथा- आसन आदि।

इन दो स्थलों के अतिरिक्त आचारांग सूत्र में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी स्वतन्त्र अध्ययन भी है तथा छेदसूत्रों में भी वस्त्र पात्र रजोहरण आदि के विधि-निषेध का अनेक सूत्रों में वर्णन है।

प्रस्तुत प्रायश्चित्त सूत्र में गिनती से और प्रमाण (माप) से अधिक उपधि रखने का प्रायश्चित्त कहा है किन्तु उपर्युक्त आगमों में सभी उपधि के माप तथा संख्या का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है : केवल चद्दर और पात्र के पटल एवं अखण्ड वस्त्र की संख्या का उल्लेख है। भाष्य निर्युक्ति में उपधि का विस्तृत वर्णन होते हुए भी अनेक आवश्यक उपकरणों के माप एवं संख्या का उल्लेख नहीं है तथा कई उल्लेख अस्पष्ट है, यथा एक पात्र रखना या तरुण साधु को दो हाथ का चोलपट्टक रखना। एक मात्रक रखना किन्तु उसको उपयोग में नहीं लेना, इत्यादि । इन्हीं कारणों से उपधि-परिमाण की परम्पराएं भिन्न-भिन्न हो गई हैं।

चादर-सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान- तीन चद्दर रखने का उल्लेख आगमों में स्पष्ट है तथा इस सूत्र की चूर्णि में करपात्र वाले या पात्रधारी जिनकल्पी भिक्षु को एक, दो या तीन चद्दर रखना बताया है। आचारांग श्रु.1, अ. 8, उ. 4-5-6 में वस्त्र सम्बन्धी अभिग्रहधारी भिक्षु का वर्णन है। वहां भी तीन वस्त्र (चद्दर) धारी, दो वस्त्रधारी, एक वस्त्रधारी और चोलपट्टकधारी भिक्षु का वर्णन है।

वस्त्र की उणोदरी के वर्णन में एक वस्त्र (चद्दर) रखना मूल पाठ में कहा है। व्याख्या में दो चद्दर रखना भी वस्त्र की उणोदरी होना कहा है। अतः चद्दर की संख्या आगमों में तथा उनकी व्याख्याओं में स्पष्ट है।

आचा. श्रु.2, अ. 5, उ. 1 में किस-किस जाति के वस्त्र ग्रहण करना, इस वर्णन में 6 जाति का उल्लेख करने के पश्चात कहा गया है कि- 'जो भिक्षु तरुण एवं स्वस्थ हो, वह एक वस्त्र अर्थात् एक ही जाति का वस्त्र धारण करे दूसरा नहीं।' इस कथन को चद्दर की संख्या के लिए मानकर अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि यहां वस्त्र की जाति का ही विधान किया गया है तथा आगमों में जिनकल्पी व अभिग्रहधारी भिक्षु के लिए भी तीन चद्दर रखने का स्पष्ट उल्लेख है। वस्त्र की उणोदरी करने के वर्णन से भी अनेक चद्दर रखना सिद्ध है। अतः समर्थ साधु को एक जाति के वस्त्र ही धारणा करना

ऐसा अर्थ आचारांगसूत्र के पाठ का करना ही आगम सम्मत है तथा तीन चद्दर से कम अर्थात् दो या एक चद्दर रखकर उणोदरी तप करना ऐच्छिक समझना चाहिए। इस सूत्र से साधु को एक चादर रखने का एकांत प्ररूपण करना आगम विपरीत प्ररूपण है।

भाष्य गाथा 5807 में कहा है कि जिनकल्पी अभिग्रहधारी आदि भिक्षु तीन, दो या एक चद्दर रख सकते हैं किन्तु स्थविरकल्पी को तीन चद्दर नियमत रखनी चाहिए। उणोदरी करना हो तो उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। परिस्थिति में स्वयं के या अन्य वृद्ध ग्लान की सेवा के लिए उसका उपयोग करना चाहिए।

भाष्य गाथा 5794 में चद्दर का मध्यम माप $3^1/_2 \times 2^1/_2$ तथा उत्कृष्ट $4 \times 2^1/_2$ हाथ कहा है अर्थात् तरुण सन्त के लिए साढ़े तीन हाथ और वृद्ध सन्त के लिए साढ़े चार हाथ लम्बी चद्दर रखना कहा है।

आचारांगसूत्र के वस्त्रैषणा अध्ययन में साध्वी के चद्दरों की चौड़ाई चार हाथ, तीन हाथ तथा दो हाथ की कही है, वहां लम्बाई का कथन नहीं है। फिर भी चौड़ाई से लम्बाई तो अधिक ही होती है, इसलिए वर्तमान में पांच हाथ की लम्बी चद्दर करने की परम्परा है जो उपयुक्त ही है।

उत्तरा. अ. 26 में प्रतिलेखना प्रकरण में जो 'छ पुरिमा नवखोडा' कथन है, उससे भी चद्दर की उत्कृष्ट लम्बाई पांच हाथ की होना उपयुक्त है।

साध्वी के लिए जो तीन माप की चार चद्दरों का कथन है वे चद्दरें, समान लम्बी चौड़ी नहीं होती है, वैसे ही भिक्षु के भी तीनों चद्दरें समान नहीं होती है। आगमों में इनके माप का उल्लेख न मिलने से उपयोगिता और आवश्यकतानुसार छोटी बड़ी बनाई जा सकती है।

चद्दर की चौड़ाई का कथन व्याख्या में एक ही प्रकार का अर्थात् ढाई हाथ का बताया है। उसे आगम वर्णन के अनुसार तीनो ही चद्दरों के लिए समझ लेना उचित नहीं है। अतः भिक्षु के तीनों चद्दरों की लम्बाई चौड़ाई हीनाधिक जघन्य मध्यम उत्कृष्ट होती है। वर्तमान में प्रायः पांच हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी उत्कृष्ट चद्दर का उपयोग किया जाता है।

चोलपट्टक सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान– प्रश्नव्याकरणसूत्र में भिक्षु की उपधि में चोलपट्टक का केवल नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त संख्या माप आदि अन्य वर्णन आगमों में नहीं है।

निशीथभाष्य गाथा 5804 में तरुण भिक्षु के लिए केवल दो हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप कहा है जो लौकिक व्यवहार में लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं है इसलिए इसका औचित्य समझ में नही आता ।

इस गाथा में चोलपट्टक की संख्या भी नहीं कही है।

वृद्ध भिक्षु के लिए इसी गाथा में चार हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप बताया है जो उसके लिए भी पूर्ण लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता है। प्राचीन शुद्ध परम्परा के अभाव में वर्तमान साधु समाज में अनेक प्रकार के लम्बाई एवं चौड़ाई के माप वाले चोलपट्टक प्रचलित है जो भाष्य कथित माप से पूर्णतः भिन्न है।

बृहत्कल्पसूत्र के तीसरे उद्देशक में भिक्षु के आवश्यक सभी उपकरणों हेतु तीन अखण्ड वस्त्र (थान) ग्रहण करके दीक्षा लेने का विधान है। यदि भाष्य कथित परिमाण के चद्दर-चोलपट्टक आदि बनाए जायें तो उक्त विधान के तीन थान जितने वस्त्रों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती है जिससे वह सूत्र विधान निरर्थक होता है। इसलिए चद्दर, चोलपट्टक का पूर्ण परिमाण यही है कि वह लज्जा रखने योग्य, शीत निवारण योग्य और अपने शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार हो । चलने आदि में भी अयतना या असुविधा नहीं हो।

चोलपट्टक की संख्या के सम्बन्ध में आगम तथा भाष्य में यद्यपि उल्लेख नहीं है फिर भी प्रतिलेखन आदि की अपेक्षा से जघन्य दो चोलपट्टक रखना स्थविरकल्पी के लिए उचित ही है।

मुखवस्त्रिका संबंधी ज्ञान विज्ञान- 'मुखपोतिकामुखंपिधानाय, पोतं-वस्त्रं मुखपोतं, तदेव ह्लस्वं चतुरंगुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका । मुखवस्त्रिकायाम् ।' पिंडनिर्युक्ति

भावार्थ- मुखवस्त्रिका अर्थात् मुख को आवृत्त करने का वस्त्र । एक बेंत और चार अंगुल अर्थात् सोलह अंगुल की मुखवस्त्रिका।

निशीथभाष्य एवं बृहत्कल्पभाष्य में यही एक माप कहा गया है, किन्तु लम्बाई-चौड़ाई का अलग-अलग उल्लेख नहीं किया है। अन्य आगमों की व्याख्याओं में भी लम्बाई चौड़ाई का अलग-अलग उल्लेख नहीं मिलता है।

अतः मूर्तिपूजक समाज में प्रायः समचौरस मुहपत्ति रखने की परम्परा प्रचलित है। स्थानकवासी समाज में 21 अंगुल लम्बी और सौलह अंगुल चौड़ी मुखवस्त्रिका रखने की परम्परा है। मुखवस्त्रिका का यह माप किसी आगम में या व्याख्या ग्रन्थ में नहीं है, किन्तु यह माप मुख पर बांधने में अधिक उपयुक्त है।

ओघनिर्युक्ति में मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है, यथा-

चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्त्र मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीय-प्रमाणं-यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतयं, गणना प्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेव मुखानंतकं भवतीति। -ओधनियुक्ति गाथा-711 की टीका

भावार्थ- मुखवस्त्रिका सोलह अंगुल की होती है अथवा मुख प्रमाण करनी चाहिये।

गणना की अपेक्षा दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिकाएं प्रत्येक श्रमण श्रमणी को एक एक रखना चाहिए।

ओघनियुक्ति गाथा 694 की टीका में भी मुखवस्त्रिका के सोलह अंगुल की होने का उल्लेख है। इसी प्रकार से छेदसूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में मुखवस्त्रिका की लम्बाई-चौड़ाई अलग-अलग न कहकर केवल सोलह अंगुल का माप ही कहा गया है। इसलिये अर्वाचीन आचार्यों ने इक्कीस अंगुल की लम्बाई और 16 अंगुल की चौड़ाई कही हैं जो बांधने की अपेक्षा उपयुक्त है।

गाथा 712 में दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिका का प्रयोजन बताया है। उसकी टीका इस प्रकार है

संपातिमसत्वरक्षणार्थ जल्पदभिर्मुखे दीयते,' 'तथा नासिकामुखं बघ्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसति प्रमार्जयन्, येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति ।'

संपातिम जीवों की रक्षा के लिए बोलते समय मुखवस्त्रिका मुख पर रखी जाती है तथा उपाश्रय का प्रमार्जन करते समय सूक्ष्म रज मुख और नाक में प्रवेश न करे, इसके लिए मुखवत्रिका बांधी जाती है।

उत्तरा. अ. 3 की व्याख्या में मुखवस्त्रिका रखने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि

संति संपातिमाः सत्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे। तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिका ।। -अभि. राजेन्द्र कोष भा.6 पृष्ठ 333

अर्थ- संपातिम प्राणियों तथा अन्य इधर उधर फैले हुए सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए ' मुखवस्त्रिका' रखी जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

भगवती सूत्र श. 16, उ. 2 में खुले मुंह से बोली जाने वाली भाषा को सावद्य कहा है। मुनि सावद्य भाषा का त्यागी होता है

जिनकल्पी आदि वस्त्ररहित एवं पात्ररहित रहने वाले भिक्षुओं को भी मुखवस्त्रिका रखना आवश्यक है क्योंकि मुखवस्त्रिका तथा रजोहरण मुनि चिन्ह के आवश्यक उपकरण है।' प्रमाण के लिए देखें

1. बृहत्कल्प उ. 3, भाष्य गा. 3963 की टीका
2. निशीथ उ.2, भाष्य गा. 1391
3. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग
4. 'जिणकप्प' पृ. 1489 -आचा. श्रु. 1 अ.2 टीका
5. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग
6. 'लिंगकप्प' पृ. 656 - पंचकल्प, भाष्य एवं चूर्णि, कल्प-2

इन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट होता है कि मुंहपत्ति मुख पर बांधना ही मुनि-चिन्ह एवं जीव रक्षा के लिए उपयुक्त है अन्यथा प्रायः सभी साधु-साध्वियों का खुले मुंह बोलना निश्चित्त है तथा इधर-उधर रख देने से मुनि चिन्ह भी नहीं रहता है। ग्रामादि में चलते समय या विहार आदि में मुखवस्त्रिका मुख पर न रहे तो जिनकल्पी आदि के लिए भाष्यादि में इसे मुनि-चिन्ह की अपेक्षा आवश्यक उपकरण कहना निरर्थक हो जाता है।

भगवती सूत्र श. 9, उ. 32 में मुहंपत्ति के आठ पट का होना सिद्ध होता है। समुत्थान सूत्र में भी आठ पट होने का उल्लेख है।

श्वे. मूर्तिपूजक समाज में चार पट की मुहंपत्ति रखी जाती है किन्तु एक किनारे नाम मात्र के आठ पट भी कर दिए जाते हैं उसे सदा हाथ में रखते हैं। विहार आदि के समय चोलपट्टक में भी लटका देते हैं। श्वे. स्थानक वासी मुनि पूर्ण रूप से आठ पट करके मुखवस्त्रिका मुख पर बांध कर रखते हैं।

शिवपुराण अध्याय 21 में जैन साधु का परिचय देते हुए मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करने का कहा है। यथा -

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडे वस्त्रस्य धारकाः ।। मलिनान्येववासांसि,धारयंत्यल्पभाषिणः ।।

निशीथभाष्य तथा पिंडनियुक्ति में कहा है-

बितियं पि य पमाणं,मुहप्पमाणेणकायव्वं ।। 5805 ।। -राजेन्द्र कोष भा. 6, पृ. 333

मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने से ही मुख प्रमाण बनाने का यह कथन सार्थक हो सकता है।

मुखवस्त्रिका की संख्या भी आगम में नहीं कही गई है। अतः दो या अधिक आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है। व्याख्या ग्रन्थों में एक-एक मुखवस्त्रिका रखना कहा है।

कम्बल सम्बन्धी विचारणा- आगमों में अनेक जगह कम्बल का नाम आता है। यह शीत से शरीर की रक्षा के लिए रखा जाता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में जहां तीन चद्दर का कथन है वहां अन्य उपधि में कम्बल का नाम नहीं है, इसलिए इसका समावेश तीन चद्दरों में किया जाता है। जो भिक्षु शीत-परीषह सहन कर सकता है, वह वस्त्र का उणोदरी तप करता हुआ एक सूती चद्दर से भी निर्वाह कर सकता है तथा अचेल भी रह सकता है ।

अथवा वस्त्र के जाति की अपेक्षा से उणोदरी तप करता हुआ भिक्षु केवल सूती वस्त्र रखने पर कम्बल का त्याग कर सकता है।

कम्बल को जीव रक्षा का साधन भी माना जाने लगा है जो परम्परा मात्र है किन्तु आगम सम्मत नहीं है क्योंकि दशा द. 7 में पडिमाधारी भिक्षु का सूर्योदय से सूर्यास्त तक विहार करने का वर्णन है। जहां सूर्यास्त हो जाए वहीं रात्रि भर अप्रमत्त भाव से व्यतीत करने का कथन हैं । 2. बृहत्कल्प उ. 2 में साधु को खुले आकाश वाले स्थान में रहना कल्पनीय कहा है। किन्तु इन स्थानों में अप्काय की विराधना होना या कम्बल ओढ़कर रहना नहीं कहा गया है।

अतः कम्बल को मुखवस्त्रिका या रजोहरण के समान जीव रक्षा का आवश्यक उपकरण मानना आगम सम्मत नहीं है इसीलिए दिन में या रात्रि में कम्बल आदि से मस्तक ढांककर गमनागमन करने की परम्परा भी आगम सम्मत नहीं है। क्योंकि जब कम्बल रखना ही सभी साधुओं के लिए आवश्यक नहीं है तो उससे मस्तक ढंकने का आवश्यक नियम कहना कदापि उचित नहीं हो सकता ।

कम्बल के माप एवं कीमत का स्पष्टीकरण भी उपलब्ध नहीं होता है 7 अतः आवश्यकता एवं विवेक पूर्वक योग्य कीमत एवं प्रमाणोपेत कम्बल रखी जा सकती है।

पादप्रोंछन का ज्ञान विज्ञान- यह भी एक वस्त्रमय उपकरण है । इसका कथन आगमों में अनेक स्थलों पर है। निशीथ सूत्र में भी अनेक जगह इसका कथन है। इसका मुख्य उपयोग पांव पौंछना है।

आचारांग सूत्र में मल त्याग के समय भी इसका उपयोग करने का कहा है। बृहत्कल्प उ. 5 तथा निशीथ उ.2 के अनुसार कभी-कभी काष्ट दण्ड से बांधकर शय्या के प्रमार्जन में भी इसका उपयोग किया जाता है। निशीथ उ. 5 के अनुसार यदि कभी आवश्यक हो तो गृहस्थ का पादप्रोंछन एक दो दिन के लिए लाया जा सकता है। इस तरह आगमों में पादप्रोंछन के अनेक प्रकार एवं अनेक उपयोग बताए हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रयोगों के कारण या अन्य किसी दृष्टिकोण से व्याख्या ग्रन्थों

में इसे रजोहरण का पर्यावाची भी मान लिया गया है। कहीं इसको दो पदों में विभाजित करके 'पात्र' तथा 'प्रोंछन' (रजोहरण) ऐसा अर्थ भी किया गया है। इस अर्थ भ्रम के कारण मूल पाठ में अनेक जगह रजोहरण के स्थान पर पादप्रोछन लिखा गया हो ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में यह पादप्रोंछन रजोहरण से भिन्न उपकरण है, ऐसा प्रश्न व्याकरण सूत्र से स्पष्ट है क्योंकि वहां दोनों उपकरण अलग-अलग कहे हैं और टीकाकार ने भी अलग-अलग गिनकर उपकरणों की संख्या 12 कही है।

दशवै. अ. 4 में भी एक साथ दोनों उपकरणों के नाम गिनाए हैं।

यह जीर्ण या उपयोग में आए हुए वस्त्रखण्ड का बनाया जाता है, जो सूती या ऊनी किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसका भी आगम में कोई माप निर्दिष्ट नहीं है। व्याख्या ग्रन्थों में यह एक हाथ का समचौरस ऊनी वस्त्र खण्ड कहा गया है किन्तु ऊनी वस्त्र का त्याग कर ऊणोदरी करने वाले सभी कामों में सूती वस्त्र का ही उपयोग करते हैं। अतः कोई भी उपकरण ऊनी ही हो ऐसा आग्रह नहीं किया जा सकता है। पादप्रोंछन विषयक अन्य जानकारी के लिए निशीथ उ. 2 सूत्र 1-8 का विवेचन देखें।

उत्तरा. अ. 17 गा. 7 एवं उसकी टीका के अनुसार पादप्रोंछन कभी बैठने के भी उपयोग में लिया जा सकता है।

रजोहरण पादप्रोंछन में भिन्नता– रजोहरण प्रमार्जन करने का उपकरण है एवं मुनि लिंग और जीव रक्षा का आवश्यक उपकरण है। इस पर बैठना आदि नहीं किया जाता है। किंतु पाद प्रोंछन बैठने, पांव पूंछने, मल त्याग के समय जीर्ण वस्त्र खण्ड की जगह उपयोग लेने के काम आता है और यह सभी को रखने का आवश्यक उपकरण नहीं है आवश्यक होने पर एक दूसरे मुनि से मांग लिया जाता है।

पुनःश्च– रजोहरण फलियों के समूह से बना औघिक उपकरण है। पाद प्रोंछन वस्त्र खंड होता है और वह औपग्रहिक उपकरण है।

अन्य विशेष जानकारी के लिए निशीथ उद्दे. 2 सू.1 का विवेचन देखें आगम प्रकाशन समिति ब्यावर ।

पात्र सम्बन्धी वस्त्रों का ज्ञान– भिक्षा लाने के लिए झोली, 2. गोचरी लाने के बाद आहार युक्त पात्रों को रखने का वस्त्र (मांडला), 3. खाली पात्रों को बांधने के समय उनके बीच में दिए जाने वाले वस्त्र (अस्तान), 4. पानी छानने या उसे ढंकने का वस्त्र (गरणा), 5. पात्र प्रमार्जन करने का कोमल वस्त्र ।

इन्हें प्रश्न. श्रु. 2, अ. 5 में क्रमशः 1. पात्रबन्धन, 2. पात्रस्थापनक, 3. पटल, 4. रजस्त्राण, 5. पात्रकेसरिका कहा है। ये वस्त्र आवश्यकतानुसार लम्बे चौड़े रखे जा सकते हैं क्योंकि आगमों में इनके माप का कोई उल्लेख नहीं है।

निशीथिया संबंधी ज्ञान चर्चा- यह रजोहरण की डंडी के ऊपर लपेटने का वस्त्र होता है। इसका आगम में कहीं भी निर्देश नहीं है। अतः यह परम्परा से रजोहरण की डंडी पर लपेटने के लिए प्रचलित है। इससे रजोहरण व्यवस्थित बंधा रहता है और वस्त्र युक्त काष्ट दंड से पशु आदि कोई भयभीत भी नहीं होते हैं। कसीदा एवं रंगों से युक्त निशीथिया रखने की और दो-तीन निशीथिये लपेटकर रखने की प्रवृति भी मूर्तिपूजक साधु समाज में है, जो केवल परम्परामात्र है जिसका

संयम की अपेक्षा से कोई महत्व नहीं है और ऐसे चित्र विचित्र रंग-बिरंगे कसीदे वाले उपकरण साधु के लिए अकल्पनीय भी है।

ये सब वस्त्र सम्बन्धी उपकरण कहे गये हैं। आगमों में इन सभी के माप का स्पष्ट वर्णन नहीं है। अतः भिक्षु ममत्व भाव न करते हुए उपयोगी वस्त्र आवश्यकता एवं गण समाचारी के अनुसार रख सकता है। किन्तु उन सभी वस्त्रों का कुल माप तीन अखण्ड वस्त्र (थान-ताका) से अधिक होने पर उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। किन्तु निशी. उ. 18 के अनुसार सकारण (अशक्ति आदि से) आज्ञा पूर्वक मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र रखे जाने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

साध्वी के वस्त्र सम्बन्धी विशेष उपकरण- आगमों में साध्वी के लिए 4 चद्दरों का और उनकी चौड़ाई का कथन है। 'उग्गहणंतक' और 'उग्गहपट्टक' ये दो उपकरण विशेष कहे गए हैं। आगमों में साध्वी के उपकरणों का भी अलग-अलग स्पष्ट माप नहीं है। अतः साध्वियां भी आवश्यकता और समाचारी के अनुसार उपकरण रख सकती है। किन्तु अकारण एवं आज्ञा बिना चार अखण्ड वस्त्र (थान-ताका) के माप से अधिक वस्त्र रखने पर उन्हें भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

शीलरक्षा के लिए और शरीर संरचना के कारण कुछ उपकरण संख्या और उनका माप अधिक होने से साध्वी के लिए बृहत्कल्पसूत्र में एक अखण्ड वस्त्र (थान ताका) अधिक कहा गया है।

उग्गहणंतक-उग्गहपट्टक- गुप्तांग को ढंकने का लम्बा (लंगोट जैसा) कपड़ा 'उग्गहपट्टक' है और जांघिया जैसे उपकरण को 'उग्गहणंतक' समझना चाहिए।

बृहत्कल्प सूत्र उ. 3 में ये दोनों उपकरण साधु को रखने का निषेध है और साध्वी को रखने का विधान है। ये दोनों उपकरण शील रक्षा के लिए रखे जाते हैं और यथा समय पहने जाते हैं।

व्याख्याकारों ने इन दो उपकरणों के स्थान पर छः उपकरणों का वर्णन किया है तथा साध्वी के लिए कुल 25 उपकरणों की संख्या बताई है और साधु के लिए 14 उपकरण कहे हैं। आगमों में संख्या का ऐसा कोई निर्देश नहीं है। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न भिन्न उपकरणों का कथन है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में एक साथ उपकरणों का कथन भी किया गया है परन्तु वहां संख्या का निर्देश नहीं है, न ही उस कथन से भाष्योक्त संख्या की संगति होती है।

पात्र सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान- लकड़ी, तुम्बा, मिट्टी इन तीन जाति के पात्रों में से किसी भी जाति के पात्र रखे जा सकते हैं ऐसा वर्णन अनेक आगमों में स्पष्ट मिलता है किन्तु पात्र की संख्या का निर्णय किसी भी आगम पाठ से नहीं होता है।

1. आचा. श्रु. 1, अ. 8, उ. 4 में विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी समर्थ भिक्षु के लिए अनेक पात्रों का वर्णन है

'जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए, पाय चउत्थेहिं ।'

यहां पर एक वचन का प्रयोग न करके 'पाय चउत्थेहिं' ऐसा बहुवचनांत शब्द का प्रयोग किया गया है।

2. व्यव. उ. 2 में परिहारतप प्रायश्चित्त वहन करने वाले भिक्षु के लिए आहार करने का विधान करते हुए पात्र की अपेक्षा से पांच शब्दों का प्रयोग किया है

'संयसि वा पडिग्गहंसि, संयसि वा पलासगंसि, संयसि वा कमंडलंसि, संयसि वा खुब्बगंसि, संयसि वा पाणिंसि ।'

यहां पर आहार के पात्र के लिए 'पडिग्गहंसि' शब्द है । मात्रक के लिए 'पलासगंसि' शब्द है और पानी के पात्र के लिए 'कमंडलंसि' शब्द है। इस पाठ में भी अनेक प्रकार के पात्र होने का कथन स्पष्ट है।

3. भगवती सूत्र श. 2, उ. 5 में गौतम स्वामी के गोचरी जाने के वर्णन में उनके अनेक पात्रों का वर्णन है-

'तएणं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि जाव भायणाइंवत्थाइं पडिलेहेइ भायणाइंवत्थाइं पडिलेहित्ता भायणाइं पमज्जइ भायणाइं पमज्जित्ता, भायणाइं उग्गाहेइ,

भायणाई उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव भिक्खायरियं अडइ जाव एसणं अणेसणं आलोएइ आलोएता भत्तं पाणं पडिदंसेई । '

इस वर्णन में बताया गया है कि- गौतम स्वामी ने बहुत से पात्रों का प्रतिलेखन प्रमार्जन किया तथा गोचरी में लाए हुए आहार तथा पानी दोनों भगवान् को दिखाए। यहां पर गौतम स्वामी के अनेक पात्र होने का स्पष्ट वर्णन है।

4. भगवती सूत्र श. 25, उ. 7 में उपकरण-उणोदरी का वर्णन इस प्रकार है

'से किं तं उवगरणोमोयरिया ? उवगरणोमोयरिया-एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तोवगरणसाइज्जणया।'

यहां एक वस्त्र (चद्दर) एवं एक पात्र रखने से ऊणोदरी तप होने का कथन है इससे अनेक वस्त्र एवं अनेक पात्र रखना स्पष्ट सिद्ध होता है क्योंकि अनेक वस्त्र-पात्र कल्पनीय, हो, तब ही एक वस्त्र या पात्र रखने से ऊणोदरी तप हो सकता है।

5. प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु. 2, अ. 5 में पात्र के उपकरणों में 'पटल' की संख्या तीन कही गई है। पटल का उपयोग पात्रों को बांधकर रखते समय पट लगाने में किया जाता है। पात्र के बीच में रखे जाने के कारण इन को 'पटल' (अस्तान) कहा गया है। इनकी संख्या तीन कही गई है अतः पात्र तो तीन से ज्यादा होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। एक या दो पात्र के लिए तीन पटल की आवश्यकता नहीं होती है। व्याख्याकारों ने पटल का उपयोग गोचरी में भ्रमण करते समय आहार के पात्रों को ढकने का बताया है तथा पांच-सात पटल रखना भी कह दिया है किन्तु आगम में आहार के पात्रों को ढांकने के लिए झोली एवं रजस्त्राण उपकरण अलग कहे गये हैं; अतः पटल का उपरोक्त उपयोग ही उचित है।

6. आचा. श्रु. 2, अ. 6 में पात्र सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है-

'से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिकंखेज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणेज्जा, तं जहां-अलाउपायं वा, दारुपायं वा, मट्टिया पायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा णो बीयं ।

अर्थ- भिक्षु या भिक्षुणी पात्र की गवेषणा करना चाहे तब वह ऐसा जाने कि यह तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र या मिट्टी का पात्र है इनमें से जो निर्ग्रन्थ तरुण यावत् स्थिर संहनन वाला है वह एक ही प्रकार का पात्र ग्रहण करे दूसरे प्रकार का नहीं।

केवल एक पात्र रखने की कल्पना अनागमिक- यहां तीन जाति के पात्रों का कथन करके एक को ग्रहण करने का जो विधान है वह एक जाति की अपेक्षा से हैं ऐसा स्पष्ट है एवं ऐसा अर्थ करना ही आगम संमत है। यदि सम्बन्ध मिलाए बिना ही ऐसा समझ लिया जाए कि संख्या में एक ही पात्र भिक्षु को कल्पता है अनेक नहीं, तो यह अर्थ उपर्युक्त संकलित अनेक आगम पाठों से विरुद्ध है क्योंकि गणधर गौतम स्वामी के एवं पारिहारिक तप करने वाले भिक्षु के तथा विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी भिक्षुओं के भी अनेक पात्र होना ऊपर बताए गए आगम प्रमाणों से स्पष्ट है।

यदि तरुण स्वस्थ साधु को एक ही पात्र कल्पता हो तो अनेक पात्र रखना कमजोरी और अपवाद मार्ग सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में पात्र की ऊणोदरी करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता जबकि भगवती आदि सूत्रों में ऊणोदरी तप का पाठ स्पष्ट मिलता है तथा उसकी व्याख्या भी मिलती है।

अतः आचारांग के इस पाठ में एक जाति के पात्र ही तरुण साधु को कल्पते हैं यही अर्थ करना निराबाध है एवं आगम सम्मत है।

इस प्रकार से भिक्षु के अनेक पात्र रखने का निर्णय तो हो जाता है किन्तु कितने पात्र रखना है यह निर्णय नहीं हो पाता है।

तीन पटल के पाठ से जघन्य 4 पात्र रखना तो स्पष्ट है, इसके अतिरिक्त मात्रक तीन प्रकार के कहे गए हैं-

1. उच्चार मात्रक, 2. प्रस्त्रवण मात्रक, 3. खेल मात्रक।

इसमें प्रस्त्रवण मात्रक तो सभी को आवश्यक होता है किन्तु खेल मात्रक और उच्चार मात्रक विशेष कारण से किसी-किसी को आवश्यक होता है।

आचारांग के इस पाठ से या अन्य किसी कारण से भाष्य टीकाकारों ने पात्र संख्या की चर्चा करते हुए एक पात्र व एक मात्रक रखने को कल्पनीय सिद्ध किया हैं जिसमें मात्रक का विधान आर्यरक्षित के द्वारा किया गया बताया है। अन्य भी इस विषयक विस्तृत चर्चा की गई है जिसका उपरोक्त आगम प्रमाणों के सामने कुछ भी महत्व नहीं रहता है तथा एक या दो पात्र रखने की कोई परम्परा भी प्रचलित नहीं है।

एक पात्र की प्ररूपणा के लक्ष्य में भाष्यकार आदि पात्रों की आगम सम्मत संख्या का उल्लेख नहीं कर सके हैं। कम से कम चार पात्र और मात्रक तो उक्त प्रमाण चर्चा से ही स्पष्ट है। अतः विभिन्न प्रवृत्ति परंपराओं में जघन्य 4-5 मध्यम 7-9 उत्कृष्ट यथेच्छ आवश्यकतानुसार पात्र रखे जाते हैं। श्वे. मूर्ति पूजक परंपरा में अधिकांशतः 6 पात्र गोचरी के, एक दूध के लिए तरपणी और एक पानी का घड़ा तथा मात्रक यों कुल 9 पात्र रखे जाते हैं। स्थानकवासी संघ में जघन्य संख्या को स्वीकार करने वाले कुल 4-5 पात्र रखते हैं इनके अतिरिक्त 6-9 आदि विभिन्न संख्या में पात्र रखे जाते हैं। श्वे. तेरा पंथी परंपरा में कुल 3-4 पात्र रखे जाते हैं।

जाति की अपेक्षा अधिकांशतः लकड़ी और मिट्टी के पात्र रखे जाते हैं। कोई केवल लकड़ी के पात्र ही रखते हैं। तो कई यथेच्छ प्लास्टिक आदि के पात्र चम्मच, प्लेट, ढक्कन, बाल्टी आदि भी रखते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जिस उपकरण की संख्या का आगम में उल्लेख नहीं है उसे अपनी क्षमतानुसार अल्पतम रखने का प्रयत्न रखना चाहिए। अनावश्यक संग्रह भी नहीं करना चाहिए और आवश्यक उपकरण भी स्वयं उठा सके उतने ही रखने चाहिए। गृहस्थ से उठवाना पड़े इतने उपकरण रखना, यह संयम मर्यादा भंग करना है एवं उसका प्रायश्चित्त भी आता है।

पात्र की तीन जाति विचार विमर्श :– आचा. श्रु. 2, अ. 6, उ. 1 में तथा ठाणांगसूत्र अ. 3 में साधु-साध्वी के लिये तीन प्रकार के पात्र ग्रहण करने एवं धारण करने का विधान है, यथा-1. तुम्बे के पात्र, 2. लकड़ी के पात्र, 3. मिट्टी के पात्र।

अन्य अनेक आगमों में भी इन्हीं तीन प्रकार के पात्रों का निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया है।

आचा. श्रु. 2, अ. 6, उ. 1 में लोहे आदि के पात्र तथा लोहे आदि के बंधन युक्त पात्र ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत चार सूत्रों में उन्हीं लोहे आदि के पात्रों को ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचारांग सूत्र में लोहे से चर्म पर्यन्त कथन करने के साथ अन्य भी इस प्रकार के पात्र ग्रहण करने का निषेध किया है तथा इन्हें बहुमूल्य विशेषण से सूचित किया है।

लकड़ी, तुम्बा व मिट्टी के पात्र भिक्षु की लघुता के सूचक है। भगवती सूत्र श. 3, उ. 1 में तामलितापस के काष्ट-पात्र ग्रहण करने का वर्णन है। उववाई सूत्र में तापसपरिव्राजक आदि के वर्णन में उनके लिए काष्ठ आदि तीन प्रकार के ही पात्र रखने का विधान है एवं अन्य अनेक प्रकार के पात्र रखने का निषेध है।

काष्ठादि तीनों प्रकार के पात्र अल्पमूल्य एवं सामान्य जातीय होने से उनकी चोरी होने का भय नहीं रहता है। काष्ठ व तुम्बे के पात्र में वजन भी कम होता है।

लोहे आदि के पात्र भारी तथा बहुमूल्य होते हैं, अतः इनका निषेध व प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में प्लास्टिक के पात्र भी साधु साध्वी उपयोग में लेते हैं। प्लास्टिक को काष्ठ-रस संयोग से निर्मित माना जाता है। प्लास्टिक के पात्र का वजन व मूल्य काष्ठ-पात्र से भी कम होता है। अतः लोहे आदि के पात्र में होने वाले दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। किन्तु ये पात्र सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ ग्रहण करने व रखने के योग्य नहीं होते हैं एवं गृहस्थ के उपयोग में आने योग्य एवं चोरी होने योग्य भी होते हैं। अतः आगम निर्दिष्ट काष्ठादि पात्र के समान ये पूर्ण रूप से उपयोगी या उपयुक्त नहीं है।

प्लास्टिक पात्र लघुता सूचक भी नहीं है अपितु फैशन परस्त है।

गोच्छग सम्बन्धी विचार चर्चा– संयम लेते समय ग्रहण की जाने वाली उपधि के वर्णन में पात्र से भिन्न 'गोच्छग' का कथन है । -बृहत्कल्प उद्दे. 3.

उत्तरा. अ. 26 में सूर्योदय होने पर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के बाद 'गोच्छग' के प्रतिलेखन करने का विधान है। उसके बाद वस्त्र प्रतिलेखन का कथन है। तदनन्तर पौन पोरिषी आने पर पात्र प्रतिलेखन का विधान है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'गोच्छग' पात्र सम्बन्धी उपकरण नहीं है किन्तु वस्त्रों के प्रतिलेखन में प्रमार्जन करने का उपकरण है, जिसे प्रमार्जनिका (पूंजणी) कहा जाता है जिसका प्रतिलेखन भी मुखवस्त्रिका के बाद किया जाता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र श्रु. 2, अ.5 में अनेक उपकरणों के नाम निर्देश हैं तथा वहां 'आदि' शब्द का प्रयोग भी किया गया है जिससे पादप्रोंछन, मात्रक, आसन आदि अनिर्दिष्ट एवं अन्यत्र आगमों में वर्णित उपकरणों को ग्रहण किया जाता है। उस पाठ में भी 'गोच्छग' उपकरण स्वतन्त्र कहा गया है।

दशवै. अ. 4 में अनेक उपकरणों के निर्देश के साथ 'गोच्छग' का भी निर्देश पात्र से अलग किया है।

व्याख्याकारों ने 'गोच्छग' को पात्र का ही उपकरण गिनाया एवं समझाया है और उसे ऊनी वस्त्रखण्ड बताया है जो उपरोक्त आगम वर्णनों से विपरीत है। अतः उपर्युक्त स्पष्टीकरण से गोच्छग को पूंजणी ही समझना उचित है।

बृहत्कल्प सूत्र- उ. 5 में तथा प्रश्न श्रु. 2, अ.5 में 'पायकेसरिया' उपकरण का वर्णन है। जो पात्र प्रमार्जन का कोमल वस्त्र रूप उपकरण है। तुम्बे के पात्र का प्रमार्जन करने के लिए इसे भिक्षु छोटे काष्ठदंड से बांधकर भी रख सकता है, किन्तु साध्वी को काष्ठदंड युक्त रखने का बृहत्कल्पसूत्र में निषेध है। कहीं-कहीं इसे भी 'गोच्छग' ही मान लिया जाता है। किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में पात्र के उपकरणों के बीच तीसरा उपकरण 'पायकेसरिका' कहा है और गोच्छग अलग कहा है, अतः दोनों उपकरण भिन्न भिन्न है। गोच्छग का उपयोग वस्त्र, शरीर या अन्य उपधि के प्रमार्जन के लिए होता है एवं पात्रकेसरिका का उपयोग पात्रप्रमार्जन के लिए होता है। इस प्रकार दोनों का कार्य भी भिन्न-भिन्न है।

रजोहरण का परिचय- यह भिक्षु का आवश्यक उपकरण है जो काष्ठ या बेंत आदि की डंडी में फलियों को बांधकर बनाया जाता है। जिनकल्पी एवं स्थविरकल्पी सभी साधुओं को रखना आवश्यक होता है। खड़े-खड़े भूमि का प्रमार्जन किया जा सके इतना लम्बा होता है तथा एक बार में प्रमार्जन की हुई भूमि में बराबर पैर रखा जा सके इतना घेराव होता है। उत्कृष्ट घेराव 32 अंगुल भी समझा जा सकता है। चलते समय प्रमार्जन करने में तथा आसन, शय्या व मकान का प्रमार्जन करने में इसका उपयोग किया जाता है। इसे 'ऋषि-ध्वज' भी कहा गया है। निशीथ उद्दे. 5 में इसे खड़े रहने, बैठने या सिरहाने देने के उपयोग में लेने का प्रायश्चित्त कहा है।

आगमों में भिक्षु को 'अचेल' और 'अपात्र' (करपात्री) भी कहा है। भाष्यादि में मुंहपत्ती एवं रजोहरण के सिवाय सभी उपकरणों का त्याग करना बताया है क्योंकि ये दोनों संयम एवं जीव रक्षा के प्रमुख साधन है और शेष उपकरण शरीर की रक्षा एवं लज्जा की प्रमुखता से रखे जाते हैं। अल्प उपधि रखने वाले जिनकल्पी आदि भिक्षु रजोहरण से गोच्छग का कार्य भी कर सकते हैं।

साधु के सभी उपकरणों की तालिका-

वस्त्र माप	उपकरण	विवरण
1. हाथ =	मुंहपत्ती =	दो (कम से कम) लम्बाई 21 अंगुल चौड़ाई 16 अंगुल अथवा 16 अंगुल समचौरस।
	गोच्छग =	एक (शरीर, उपकरण और वस्त्र के प्रमार्जन योग्य)
	रजोहरण =	एक (खड़े-खड़े या चलते समय भूमि प्रमार्जन योग्य)
35 हाथ =	चद्दर =	तीन (ऊनी कम्बल या सूती चद्दर)
15 हाथ =	चोलपट्टक =	दो (लम्बाई 5 हाथ और चौड़ाई $1^1/_2$ हाथ)
7 हाथ =	आसन	एक ($3^1/_2 \times 2$)
	पात्र =	चार (कम से कम) मात्रक अलग।
10 हाथ =	पात्र के वस्त्र =	सात
1 हाथ =	पादप्रोंछन =	एक
1 हाथ =	निशीथिया =	एक, रजोहरण के काष्ठ दण्ड पर लगाने के लिए
योग-	**70 हाथ लगभग = तीन अखण्ड वस्त्र = 72 हाथ होता है।**	

साध्वी के सभी उपकरणों की तालिका-

चद्दर	4	45 हाथ
साटिका (साड़ी)	2	20 हाथ
उग्गहणंतक, उग्गह पट्टक, कंचुकी		10 हाथ
शेष मुहंपत्ती आदि पूर्वोक्त		20 हाथ
4 अखण्ड वस्त्र =		**96 हाथ = 95 हाथ लगभग = योग**

उपरोक्त उपधि रखना भिक्षु की उत्सर्ग विधि है। अपवाद से अन्य उपधि आवश्यकतानुसार अल्प समय के लिए गीतार्थ भिक्षु की आज्ञा से रखी जा सकती है किन्तु सदा के लिए और सभी साधुओं के लिए रखना उपयुक्त नहीं है। अतः अकारण कोई उपधि नहीं रखी जा सकती है।

औपग्रहिक उपधि इस प्रकार है-

1. दण्ड, 2. लाठी, 3. बांस की खपच्ची, 4. बांस की सुई, 5. चर्म, 6. चर्मकोश, 7. चर्म छेदनक, 8. छत्र, 6. भृषिका, 10. नालिका, 11. चिलमिली, 12. सुई, 13. कैंची, 14. नखच्छेदनक, 15. कर्ण शोधनक, 16. कांटा निकालने का साधन, 17.

आकुञ्चन पट्टक (पर्यस्तिका पट्टक) इत्यादि औपग्रहिक उपकरणों का उल्लेख आगमों में है। भाष्य में आपवादिक औपग्रहिक उपकरण इस प्रकार कहे है

पीठग णिसज्ज दंडग पमज्जणी घट्टए डगलमादी। पिप्पलसूयि-णहहरणि,सोधणगदुगंजहण्णोउ ।।1413।। वासताणे पणगं, चिलमिलि पणगं दुगं च संथारे। दंडादिपणगंपुण,मतगतिगंपदलेहणिया ।।1414।। चम्मतिगंपट्टदुगंणायव्वो............।।1415।। अक्खा संथारो य, एगमणेगंगिओ य उक्कोसो । पोत्थगपणगंफलगं वितिय पदे होई उक्कोसो ।।1416।।

नि.भाष्य भा. 2 पृष्ठ 192-93 बृहत्कल्प भाष्य भा. 4096 से 4099

अर्थ- अनेक प्रकार के पीढे, 2. निषद्या, 3. दंड प्रमार्जनिका (डांडिया या दंडासन) 4. डगल-पत्थरादि, 5. कैंची (कतरणी) 6. सूई, 7. नख छेदनक, 8. कर्णशोधनक, 6. दन्त शोधनक, 10. छत्र पंचक, 11. चिलमिलिका पंचक, 12. संस्तारक (अनेक प्रकार के तृण), 13. पांच प्रकार के दंड लाठी आदि, 14. तीन मात्रक (उच्चार, प्रस्त्रवण, खेल मात्रक), 15. अवलेखनिका (बांस की खपच्ची), 16. चर्म त्रिक (सोने, बैठने एवं ओढ़ने का), 17. संस्तारक पट और उत्तर पट्ट (ऊनी एवं सूती शयन वस्त्र), 18. अक्ष-समवसरण (स्थापनाचार्य), 16. चटाई आदि 20. पुस्तक पंचक, 21. फलग-लकड़ी के पाट आदि ।

भिक्षु इन उपकरणों को उत्सर्ग विधि से नहीं रख सकता है। आपवादिक स्थिति से ये औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं।

पुस्तक के कथन से अध्ययन की लेखन सामग्री के अन्य उपकरण एवं चश्मे आदि भी क्षेत्र काल अनुसार आवश्यक होने पर रखे जा सकते हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि इन उपकरणों में सूई, कैंची, छत्र आदि धातु वाले उपकरण भी कहे हैं। पुस्तक, मात्रक, संस्तारक, पाट तथा शयन वस्त्र को भी आपवादिक उपकरण कहा है तथा अन्य अनेक प्रचलित उपकरणों एवं पदार्थों का यहां कोई उल्लेख नहीं है। आगम तथा उनके भाष्य टीका के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समुदायों में प्रचलित कुछ नूतन उपकरण इस प्रकार है :

1. नांद, तगड़ी, सूपड़ी, चूली, मूर्ति आदि ।
2. गुरुजनों के फोटू आदि।
3. समय की जानकारी के लिए घड़ी।
4. स्थापनाचार्य के लिए ठमणी।
5. पुस्तक रखने के सापड़ा, सापडी।
6. योग की पाटली, दंडी, दंडासन ।

7. वासक्षेप का डिब्बा या बटवा ।

8. प्लास्टिक के लोटा, गिलास, ढक्कन, बाल्टी आदि उपकरण ।

9. रात्रि में रखने के पानी में डालने के चूने का डिब्बा ।

10. वस्त्र, पात्र आदि को स्वच्छ करने के लिए साबुन, सोडा व सर्फ आदि ।

11. वस्त्रादि सुखाने के लिए एवं चोलपट्टक के ऊपर बांधने के लिए डोरियां ।

इन उपकरणों के रखने का विधान आगमों में या उनके भाष्य आदि व्याख्या ग्रन्थों में नहीं है। अत्यावश्यक होने पर तो संयम एवं शरीर आदि कि सुरक्षा के हेतु औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं किन्तु केवल प्रवृत्ति या परम्परा से अनागमिक, अनावश्यक उपकरण रखना परिग्रह रूप ही हैं।

औघिक उपधि का प्रायश्चित्त- प्रस्तुत प्रायश्चित्त सूत्र औत्सर्गिक उपधि से सम्बन्धित है। उसमें भी जिसकी गणना या प्रमाण (माप) आगम में उपलब्ध है उसी के उल्लंघन का प्रायश्चित्त इससे समझना चाहिए। शेष का परिमाण एवं प्रायश्चित्त प्रमाणाभाव में परम्परागत समाचारी के अनुसार समझना चाहिए।

औपग्रहिक या अतिरिक्त उपधि के प्रायश्चित्त की विचारणा- आगम निरपेक्ष अतिरिक्त उपधि रखने का गुरू चौमासिक प्रायश्चित्त आता है। कारण बिना या कारण के समाप्त हो जाने पर भी औपग्रहिक उपकरणों को रखने पर गुरू चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। औपग्रहिक उपकरणों को सदा के लिए आवश्यक रूप से रखने की परम्परा चलाने पर उत्सूत्र परुपणा का प्रायश्चित्त आता है और रखने वालों को गुरू चौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः डंडा, कम्बल स्थापनाचार्य आदि किसी भी उपकरण का आग्रह युक्त प्ररूपण करना मिथ्या प्रवर्त्तन समझना चाहिए।

उद्देशक 10 सूत्र 4

प्रकरण-27

गुरु आदि की सूत्रोक्त आशातनाओं में अपवाद-

भाष्य चूर्णि में आशातना के अनेक अपवादों का भी उल्लेख किया है यथा-

1. गुरू बीमार हो तो उनके लिए जो अपथ्य आहार हो वह उन्हें न दिखाना किन्तु स्वयं खा लेना या बिना पूछे अन्य को दे देना।

2. मार्ग में कांटे आदि हटाने के लिए आगे चलना।

3. विषम स्थान में या रुग्ण अवस्था में सहारे के लिये अत्यन्त निकट चलना ।

4. शारीरिक परिचर्या करने के लिए निकट बैठना एवं स्पर्श करना।

5. अपरिणत (अयोग्य) साधु न सुन सके, इसके लिये छेदसूत्र की वाचना के समय निकट बैठना।

6. गृहस्थ का घर निकट हो तो गुरू के आवाज देने पर भी न बोलना अथवा संघर्ष की सम्भावना हो तो भी न बोलना।

7. साधुओं से मार्ग अवरूद्ध हो तो स्थान पर से ही गुरू को उत्तर दे देना ।

8. स्वयं बीमार हो या अन्य बीमार की सेवा में संलग्न हो तो बुलाने पर भी न बोलना।

9. मल विसर्जन करते हुए न बोलना।

10. गुरु से कभी उत्सूत्र प्ररूपणा हो जाये तो विवेक पूर्वक या एकान्त में कह देना।

11. गुरु आदि के संयम में शिथिल हो जाने पर उन्हें संयम में स्थिर करने के लिये कर्कश भाषा का प्रयोग करना।

उक्त आशातना की प्रवृत्ति करने पर भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है क्योंकि इसमें आशातना के भाव न होकर उचित विवेक दृष्टि होती है।

अंतगढ़ सूत्र - (व्यवहार सूत्र)

प्रकरण-28

श्रुत अध्ययन एवं भिक्षु पडिमा-

(पूर्व ज्ञान के बिना एकल विहार)

अंतकृत दशा सूत्र में 88 श्रमण-श्रमणियों के श्रुत अध्ययन का वर्णन है जिसमें ग्यारह अंग को कंठस्थ करने वाले- 66 द्वादश अंग- चौदह पूर्व कंठस्थ करने वाले- 22 हैं। जिसमें ग्यारह अंग कंठस्थ करने वालों की उम्र पांच वर्ष से लेकर अनेक वर्षों की है।

चौदह पूर्व = बारह अंग कंठस्थ करने वालों की उम्र 16 और 20 वर्ष है।

शास्त्र अध्ययन तीन वर्ष के पहले-

व्यवहार सूत्र उद्देशक दश में शास्त्र अध्ययन का दीक्षा पर्याय से वर्णन किया गया है। उसका सही अर्थ है कि सूत्र निर्दिष्ट वर्षों तक तो योग्य साधु-साध्वी को सूत्र कथित शास्त्र का अध्ययन कर ही लेना चाहिए या करा देना चाहिए।

'सूत्र निर्दिष्ट वर्षों के बाद ही उस सूत्र का अध्ययन करना या कराना' ऐसा अर्थ करना केवल मति-भ्रम ही है जिससे अनेक आगम पाठों की संगति भी नहीं होती है और अंतगड़ सूत्र में आये शास्त्र अध्ययन के वर्णन से भी विरोध होता है।

सूत्र का सही अर्थ न करके मतिभ्रम से गलत अर्थ करना और फिर आगम विहारी के समाधान से संतोष करना दोहरी भूल है। वैसा करने से कथानकों का समाधान मान भी लिया जाय तो भी छेद सूत्रों के अनेक विधानों का कुछ भी

समन्वय समाधान नहीं हो सकेगा। अतः इस सूत्र में कहा गया ग्यारह अंग और 14 पूर्व के अध्ययन वर्णन का व्यवहार सूत्र के विधान के सही अर्थ से कोई विरोध नहीं है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन के अनुसार तीन वर्ष की दीक्षा वाला श्रमण-श्रमणी पर्याय-संपन्न होने से मुखिया बनकर विचरण कर सकता है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक तीन के अनुसार जिसके आचारांग निशीथ का अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ है, वैसा साधु मुखिया बन कर विचरण नहीं कर सकता है और उद्देशक चार के अनुसार यदि उनका मुखिया काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो उन्हें चातुर्मास में भी विहार करना आवश्यक हो जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि तीन वर्ष की दीक्षा वाला और आचारांग निशीथ का अध्ययन कर उसे कंठस्थ धारण करने वाला ही मुखिया बनकर विचरण कर सकता है। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि तीन वर्ष की दीक्षा तक कम से कम आचारांग निशीथ का अध्ययन कर लेना चाहिए ऐसा अर्थ करना ही आगमानुकूल है।

व्यवहार सूत्र के तीसरे उद्देशक में तीन वर्ष की दीक्षा वाले को उपाध्याय बनाने का स्पष्ट विधान है। वहां यह भी विधान है कि वह उपाध्याय बनने वाला साधु बहुश्रुत हो और कम से कम आचारांग निशीथ को कंठस्थ अर्थ सहित धारण करने वाला हो। यदि मति भ्रम से किए जाने वाले अर्थ को सही माना जाय तो यह सूत्र विधान निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि उनके अनुसार तो तीन वर्ष के बाद आचारांग निशीथ पढ़ाया जाना चाहिए।

अतः सत्य अर्थ को स्वीकार कर श्रुत अध्ययन की महत्वपूर्ण प्रणाली को विकसित रखना चाहिए।

भिक्षु पड़िमा- इसके लिए परंपरा से ऐसा कथन प्रचलित है कि 9 पूर्व ज्ञान धारण करने वाला ही भिक्षु की बारह पडिमा धारण कर सकता है।

अंतगड सूत्र में वर्णित, अनेक (31) ऐसे श्रमणों ने भिक्षु पडिमा का पालन किया जिन्होंने पूर्वो का ज्ञान हासिल नहीं किया था किंतु उन्होंने केवल ग्यारह अंग शास्त्रों का ही अध्ययन किया था।

किसी भी आगम में ऐसा नहीं कहा गया है कि पूर्वज्ञान धारी ही पडिमा धारण करें किन्तु उससे विपरीत वर्णन तो सूत्र में अवश्य है। अतः प्रचलित परंपरा आगम सम्मत नहीं है और आगम कथित भी नहीं है।

सार- भिक्षु पडिमा के लिए पूर्वो का ज्ञान आवश्यक नहीं है और किसी भी आगम में वैसा उल्लेख है भी नहीं।

भिक्षु की बारह पडिमा में एकल विहार भी आवश्यक है। अतः सामान्य एकल विहार के लिए भी पूर्व ज्ञान का आग्रह स्पष्ट ही आगम विपरीत प्ररूपण है।

तीन वर्ष की दीक्षा के पहले ही आचारांग निशीथ का अध्ययन पूर्ण कर देना चाहिए।

।। छेद सूत्र परिशिष्ट खंड 2 समाप्त ।।

32 अस्वाध्याय का स्पष्टीकरण

दिन में तथा रात्रि में स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी आगमों में जब-जब जहां-जहां स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है उस अस्वाध्यायकाल का ध्यान रखना चाहिए।

निम्न आगमों में अस्वाध्याय स्थानों का वर्णन है-

1. ठाणांग सूत्र अ. 4 में - 4 प्रतिपदाओं और 4 संध्याओं में स्वाध्याय करने निषेध का है।

2. ठाणांग सूत्र अ. 10 में - 10 आकाशीय अस्वाध्याय और 10 औदारिक अस्वाध्याय कहे हैं।

3. निशीथ उद्दे. 19 में - 4 महा महोत्सव 4 प्रतिपदा और 4 संध्या में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित कहा है।

4. व्यव. उ. 7 में- स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने का निषेध किया है।

इन सभी निषेध स्थानों का संग्रह करने से कुल 32 अस्वाध्याय स्थान होते हैं यथा -

आकाश सम्बन्धी	10
औदारिक सम्बन्धी	10
महोत्सव एवं प्रतिपदा सम्बन्धी	8
संध्याकाल आदि से सम्बन्धित	4
कुल	**32**

आकाशीय अस्वाध्याय-

1. उल्कापात- तारे का टूटना अर्थात् तारा विमान का चलित होना, स्थानान्तरित होना। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव के विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य दिखाई देता है। यह कभी लम्बी रेखायुक्त गिरते हुए दिखता है, कभी प्रकाशयुक्त गिरते हुए दिखता है इसे व्यवहार में तारा टूटना कहा जाता है। सामान्यतः आकाश में तारे टूटते प्रायः ही देखे जाते हैं किंतु विशिष्ट प्रकाश करते हुए या प्रकाश रेखा खिंचते हुए तारा टूटे तो ही अस्वाध्याय समझना चाहिए। इसका एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

2. दिग्दाह- स्वाभाविक ही पुद्गल परिणमन से एक या अनेक दिशाओं में आकाश में कोई महानगर के जलने जैसा दृश्य दिखाई दे उसे दिग्दाह समझना चाहिए। यह भूमि से कुछ ऊपर दिखाई देता है। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

1. गर्जन- बादलों की ध्वनि । इसका दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है। किन्तु आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक के वर्षा नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं गिना जाता।

4. विद्युत- बिजली का चमकना । इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है। किंतु उपर्युक्त वर्षा के नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं होता है।

5. निर्घात- दारूण - (घोर) ध्वनि के साथ बिजली का चमकना। इसे बिजली कड़कना या बिजली गिरना भी कहा जाता है। इसका आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

6. यूपक- शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एवं चन्द्र अस्त होने के समय की मिश्र अवस्था को यूपक कहा जाता है। इन तीन दिनों के प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय होता है। इसे बालचन्द्र का अस्वाध्याय भी कहा जाता है।

7. यक्षादीप्त- आकाश में प्रकाशमान पुद्गलों की अनेक आकृतियों का दृष्टिगोचर होना । इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

8. घूमिका- अंधकारयुक्त धुंअर का गिरना। यह जब तक रहे, तब तक इसका अस्वाध्याय काल रहता है।

9. महिका- अंधकार रहित सामान्य धूअर का गिरना। यह जब तक रहे तब तक इसका भी अस्वाध्याय रहता है। इन दोनों अस्वाध्यायों के समय अपकाय की विराधना से बचने के लिए प्रतिलेखन आदि कायिक-वाचिक कार्य भी नहीं किए जाते। इनके होने का समय कार्तिक, मार्गशीर्ष, पोष और माघ मास है। अर्थात् इन गर्भमासों में कभी-कभी, कहीं-कहीं धुंअर या महिका गिरती है। किसी वर्ष किसी क्षेत्र में नहीं भी गिरती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में बादलों के गमनागमन करते रहने के समय भी ऐसा दृश्य होता है। किन्तु उनका स्वभाव धुंअर से भिन्न होता है अतः उनका अस्वाध्याय नहीं होता है। धुंअर से भूमि एवं छत पानी युक्त हो जाते है किंतु बादलों के चलने से नहीं होते

10. रज-उद्घात- आकाश में धूल छा जाना और रज का गिरना । यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होता है। भाष्य में बताया है कि तीन दिन सचित्त रज गिरती रहे तो उसके बाद स्वाध्याय के सिवाय प्रतिलेखन आदि भी नहीं करना चाहिए क्योंकि सर्वत्र सचित्त रज व्याप्त हो जाती है। ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं।

औदारिक अस्वाध्याय-

11-12-13. हड्डी-मांस-खून- तिर्यंच की हड्डी या मांस 60 हाथ और मनुष्य की हड्डी मांस 100 हाथ के भीतर दृष्टिगत हो तो अस्वाध्याय होता है। हडिड्यां जली हुई या धुली हुई हो तो उसका अस्वाध्याय नहीं होता है। अन्यथा उसका 12 प्रहर तक अस्वाध्याय होता है। इसी तरह दांत के लिए भी समझना चाहिए।

खून जहां दृष्टिगोचर हो या गंध आवे तो उसका अस्वाध्याय होता है अन्यथा अस्वाध्याय नहीं होता है। अर्थात् 60 हाथ या 100 हाथ ही मर्यादा इसके लिए नहीं है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के खून का तीन प्रहर और मनुष्य के खून का अहोरात्र तक अस्वाध्याय रहता है। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

उपाश्रय के पास किसी घर में लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन और लड़का हो तो 7 दिन अस्वाध्याय रहता है। इसमें दीवाल से संलग्न सात घर की मर्यादा मानी जाती है। तिर्यंच सम्बन्धी प्रसूति हो तो जरा गिरने के बाद तीन प्रहर तक अस्वाध्याय समझना चाहिए।

14. अशुचि- मनुष्य का मल जब तक सामने दीखता हो या गंध आती हो तब तक वहां अस्वाध्याय समझना चाहिए। तिर्यंच के मल की दुर्गन्ध आती हो तो अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। मनुष्य के मूत्र की जहां दुर्गन्ध आती हो ऐसे मूत्रालय आदि के निकट अस्वाध्याय होता है। जहां पर नगर की नालियां-गटर आदि की दुर्गन्ध आती हो वहां भी अस्वाध्याय होता है। अन्य कोई भी मनुष्य तिर्यंच के शारीरिक पुद्गलों की दुर्गन्ध आती हो तो उसका भी अस्वाध्याय समझना चाहिए।

15. श्मशान- शमशान के निकट चारों तरफ अस्वाध्याय होता है।

16. सूर्यग्रहण- अपूर्ण हो तो 12 प्रहर और पूर्ण हो तो 16 प्रहर तक अस्वाध्याय होता है, सूर्यग्रहण के प्रारम्भ से अस्वाध्याय का प्रारम्भ समझना चाहिए। अथवा जिस दिन हो उस पूरे दिन रात तक अस्वाध्याय होता है, दूसरे दिन अस्वाध्याय नहीं रहता है।

17. चन्द्रग्रहण- अपूर्ण हो तो आठ प्रहर और पूर्ण हो तो 12 प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। यह ग्रहण के प्रारम्भ काल से समझना चाहिए। अथवा उस रात्रि में चन्द्रग्रहण के प्रारम्भ से अगले दिन जब तक चन्द्रोदय न हो तब तक अस्वाध्याय समझना चाहिए। उसके बाद अस्वाध्याय नहीं रहता है।

18. पतन- राजा मन्त्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर उस नगरी में जब तक शोक रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय समझना और उसके राज्य में भी एक अहोरात्र का अस्वाध्याय समझना चाहिए।

19. राज-व्युद्ग्रह- जहां राजाओं का युद्ध चल रहा हो, उस स्थल के निकट या , राजधानी में अस्वाध्याय रहता है। युद्ध के समाप्त होने के बाद एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।

20. औदारिक कलेवर- उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो 100 हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय होता है। तिर्यंच का शरीर हो तो 60 हाथ तक अस्वाध्याय होता है। किन्तु परम्परा से यह मान्यता है कि औदारिक कलेवर जब तक रहे तब तक उस उपाश्रय की सीमा में अस्वाध्याय रहता है। मृत या भग्न अंडे का तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

चार पूर्णिमा- अषाढी, आसोजी, कार्तिकी और चैत्री पूनम ।

चार प्रतिपदा- श्रावण वदी एकम, कार्तिक वदी एकम, मिगसर वदी एकम, वैसाख वदी एकम।

चार संध्या- सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय का लाल दिशा रहे जब तक का समय तथा मध्यान्ह एवं मध्य रात्रि का (12 बजे से 1 बजे तक का) समय । पूर्णिमा और प्रतिपदा को लगातार 48 घन्टे दो दिन का अस्वाध्याय सूर्योदय से सूर्योदय तक रहता है। दिन और रात्रि में 12 बजे से एक बजे तक मध्यान्ह मध्य रात्रि का अस्वाध्याय होता है। सुबह शाम जितने समय लाल दिशा रहे तब तक अस्वाध्याय रहता है। सूर्योदय के पूर्व लगभग 40-50 मिनट लाल दिशा रहती है एवं सूर्योदय के बाद 10-12 मिनट रहती है। सूर्यास्त के पूर्व 10-12 मिनट एवं सूर्यास्त के बाद 40-50 मिनट लगभग लाल दिशा रहती है।

इन सभी अस्वाध्यायों का विवेचन प्रायः भाष्य के आधार से किया गया हैं। अत प्रमाण के लिए देखें - निशीथ भाष्य गा. 6078-6162, व्यव. उ. 7 भाष्य गा. 272-386, अभि. रा. कोष भाग एक पृ. 827 'असज्झाइय' शब्द।

इन 32 प्रकार के अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है और कदाचित किसी देव द्वारा उपद्रव भी हो सकता है तथा ज्ञानाचार की शुद्ध आराधना नहीं होती है अपितु अतिचार का सेवन होता है।

धूमिका, महिका में स्वाध्याय आदि करने से अपकाय की विराधना भी होती है।

औदारिक पुदगल सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विरुद्ध आचरण भी होता है तथा सूत्र का सम्मान भी नहीं रहता है।

युद्ध के समय और राजा की मृत्यु होने पर स्वाध्याय करने से राजा या राज कर्मचारियों को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष उत्पन्न हो सकता है।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग. श. 5, उ. 4 में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एवं कौतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे हैं किन्तु इनकी अनुप्रेक्षा में या भाषांतरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है।

अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्योंकि यह सदा उभयकाल संध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है। अतः ' नमस्कार मन्त्र, 'लोगस्स' आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढे या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या । उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय या मनुष्य के रक्त आदि की जल से शुद्ध करना हो तो स्वाध्याय स्थल से 60 हाथ या 100 हाथ दूर जाकर करना चाहिए।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा बाहर 60 हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार के अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एवं विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्यायकाल प्रतिलेखन करने योग्य भूमि का अर्थात् जहां पर खड़े होने पर सभी दिशाएं एवं आकाश स्पष्ट दिखें ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल का प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर भी साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एवं महान निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है, मर्यादा भंग आदि से कर्मबन्ध होता है, कभी अपयश भी होता है, इसलिए संयम विराधना की एवं प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

-निशीथचूर्णि उद्दे. 16 सूत्र 14

-अभि. रा. को. मा. 1 पृ. 827

अतः स्वाध्याय- प्रिय भिक्षु को इन 32 अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में सदा सावधानी रखनीचाहिए।

नोट– भादवा की पूनम एवं आसोज की एकम की भी अस्वाध्याय मानने की परंपरा है। जो लिपि दोष आदि से बनी भ्रमित परंपरा है जिससे 32+2-34 अस्वाध्याय कही जाती है। इसकी विस्तृत जानकारी के लिये आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित विवेचन युक्त निशीथ सूत्र उद्दे. 16 सू. 11-12 देखें।

******** * ********

आगम सारांश ग्रंथों के लेखक

परिचय

लेखक

वरिष्ठ स्वाध्यायी तत्त्व चिंतक
"जिन शासन रत्न"
श्री विमल कुमार नवलखा

प्रस्तुत 'जैनागम सारांश' (आगम बत्तीसी) को 4 भागों में विभक्त कर अपने आगम कौशल्य से ग्रंथ के रचनाकर तत्त्वचिन्तक आगमों के अध्येता श्री विमल कुमारजी नवलखा का जन्म वि.सं. २०११ के कार्तिक सुदी ५ ज्ञान पंचमी दि. १-११-१९५४ को भीलवाड़ा जिलान्तर्गत आसीन्द तहसील के जगपुरा ग्राम में हुआ।

पुण्योदय से आप अनेकों आचार्य एवं विद्वानों संत मुनिराजों एवं विदुषी साध्वी रत्नों के सम्पर्क में आये। गुरुदेवों के शुभाशीर्वाद से अपनी प्रामाणिकता के बल पर व्यावसायिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होकर परिवार व समाज की सेवा में अग्रसर बनें। आपकी धार्मिक-भावना एवं श्रुत-सेवा की रूचि प्रबल से प्रबलत्तर होती गई।

सन् १९७५ में आप श्री स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा के सक्रिय एवं कर्मठ सदस्य बनें तथा पूरे भारतवर्ष में प्रत्येक राज्य के प्रमुख नगरों में पधारकर पर्युषण पर्वाराधनार्थ सेवाएं प्रदान की। जैन-समाज के लिए अति उपयोगी जैनागमों के हिन्दी सारांश तथा जैन तत्त्व दर्शन के दो खण्ड (भगवती, प्रज्ञापना एवं विविध सुत्तागमों के थोकड़े) तथा अन्तर्मन के मोती (पयुर्षण प्रवचनोपयोगी) जैनागमों में मध्यलोक एवं जैन धर्म में उत्कृष्ट तप संलेखना संथारा, जैनागमों में लोकस्वरूप आदि जैन-धर्म-दर्शन के लिए अप्रतिम देन है। आपकी इस श्रुत-सेवा से सम्पूर्ण जैन समाज गौरवान्वित हुआ है। श्रुत सेवा से प्रभावित होकर दिनांक 7 जनवरी 2024 को जोधपुर में विधायक श्री अतुल जी भंसाली द्वारा "जिनशासन रत्न" की उपाधि से अलंकृत किया है।

श्री विमल कुमारजी नवलखा के पुज्यनीय पिताजी श्रीमान् फतेहलालजी सा. नवलखा एवं मातृश्री श्रीमती उगमदेवीजी नवलखा भी अत्यन्त धर्म परायण, महान् व्यक्तित्व के धनी है। धर्मपत्नि श्रीमती सुशीलादेवीजी नवलखा की सेवा तो अतुल्य है। इन्होंने दो-दो मासखण की तपस्याएं भी की हैं। आज भी कीम पीपोदरा में जैन संतमुनिराजों एवं महासतियांजी की सेवा में अनवरत लगे रहते हैं। समाज की सेवा तो इस परिवार का प्रमुख गुण है। श्री विमलजी नवलखा कई वर्षो से दक्षिण गुजरात राजस्थान स्थानकवासी जैन महासंघ के मंत्री के रूप में समाज सेवा में अग्रसर हैं।

इनके पाँच पुत्र रत्न हैं। श्री विनय कुमार, तरूण कुमार, चेतन प्रकाश, विकास एवं लोकेश ये पाँचों ही सुपुत्र अत्यन्त धर्मानुरागी, निर्व्यसनी, सदाचारी और समस्त सद्गुणों से युक्त चरित्रनिष्ठ सुश्रावक युवा रत्न हैं। साधुसंतों की सेवा, समाज की सेवा तो मानों विरासत से मिले सद्गुण हैं। समाज सेवा में हमेशा अग्रसर रहता यह सम्पूर्ण परिवार वास्तव में समाज के लिए एक उदाहरण है, दृष्टान्त है। श्री विमलजी की दो बहिनें श्रद्धेया शीलप्रभाजी म.सा. एवं श्रद्धेया सत्यप्रभाजी म.सा. आचार्य श्री विजयराजजी म.सा. के सानिध्य में संयम-साधना में निरंतर अग्रसर है।

जिन शासन की सेवा में अग्रसर इस परिवार की पारिवारिक और सामाजिक समृद्धि हमेशा बनी रहे।

इसी आशा के साथ...